ाचीन भारत के राजनैतिक सिद्धान्त

एवं

संस्थाएँ

लेखक :

प्रो० हरिबिलास मिश्र, एम. ए. (इति०), एम. ए. (राजनीति), एल एल. बी.

अध्यक्ष, राजनीति विभाग

डूँगर कॉलेज, बीकानेर।

दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी

जयपुर जोधपुर

१९६२

मूल्य १०)

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

प्राचीन भारत के राजनैतिक सिद्धान्त एवं संस्थाएं

(प्रो० हरिबिलास मिश्र)

प्रथम अध्याय

अध्ययन-क्षेत्र एवं साधन

(Scope and Sources)

प्रस्तावना—आरम्भ में दीर्घ काल तक पाश्चात्य विद्वानों तथा कुछ भारतीय विद्वानों की भीं यह मान्यता रही है कि प्राचीन हिन्दुओं के यहाँ राजनीति गंभीर अध्ययन का विषय ही नहीं रहा। वस्तुतः यह भ्रम था और इसके दो आधार दृष्टिगत होते हैं। पहला, यह कि पूर्व स्थित ईरान साम्राज्य (Persian Empire) के अन्तर्गत कोई सामाजिक या राजनैतिक सिद्धान्त मान्यता प्राप्त नहीं थे और यही विश्वास उनका भारत के प्रति रहा। दूसरा आधार यह है कि पाश्चात्य विद्वान इतिहास एवं राजनीति के अध्ययन के लिए यहाँ नहीं आते थे। उनका मुख्य उद्देश्य संस्कृत का अध्ययन होता था। अतः उनके दृष्टिकोण में ही अन्तर था। इन विद्वानों में मैक्समूलरका नाम सबसे अधिक विख्यात है, परन्तु वे भाषा-विज्ञान (Philology) की ओर अधिक उन्मुख थे। भारतीय ज्ञान के क्षेत्र में इन विद्वानों को निम्न तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) शास्त्रीय संस्कृत साहित्य के अध्येता (Students of classical Sanskrit literature)

(२) धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म के अध्येता (Religion, Philosophy & Metaphysics)

(३) भाषा विज्ञान के अध्येता (Students of Philology)

इन लोगों की यह धारणा रही कि राजनैतिक विषय में भारत वर्ष की कोई प्रमुख देन नहीं है। चाणक्य के अर्थशास्त्र की खोज व उसका प्रकाशन इनकी अनभिज्ञता दूर करने वाली, प्राची के ज्ञान सूर्य से प्रकट होने वाली प्रथम किरण थी। चाणक्य का अर्थशास्त्र प्रामाणिक ग्रन्थ होते हुए भी उसके संबंध में दीर्घकाल तक ऐसी शंकाएँ बनी रहीं कि इसका लेखक चाणक्य ही है यह कैसे सिद्ध हो सकता है, किस समय लिखा गया है आदि। श्रीनरेन्द्र नाथ ला ने अपनी पुस्तक Studies in Ancient Hindu Polity के प्राक्कथन में इस विषय का बहुत सुन्दर विवेचन करते हुए यह सिद्ध किया है कि प्राचीन भारत में भी राजनीति शास्त्र गम्भीर अध्ययन व शोध का विषय था तथा लगभग ३०० वर्ष ई० पू० का लिखा हुआ यह ग्रन्थ है। तत्पश्चात तो इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी प्रकाश में आने लगे और यह निर्विवाद एवं स्वयं सिद्ध हो गया कि भारत वर्ष अन्य क्षेत्रों की भाँति राजनैतिक ज्ञान के क्षेत्र में भी उन्नति के शिखर पर था।

साधन (Sources)—विस्तृत अध्ययन क्षेत्र होते हुए भी साधन कठिनाई से उपलब्ध होते हैं। महाभारत के शांति पर्व में राजधर्म अध्याय इस क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय स्रोत (Cannonial Text) है तथा प्राचीन भारतीय राजनैतिक ज्ञान में रुचि रखने

वाले विद्यार्थी के लिए गंभीर अध्ययन का विषय है। श्री पणीकर के विचार से महाभारत के साथ जो दूसरे सहायक ग्रन्थ हैं उनमें **मनुस्मृति** को प्रथम स्थान दिया जा सकता है। तत्पश्चात् **समस्त पुराण** भी इसी श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। यद्यपि पुराणों में अर्थ शास्त्र के सिद्धान्तों की झलक है, तथापि उनका ज्ञान वास्तविकता पर आधारित प्रतीत होता है। सम्राटों व राजपरिवारों का वर्णन करते हुए यह प्रकट किया गया है कि राजनीति के सिद्धान्तों का कहाँ तक तथा किस प्रकार पालन किया जाता था। **साहित्यिक साधनों** में काव्य, नाटक एवं उपन्यास भी तात्कालिक सामाजिक तथा राजनैतिक सिद्धान्तों तथा उनके पालन का सफल चित्र उपस्थित करते हैं। इन ग्रन्थों में विशेष रूप से राजा, उनके न्यायालय तथा कार्य प्रणाली के गुण तथा दोषों का सुन्दर तथा यथार्थ वर्णन है। कालिदास के कुछ ग्रन्थ प्रत्यक्ष रूप से सम्राटों के जीवन की ही झाँकी उपस्थित करते हैं जैसे शाकुन्तल, रघुवंश मालविकाग्नि मित्र आदि। इनका अध्ययन उस समय की सामान्य राजनैतिक विचारधारा को समझने के लिए अद्वितीय साधन है। कुछ ग्रन्थ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जो विशेष सम्राट व साम्राज्यों के इतिहास के रूप में प्राप्य हैं तथा महत्व पूर्ण है। उदाहरणार्थः—

(१) कल्हण कृत राजतरंगिणी - जो उसके विशद ज्ञान तथा वास्तविक प्रशासनीय अनुभूति के फलस्वरूप रची गई।

(२) मंजु श्री मूल कल्प — यह एक प्रकार से बौद्ध कालीन दृष्टि कोण से लिखित भारतीय इतिहास है।

(३) बाण द्वारा रचित हर्ष चरितसार—यह तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण है।

अन्य प्राचीन ग्रन्थ (Ancient Treatizes)—सर्व प्रथम स्थान कौटिल्य के अर्थ शास्त्र को देने के पश्चात् भी पर्याप्त ऐसे ग्रन्थ हैं, जो महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। शुक्रनीतिसार, कामन्दकीय नीतिसार, पंचतन्त्र, हितोपदेश, राजनीति रत्नाकर, वीर मित्रोदय, कादम्बरी एवं दास बोध आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। डा० काशीप्रसाद जायसवाल का विचार है कि हमारे अध्ययन के साधन मुख्य रूप से ४ भागों में विभाजित किए जा सकते हैं:—

(१) वैदिक अर्थात् वेदों में निहित सामग्री।

(२) शास्त्रीय एवं प्राकृत (Classical & Prakrit)

(३) ऐतिहासिक लेख तथा मुद्रा सम्बन्धी प्रमाण (Inscriptional and numismatic records)

(४) हिन्दू राजनीति पर तकनिक ग्रन्थ (*पारिभाषिक कृतियां*—Technical Treatizes on Hindu Politics)[1]

इस प्रकार आधुनिक काल में प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचार का अध्ययन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध साधन व ग्रन्थों की प्राप्यता ने सुगम तो बना दिया है, तथापि गंभीर शोध की अतीव आवश्यकता अनुभव की जाती है। तत्कालीन अध्ययन के कतिपय

1. Dr. Jayaswal — Hindu Polity

इतने अधिक प्रचारित विषय हैं जिनका पठन पाठन सरलता से किया जा चुका है। प्राचीन हिन्दू गणराज्य, हिन्दू सम्राट, जन-पद-पौर, हिन्दू मन्त्रि मण्डल, न्याय पालिका, कर-सिद्धान्त (Taxation), प्राचीन साम्राज्य प्रणाली, सार्वभौम संस्थाएँ तथा स्थानीय स्वायत्त शासन की इकाइयाँ आदि ऐसे विषयों में मुख्य हैं।

आधुनिक विद्वान वर्ग को, जो इस विषय के प्रमुख लेखक हैं, तीन श्रेणियों में रक्खा जा सकता है। प्रथम वे जो केवल प्राचीन शुद्ध सिद्धान्त में रुचि रखते हैं जैसे श्री भण्डारकर, श्री घोषाल आदि। द्वितीय, वे जो अपनी अपूर्व विद्वत्ता के साथ गहरी कल्पना का समन्वय करते हैं जैसे श्री विनय कुमार सरकार, श्री डा० जायसवाल, श्री डा० अल्टेकर आदि। तृतीय, वे जो राजकीय तथा प्रशासनीय संस्थाओं का प्राप्य प्रमाणों के आधार पर अध्ययन करते हैं जैसे श्री दीक्षीतार, प्रोफेसर बनर्जी तथा डा० बेनी प्रसाद आदि। भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस क्षेत्र में जिस उत्साह से शोध कार्य होना चाहिए था वह गति अभी आना शेष है—जिसके द्वारा हमारा गौरवमय अतीत आधुनिक प्रकाश में विश्व को चमत्कृत करने की क्षमता प्रदर्शित कर सके।

नामावलि (संज्ञा) (Terminology —साधन व क्षेत्र के मार्ग में एक साधारण सी कठिनाई हमारे इस ज्ञान की संज्ञा के विषय में अनुभव की जाती रही है। प्राचीन समय में अनेक नाम प्रचलित रहे हैं जिनमें राजधर्म, राज्य शास्त्र, दण्डनीति, नीतिसार एवं अर्थ-शास्त्र, मुख्य हैं। राजधर्म शब्द का प्रयोग अधिकांश मनुस्मृति में तथा उससे प्रभावित अन्य ग्रन्थों में किया गया है। इस का अर्थ संभवतः "राजा के कर्त्तव्य" से था। राज्य शास्त्र का प्रयोग महाभारत में प्रचुरता से मिलता है। इसका अर्थ राज्य सम्बन्धी ज्ञान का शास्त्र ही समझा जा सकता है। इसी प्रकार दण्डनीति शब्द का प्रयोग भी मनुस्मृति में किया गया है। मनु की यह धारणा थी कि राज्य का आधार 'दण्ड' (Force) है। यदि इस दण्ड का उचित प्रयोग नहीं किया जाय तो मत्स्य-न्याय (Law of the fish or law of the jungle) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दण्ड ही सम्पूर्ण व्यवस्था की आधार शिला है। "जब अन्य सब सुप्तावस्था में होते हैं तो दण्ड जागृत रहता है—नियम स्वयं भी दण्ड का ही स्वरूप है।"[1] दण्ड का प्रयोग विशेषाधिकार युक्त ही होना चाहिए। अर्थशास्त्र में भी यही माना है कि यदि दण्ड का प्रयोग अधिक कठोरता से किया जाता है तो प्रजा को पीड़ा पहुँचती है, और यदि अधिक सरलता से प्रयुक्त हो तो सम्राट का प्रभाव नहीं रहता। यदि उचित ढंग से प्रयुक्त हो तो प्रजा प्रसन्न रहती है और राज्य उन्नत्ति की ओर अग्रसर होता है।[2] यही भाव कामन्दक ने व्यक्त किए हैं कि तीक्ष्ण दण्ड से प्रजा उद्वेजित विरक्त)

(१) दण्डः शक्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधा :॥ [मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक १८]
मनु सप्तम अध्याय –१८ श्लोक से आगे समस्त वर्णन बड़ा रोचक तथा महत्व-पूर्ण है। पृष्ठ २८४)

(२) तीक्ष्णदण्डोहि भूताना मुद्वेजनीयः। मृदुनादण्डः परिभूयते। यथार्ह दण्डः पूज्यः।
(अर्थ शास्त्र से)

हो जाती है, मृदुदण्ड से राजा ही का तिरस्कार होने लगता है, इस कारण से राजा युक्त-दण्ड का विधान करे[1]। नीतिसार शब्द का प्रयोग भी अधिक लोक प्रिय रहा है। भर्तृहरि द्वारा लिखित ग्रन्थ का नाम 'नीति शतक" इसी प्रकार का एक प्रयोग है। डा० अल्टेकर ने अपनी पुस्तक में यह स्पष्ट किया है कि ५ वीं सदी के बाद यह शब्द अत्यधिक प्रचारित रहा इसीलिए शुक्र नीतिसार, कामन्दकीय नीतिसार आदि सामने आए[2]। इतिहास के प्रकाण्ड पण्डित डाक्टर अल्टेकर द्वारा तिथिवार वर्णन, किस समय क्या ग्रन्थ लिखे गए अत्यन्त रुचिकर एवं गंभीर ज्ञान से युक्त है। उन्होंने नीति का अर्थ उचित पथ-प्रदर्शन या संचालन से लिया है[3]। अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से चाणक्य द्वारा रचित ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र'के प्रकाश में आने से ज्ञात हुआ। साधारणतया'अर्थ'का भावसम्पत्ति या धन से होता है और इसीलिए वर्त्तमान समय में Economics को अर्थशास्त्र की संज्ञा दी गई है। परंतु कौटिल्य का मत है कि अर्थ का मतलब क्षेत्र या प्रदेश (Territory) से भी है अतः अर्थशास्त्र का अर्थ है वह शास्त्र, जो प्रादेशिक रक्षा, प्रशासन व्यवस्था आदि विषयों का विवेचन करे। यद्यपि यह प्रयोग प्राकृतिक नहीं प्रतीत होता तथापि चाणक्य द्वारा इसका प्रयोग स्वयं सिद्ध तथा अकाट्य है। इसमें वर्णित अधिकांश विषय राजनीति शास्त्र से संबंधित है इसलिए स्वभावतः यह विचार होता है कि पाश्चात्य देशों में लम्बे समय तक राज्य शास्त्र को (Political Economy) राजनैतिक अर्थ व्यवस्था कहा जाता रहा, यहीं का प्रभाव हो सकता है। दूसरी संभावना यह मानी जा सकती है कि राजनीति शास्त्र की सम्पूर्ण सफलता, सफल अर्थ व्यवस्था पर आधारित रहती है, इसीलिए प्राचीनकाल में इसकी प्राधान्यता के कारण राजनीति शास्त्र को ही अर्थशास्त्र की संज्ञा दे दी गई हो। आज भी यह कहा जाता है कि आर्थिक स्वतन्त्रता रहित राजनैतिक स्वतंत्रता अर्थ हीन है। अतः अर्थशास्त्र का प्रयोग किया गया। वर्त्तमान में यह प्रयोग शुद्ध रूप से (Economics) अर्थ सम्बन्धी ज्ञान के लिए होता है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस ज्ञान की संज्ञा क्रमशः परिवर्तित होती गई—राजधर्म, दण्डनीति और अर्थशास्त्र सर्वाधिक प्रचलित शब्द रहे और इनका महत्व इनके प्रतिपादित ग्रन्थों से घटता व बढ़ता रहा है। पूर्व कथित विचार, कि प्राचीन भारत राजनैतिक ज्ञान शून्य था, पूर्ण रूपेण असत्य एवं आधार हीन सिद्ध करने में हमारी प्राचीन ग्रन्थावली सफलता पूर्वक समर्थ है।

---

(१) उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परि भूयते।
दण्डेन नृपति स्तस्माद्युक्त दण्डः प्रशस्यते। ३७ द्वितोय सर्ग ।। पृष्ठ २२
कामन्दकीय नीति०

(२) Dr. Altekar—State & Government in Ancient India

(३) उपरोक्त—Proper guidance or direction

दण्ड-नीति पर विशद व्याख्या:—कौटिल्य के मतानुसार दण्डनीति अर्थात् ई विज्ञान (Science of Government) चार प्रमुख विज्ञानों में से एक था। तीन विज्ञान इस प्रकार है[1]:—

(१) आन्वीक्षकी (तर्क शास्त्र)

(२) त्रयी (वेदत्रय की विद्या)

(३) वार्ता (कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य)। शुक्रनीति के अनुसार इन चारों विद्याओं में दण्डनीति प्रधान हैं क्योंकि शेष तीन विद्याएँ दण्डनीति पर ही आधारित है। इसलिए दण्डनीति का अर्थ हमें और अधिक स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक हो जाता है। साधारण अर्थ में दण्डनीति का अर्थ है प्रशासन की विद्या व कला। इसी शास्त्र को वाद में अन्य संज्ञाएँ, जैसे अर्थ शास्त्र, राजधर्म, राजनीति और नीति शास्त्र भी दी गई। परन्तु बाद में इन नामों में भेद उत्पन्न हो गया। श्री घोषाल ने अर्थ शास्त्र व दण्डनीति का भेद बहुत ही स्पष्ट लिखा है[2]। उनके मतानुसार दण्डनीति का अर्थ है प्रशासन एवं दण्ड व्यवस्था की कला परन्तु अर्थ शास्त्र का अर्थ है प्रमुख रूप से व्यवस्था। दण्ड का विधान इस रूप में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। परन्तु कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की व्यापक व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि मानवता अर्थ पर आधारित है और अर्थ का मूल आधार भूमि है जहाँ मानव सम्मिलित रूप में निवास करता है। इसी भूमि को प्राप्त करने व सुरक्षित रखने के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। परन्तु अन्य तीन विद्याएँ, आन्वीक्षकी, वेदत्रयी तथा वार्त्ता की उन्नति और विकास उस विद्या पर आधारित है जिसे दण्डनीति कहते हैं। अर्थात् पूर्ण सामाजिक आर्थिक व नैतिक विकास के लिए दण्ड नीति अनिवार्य विद्या है। कौटिल्य तो यह भी कहता है कि सम्पूर्ण विश्व की समृद्धि और उन्नति इस दण्डनीति पर ही आधारित है[3]। कामन्दक के मतानुसार दण्डनीति और वार्ता यह जो दो विद्या हैं यह लोक के प्रधान अर्थ की साधक बृहस्पति के शिष्यों द्वारा प्रचारित की गई है[4]। और दण्डनीति उशनस अर्थात् शुक्राचार्य की विद्या है, इसमें सब विद्याओं का आरम्भ कहा गया है। आन्वीक्षकी से आत्मा का विज्ञान होता है और त्रयी विद्या में धर्म अधर्म की व्यवस्था है, वार्त्ता में अर्थ अनर्थ का ज्ञान व दण्डनीति में नीति अनीति स्थित है।

"दमो दण्ड इति ख्यातस्तात्स्थ्या द्दण्डो महीपतिः।
तस्य नीतिर्दण्डनीतिर्नयनान्नीति रुच्यते ।। १५ ।। (कामन्दक)

अर्थात् दम (संयम) या दमन करने का नाम दण्ड है वह दण्ड शासक (राजा) में स्थित है, उसकी नीति दण्ड नीति है, नयन अर्थात् सम्यक रीति से सुमार्ग में चलाने से इसको नीति कहते हैं। नीति शब्द स्वयं भी 'नी' धातु से उत्पन्न है जिसका अर्थ है नेतृत्व

(१) कामन्दक–पृष्ठ १४.
(२) Goshal–Hnidu Political Theories–Page 78.
(३) अर्थ शास्त्र–चतुर्थ अध्याय–पृष्ठ, ८. (Eng. Edi.)
(४) कामन्दक—पृष्ठ १६, १७.

अर्थात् जो जनता का उचित मार्ग पर नेतृत्व या पथ प्रदर्शन करे। इसी प्रकार मनु के मतानुसार सम्पूर्ण विश्व दण्ड के आधीन है। बिना भय के संसार के व्यवहार पवित्र नहीं रह सकते। दण्ड के भय द्वारा ही विश्व उपभोग के योग्य है। इसलिए राज्य को चाहिए कि दण्डनीति द्वारा अपनी रक्षा करे तथा दूसरी विद्याओं की रक्षा करे।

नीति और दण्डनीति का क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर कुछ विचार किया जा सकता है। शुक्राचार्य के मतानुसार नीतिशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक कल्याण है और विश्व कल्याण या मानव मात्र का हित इसका चरम लक्ष्य है। धर्म अर्थ और काम का मुख्य स्रोत व आधार नीति-शास्त्र ही माना जाता है। इसलिए राजा के लिए नीति शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य माना गया था। इसी शास्त्र के ज्ञान द्वारा, जो सुरक्षा, न्याय व शाँति की स्थापना, सामाजिक कल्याण की व्यवस्था आदि स्थापित करता था, सामाजिक विकास संभव होता था। नीति विहीन राज्य फूटे हुए जहाज की भाँति माना जाता था। नीति के अनुसार चलने वाले राज्य की कीर्ति ग्रंथों में गाई जाती है और स्वेच्छाचारी राजा की निन्दा होती है। इसलिए राजा को नीति का अनुसरण करते हुए स्वयं की, राज्य की तथा मानव मात्र की उन्नति और समृद्धि बढ़ानी चाहिए।

बृहस्पति के अनुसार दण्डनीति वह विद्या है जिसका पालन न करने वाला राजा उसी प्रकार संकट ग्रस्त हो जाता है जैसे अबोध शलभ दीप शिखा पर भस्म हो जाता है। इसलिए भारतवर्ष में दण्डनीति का विशेष स्थान है और हिन्दुओं के चारों वर्णों द्वारा इसका अध्ययन किया जाना चाहिए। इस दण्डनीति का अध्ययन युगानुसार न्यूनाधिक किया जायगा। कृत युग में बुद्धिमान व्यक्ति अधिक संख्या में इसका अध्ययन करेंगे, त्रेता युग में कर्मशील पुरुष, द्वापरमें तांत्रित तथा तिष्य (कलि) युग में सर्व साधारण इसका अध्ययन करेंगे। इसके पश्चात मानव अधार्मिक हो जायगा और दण्डनीति के सिद्धान्त लुप्त हो जायेंगे। मनुस्मृति के अनुसार "दण्ड ही प्रजा का शासन करता है तथा सब की रक्षा करता है। दण्ड ही उस समय जाग्रत रह कर सब की रक्षा करता है जब सब सो जाते हैं इसलिए विद्वान लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं।" इस प्रकार दण्ड राज्य के लिए अनिवार्य तत्व है। दण्ड का चित्र भी इसी लिए ऐसा उपस्थित किया गया है जिसमें श्याम वर्ण, रक्त नेत्र, अधर्मियों के नाश का व्रत तथा निश्छल लोगों की रक्षा का उत्तर दायित्व लेते हुए देवता से तुलना की जा रही है। जहां दण्ड क्रिया शील रहता है वहां जनता को कोई कष्ट नहीं होता। और सम्राट भी अपने पद का पूर्ण उपयोग करता है। दण्ड का भय बड़ा विकट माना गया है। इसके भय के कारण ही देव, असुर, गांधर्व, राक्षस आदि उचित ढंग से अपने कार्य संपादित करते हैं। यहां तक भी माना है कि दण्ड के भय के कारण ही अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, सूर्य प्रकाशित होता है तथा अन्य समस्त ग्रह अपना अपना कार्य करते है। यदि दण्ड नहीं है तो समाज और राज की भी संभावना नहीं हो सकती[1]! इसलिए प्रत्येक कार्य के लिए दण्ड का नेतृत्व अनिवार्य है। दण्ड ही वास्तविक सम्राट,

(१) No Danda, no society, no danda, no state.

वास्तविक नेता तथा वास्तविक रक्षक है। इसलिए राज्य के कर्तव्य, राज्य का [illegible]
तथा राज्य का सामान्य हित ही दण्डनीति कहे जाते थे।

दण्ड की व्याख्या करते हुए कॉटिल्य ने तीन प्रकार के दण्ड माने हैं:—

(१) तीक्ष्ण दण्ड (Cruel) इससे प्रजा उद्वेजित (विरक्त) हो जाती है।

(२) मृदु दण्ड (Mild) इससे राजा का ही तिरस्कार होने लगता है।

(३) यथा विधि दण्ड (Just) इससे राजा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) वृद्धि को प्राप्त होता है। तथा जो अयुक्त शासन करता है देश तो क्या वन के लोगों को भी कुपित करता है [1]।

पुराणों के अनुसार दण्डनीति की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा किया जाना स्वीकार किया जाता है। महाभारत के शांति पूर्व के अनुसार ब्रह्मदेव ने वर्ग (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम) की रचना की जिसमें १ लाख अध्याय के करीब थे। परन्तु उसमें दण्डनीति का कार्य बहुत भारी प्रतीत हुआ इसलिए विशालाक्ष द्वारा केवल दस हजार अध्याय के रूप में संक्षिप्त बनाया गया, फिर इन्द्र ने इसे केवल पांच हजार अध्याय में ही संक्षिप्त बना दिया। फिर बृहस्पति ने ३ हजार तथा उशनाज ने क्रमशः केवल १००० अध्याय में संक्षिप्त बना दिया तत्पश्चात ज्यों ज्यों मनुष्यों की अवस्था छोटी होती गई इस बात की आवश्यकता होने लगी कि दण्ड नीति पर ऐसी पुस्तक हो जो सरलता से इस छोटे से जीवन में पढ़ा व समझी जा सके। और तब से यह दण्डनीति आसान बन गई। इस प्रकार यह दण्डनीति की उत्पत्ति का दैविक सिद्धान्त माना गया है।

मानव के द्वारा दण्डनीति की उत्पत्ति के संबंध में काफी सामग्री प्राप्त है। महाभारत में दण्डनीति का निर्माण आठ ऋषियों द्वारा किया जाना बताया गया है। फिर उन्होंने यह पुस्तक स्वीकृति हेतु भगवान नारायण के समक्ष उपस्थित की जिसे देख वे बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि यह मौलिक कृति बहुत वर्षों तक उपयोग में आयगी। स्वायम्भुव मनु का यही पुस्तक पथ प्रदर्शन करेगी और जिसके द्वारा वह सम्पूर्ण विश्व में धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करेगा। बृहस्पति और शुक्र के लिए भी यह बहुत मूल्यवान सामग्री सिद्ध होगी।

इस प्रकार दण्डनीति शास्त्र प्राचीन भारत का अनुपम विज्ञान था। उत्पत्ति चाहे दैवी हो या मानुषी परन्तु यह एक स्वीकृत उपयोगी ज्ञान था। इसका उद्देश्य विश्व को प्रसन्न व समृद्ध बनाना था। इन्हीं सिद्धान्तों के द्वारा समाज में शांति स्थापित की जाती थी। इसी के भय से समस्त प्राणी वर्ग धर्म को जीवन व्यतीत करते थे और सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था संतुलित रहती थी। दण्डनीति को त्रिवर्ग विद्या भी कहा गया है। अर्थात् धर्म अर्थ काम को प्राप्त कराने वाला ज्ञान। हिन्दू समाज शास्त्र के अनुसार यही त्रिवर्ग विद्या (मोक्ष को छोड़कर) पुरुषार्थ कहलाती है। राजधर्म इन्हीं पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए

---

(१) कामन्दक–पृष्ठ २२ " उद्वेजयति तीक्ष्णेन, म्टदुना परिभूयते।
"दण्डेन न्टपतिस्तस्मांद्युक्त दण्डः प्रशस्यते" ॥३७॥ द्वि. सर्ग ॥

यत्न करता है। दण्डनीति चारों वर्णों के व्यक्तियों के लिए अश्व की लगाम अथवा हाथी के अंकुश की भांति है जो उन्हें धर्म पर आरुढ़ रखती है। इसी के द्वारा हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था, चारों आश्रम आदि की रक्षा की जाती थी। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में दण्डनीति को प्रमुख स्थान दिया गया था। यह कहा जाता है कि "जब राज धर्म निर्जीव हो जाता है तो तीनों वेद लुप्त हो जाते हैं और समस्त धर्म, जो सभ्यता के आधार हैं, चाहे कितने ही विकसित हों, नष्ट हो जाते हैं। जब राज्य के आधार भूत प्राचीन सिद्धान्तों को त्याग दिया जाता है तो सामाजिक जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। समस्त त्याग राजधर्म में ही अनुभव किए जा सकते हैं, सारी दीक्षाएँ राजनीति में ही संभव हैं, सारी विद्याएँ राजधर्म के अन्तर्गत ही प्राप्त की जा सकती है और सारे लोक भी राज धर्म के अन्तर्गत ही प्रविष्ठ होते हैं [१]। अतः दण्डनीति अथवा राज धर्म प्राचीन भारत की अत्यन्त उन्नत तथा प्रमुख चार विद्याओं में से एक थी तथा इसका स्थान बहुत ऊंचा माना गया था। इसलिए प्रारंभ में दिया गया प्रसंग कि पाश्चात्य विद्वान यह समझते रहे कि भारत केवल दार्शनिक विचारों में अग्रणी था, राजनैतिक विचारों से अनभिज्ञ, पूर्णतः निराधार एवं असत्य सिद्ध हो जाता है।

---

(१) मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टा सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु युक्ता।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टा।

म० भा० शा० ६३, २८, २९

"When Politics becomes life less, the triple Veda sinks, all the *dharmas* [i. e. the bases of Civilization] (howsoever) developed, completely decay. When traditional State-Ethics are departed from, all the bases of the divisions of individual life are Shattered.

"In Politics are realized all the forms of renunciation, in Politics are united all the sacraments in Politics are combined all knowledge : in Politics are centred all the worlds."

Mahabharat, Santi. 63, 28, 29,
as quoted by Dr. Jayaswal.

अध्ययन क्षेत्र (Scope of study):—भारत के प्रचीन विचारक राजनीति विज्ञान को बहुत महत्व देते थे। उनका कहना था कि "अन्य सब धर्म राजधर्म के अन्तर्गत होते हैं।" आचार्य शुक्र दण्डनीति या राजनीति शास्त्र को ही एकमात्र विद्या मानते थे। उनकी सम्मति में अन्य समस्त विद्याओं का अस्तित्व और सत्ता राजनैतिक विज्ञान (दण्ड नीति) पर ही आधारित था। आचार्य चाणक्य के अनुसार भी अन्य समस्त विद्याओं के विकास के लिए मानव समाज में जो योगक्षेम चाहिए, वह दण्ड अर्थात् व्यवस्था, शासक-शसित भाव, द्वारा ही प्रस्थापित हो सकता है। अतः दण्डनीति का क्षेत्र स्वतः ही व्यापक और विस्तृत हो जाता था। वर्त्तमान युग की भांति प्राचीन काल में भी राजनीति शास्त्र का क्षेत्र व्यापक था। सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि मानव जीवन के अन्य सभी महत्वपूर्ण पक्षों का व्यवस्थित और विकसित होना राजनीति शास्त्र पर निर्भर करता है। इसलिए सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र प्रभावित रहते थे और राजनीतिक पक्ष पूर्ण रूप से अध्ययन का विषय था। प्राचीन प्रचलित भावनाओं के अनुसार यह मान्यता सर्वथा असंगत है कि तत्कालीन समय में रूढ़ियां प्रधान होती थी और समाज क्रांतिकारी नहीं था। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो यह बहुत स्पष्ट सिद्ध होता है कि हिन्दू समाज और जाति ने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में, राज्य पद्धतियों एवं प्रशासकीय तंत्रों से संबंधित अनेक प्रयोग किए थे और उनका क्रमिक विकास इस बात का प्रमाण है कि ये प्रयोग केवल विशेष काल और परिस्थितियों में ही नहीं किए गए, किन्तु इस दिशा में हिन्दू जाति की, निरन्तर समुन्नत एवं अग्रसर होते रहने की, प्रवृति के कारण, सदैव जागरूक और सचेष्ट रहने का प्रतिफल था। इस रूप में प्राचीन काल में लोक सभाओं का क्रमिक विकास हुआ। निर्वाचन प्रणालियों के प्रयोग हुए। कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के संगठन हुए। राज्यों का स्वरूप सदैव विकासशील रहा जिसमें राजतंत्र, प्रजातंत्र एवं साम्राज्यों की स्थापनाएं हुईं। गणराज्यों एवं संघ राज्यों का प्रयोग हुआ। जनता जनार्दन की मृदु-भावनाओं के अंतर्गत राज्य व्यवस्था चलाने के हेतु जनपद और पौर संस्थाओं का जन्म हुआ। लोकप्रिय तंत्र की स्थापना के लिए मंत्रिमण्डल. मंत्रिपरिषद् और अन्य अनेक प्रकार की उत्तरदायी संस्थाओं का श्रीगणेश हुआ। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता देने के लिए 'कर-सिद्धान्त' निर्धारित किए गए। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का ऐसा स्वरूप उस समय उत्पन्न हुआ जो आज बीसवीं सदी में भी अध्ययन का रोचक विषय है। विदेश नीति एवं कूटनीति के सिद्धान्त उत्तम दृष्टान्तों सहित प्रतिपादित किए गए। तत्कालीन तंत्र के प्रत्येक अंग, जैसे नागरिक, शासक, दूत, व्यापारी, कर्मचारी, जनसेवक तथा मंत्री, सचिव, पुरोहित आदि सब लोगों की योग्यताएं, चरित्र, कर्तव्य तथा नियुक्तियों के लिए लगभग सर्वकालीन सिद्धान्त स्वीकृत किए गए थे। व्यापार के क्या उपयुक्त सिद्धान्त हैं, गुप्त सूचना प्राप्त करने के साधन क्या हो सकते हैं आदि समस्त प्रकार का अध्ययन तत्कालीन राजशास्त्र का विषय था। यही नहीं, मानव के व्यक्तिगत जीवन की छोटी से छोटी बात लेकर राजा और सम्राट के निजी जीवन की दिनचर्या तक, स्थानीय घटना से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की महत्वपूर्ण घटना तक तथा भूतकाल से लेकर भविष्यकाल की संभावनाओं तक राजनीति

शास्त्र का क्षेत्र फैला हुआ था। जिस प्रकार आजकल कुछ विद्वानों की यह धारणा बन गई है कि वर्तमान समय में प्रत्येक राज्य, चाहे किसी भी पद्धति का अनुसरण करता हो, सर्व-ग्राही (Totalitarian State) राज्य होता है और नागरिक के समस्त जीवन की प्रत्येक क्रिया और कार्य पर नियंत्रण रखता है, प्राचीन काल में भी राजनीति शास्त्र वास्तव में व्यापक शास्त्र था। इसका अध्ययन क्षेत्र मानव जीवन पर पूर्ण रूप से व्याप्त था। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना अत्यन्त प्राकृतिक है कि प्राचीन काल में दण्डनीति अथवा राजनीति शास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक था और राज्य की कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका युग युग में अपनी स्थिति के अनुसार मानव के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक आदि लगभग सभी क्षेत्रों में पूर्ण क्रियाशील रही। यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि कुछ अपवादों के अतिरिक्त प्राचीन काल में सम्पूर्ण व्यवस्था का उद्देश्य "सर्वभूतहितेरता" होता था और लोकराज्य की भांति साधारण जनता के कल्याण के लिए शासन यंत्र संचालित होता था। इसलिए अध्ययन क्षेत्र की सीमाएं बहुत विस्तृत एवं व्यापक थीं, यह सत्य है।

राजनीति शास्त्र का क्रमिक विकास—डा. अल्टेकर के मतानुसार राजनीति शास्त्र का व्यवस्थित साहित्य लगभग ५०० ई. पू. से प्राप्त होता है। इससे पूर्व वैदिक साहित्य में यदा कदा कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट प्रसंग अवश्य मिलते हैं किन्तु वह सामग्री बहुत ही अल्प है।[१] किन्तु अथर्ववेद में 'राजा' से संबंधित प्रसंग कुछ अधिक हैं। वैदिक काल के बहुत बाद लगभग ८ वीं शताब्दी से विशेषज्ञता (Specialization) का युग आरंभ होता है और उसी समय राज्यशास्त्र (Politics) का समारंभ मान सकते हैं। फिर भी वास्तविक रूप में इस ज्ञान का प्रकाश "महाभारत" और "अर्थशास्त्र" के द्वारा ही प्रकट होना स्वीकार किया जाता है। "महाभारत" का ग्रंथ यों तो अर्द्ध-ऐतिहासिक एवं अर्द्ध-पौराणिक माना जाता है और उसी के वर्णन के अनुसार "राजशास्त्र" की रचना आरंभ में ब्रह्मा के द्वारा उस समय की गई थी जब अराजकता को दूर करके सामाजिक व्यवस्था स्थापित की थी। उसके बाद शिव, इन्द्र, बृहस्पति तथा शुक्र ने उसे क्रमशः संक्षिप्त बनाया। और अंत में मनु तथा भारद्वाज आदि द्वारा भी "राजधर्म" का संक्षिप्त वर्णन करना उल्लिखित है। मनु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति तथा शुक्रनीति आदि से यह भी प्रकट है कि उस समय लेखक अपना नाम प्रकाशित नहीं करना चाहते थे और अपनी कृतियों को किसी देवता को समर्पित करते हुए कृति की संज्ञा (नाम) निर्धारित करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार के अनेक ग्रंथों का प्रसंग मिलता है जिनमें बृहस्पति, शुक्र, मनु, पाराशर, कनिक, कात्यायन आदि मुख्य हैं। अन्य दूसरे विज्ञानों की भांति, राजनीति शास्त्र के ज्ञान की भी कई शाखाएं थीं और उपरोक्त अनेक ऋषि लोग ही प्रत्येक के संस्थापक माने जाते थे। कुछ लोग मानव सृष्टिकर्त्ता "मनु" को अपना संस्थापक स्वीकार करते थे, कुछ अन्य लोग, देवताओं के गुरू, "बृहस्पति" को तथा शेष अन्य लोग "शुक्र" को संस्थापक मानते थे। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ अपना

१ Dr. Altekar—State & Govt. in Ancient India—Page 4 & 5.

संबंध सिद्ध करने वाले भी विद्यमान थे। ये लोग पर्याप्त मनन के पश्चात् कुछ लिखते थे और उसी के विस्तार का आकार बाद में बृहद् ग्रंथ हो जाता था। इन कृतियों को देवताओं अथवा संस्थापकों के नाम से प्रकाशित करते थे। परन्तु आजकल ये उपलब्ध नहीं हैं। महाभारत तथा अर्थशास्त्र, जो उसी समय की अथवा समीप की कृतियां हैं, उनमें ऐसे ग्रंथों के प्रसंग मिलते हैं। यह भी संभव है कि महाभारत और अर्थशास्त्र जैसी सर्वोत्तम पुस्तकों की रचना के कारण अन्य कृतियां प्रभावहीन होकर नष्ट हो गई हों।

सर्व प्रथम जब किसी विषय का अध्ययन आरंभ होता है तब लेखकों का ध्यान उसकी महत्ता सिद्ध करने की ओर अधिक होता है। वे चाहते हैं कि समाज में उस विषय को प्रतिष्ठा प्राप्त हो। संभवतः राजशास्त्र के संबंध में भी यही धारणा अधिक क्रियाशील रही है। तत्कालीन कई लेखकों ने यह लिखा है कि केवल राजनीति शास्त्र ही अध्ययन योग्य विषय है, राजनीति शास्त्र में सम्पूर्ण ज्ञान निहित है, सर्वोत्तम ज्ञान राज्य विज्ञान है आदि। तत्कालीन राजनीति शास्त्र में, नृपतंत्र, नृप का शिक्षण, आदर्श प्रशासक के गुण, मन्त्रियों की योग्यताएं और कर्तव्य, कूटनीति के सिद्धान्त और साधन, कर-सिद्धान्त, स्थानीय स्वशासन, नियम की धारणा, दण्ड विधान आदि का वर्णन किया जाता था। इस संबंध में **महाभारत** सर्वाधिक महत्व का साधन है। शांतिपर्व में राजधर्म का वर्णन विस्तार से किया गया है। राजधर्म का अर्थ, जैसा हम पहले देख चुके हैं, प्रशासन तथा शासक के कर्त्तव्य से होता है। इसी में राज्य विज्ञान का महत्व तथा विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्त, मंत्रि-परिषद, कर-सिद्धान्त, गृह-प्रशासन के सिद्धान्त, स्थानीय स्वशासन का महत्व आदि विशद रूप में वर्णित हैं। शांति, युद्ध, विदेशी संबंधों के विभिन्न आधार भूत सिद्धान्त, अनेक दृष्टान्त और उपमाओं के द्वारा अत्यन्त रोचक बन गए हैं। अर्थशास्त्र आदि अन्य ग्रंथों की अपेक्षा महाभारत एक पूर्ण एवं समुन्नत कृति प्रतीत होती है। महाभारत का समय सुगमता पूर्वक संक्रमणकाल माना जा सकता है जिसमें "करो या मरो" के सिद्धान्त का प्रभाव प्रतीत होता है। इसलिए महाभारत में अन्य विभिन्न स्थलों पर भी राज्य विज्ञान संबंधी वर्णन मिल जाते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों में संकट-कालीन कूटनीति, मेकेयावलीवाद और आदर्श प्रशासन का भी अच्छा वर्णन है।[१]

कौटिल्य द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' दूसरा प्रमुख स्रोत है। यह ग्रंथ भी पौराणिक है और इसमें जितने विषयों का वर्णन है वह पूर्ण और पर्याप्त है। विशेष रूप से प्रशासकीय व्यवस्था का वर्णन बहुत ही सुन्दर है। राज्य की प्रकृतियां, विभिन्न प्रकार के नियम, राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्त, विदेश नीति के सिद्धान्त (मण्डल सिद्धान्त, आदि) अनेक महत्वपूर्ण विषयों का प्रशस्त वर्णन अर्थशास्त्र में अनूठा है। इस प्रकार राजनीति शास्त्र के प्राचीन ज्ञान का अखण्ड भण्डार इन ग्रंथों में है। डा० अल्टेकर की सम्मति में अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अथवा प्रशासनीय मौलिक सिद्धान्तों की विवेचना का दार्शनिक

---

१ Dr. Altekar—State & Govt. in Ancient India-page 9.

ग्रंथ होने की अपेक्षा, प्रशासक के लिए नियमावलि अधिक है।[1] वास्तव से अर्थशास्त्र में प्रशासन के व्यावहारिक रूप और समस्याओं का ही अधिक वर्णन है। ऐसे ग्रंथों का सचमुच अभाव है जिनमें प्रशासन, राज्य के कर्त्तव्य, शक्तियों आदि का ऐसा विशद विवरण हो।

अर्थशास्त्र का समय (Date of Arthasastra:— अर्थशास्त्र के रचना-काल पर बहुत समय तक लम्बा विवाद चलता रहा है। कुछ प्रमुख भारतीय तथा विदेशी विद्वानों की तो यह मान्यता रही है कि यह कृति, विख्यात सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के सुयोग्य सचिव चाणक्य द्वारा लिखित है। इस श्रेणी में सर्वश्री श्यामा शास्त्री, गणपति शास्त्री, नरेन्द्रनाथ लॉ, स्मिथ, फ्लीट, जायसवाल आदि आते हैं। अन्य दूसरे विद्वानों की धारणा है कि यह कृति बहुत समय बाद ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में लिखी हुई है। इस श्रेणी में सर्वश्री भण्डारकर, कीथ[2], जॉली, विन्टरनीज़ आदि हैं। वास्तविक स्थिति का ज्ञान अभी तक इसलिए दुर्लभ रहा कि बीच बीच में यही कृति संशोधित होती चली गई और विषय और भी गंभीर बन गया। दोनों वर्ग अपनी अपनी मान्यताओं के संबंध में विभिन्न वाद प्रस्तुत करते हैं इसलिए यह उचित है कि हम पहले दोनों पक्षों से परिचित हो जायं।

प्रथम पक्ष के विद्वान पं. श्यामा शास्त्री[3] तथा डा० जायसवाल आदि यह प्रस्तुत करते हैं कि ग्रंथ के अन्त (Colophan) में यह स्पष्ट अंकित है कि इस ग्रंथ की रचना कौटिल्य द्वारा की गई है जिसने देश की नन्द राजाओं से रक्षा की थी। दूसरे, चक्रवर्ती राजा के क्षेत्र का वर्णन करते हुए उसमें लिखा गया है कि हिमालय से लेकर समुद्र तक विस्तृत है। यही तत्कालीन साम्राज्य की वास्तविक सीमाएं थी तीसरे, इस पुस्तक में उन्हीं संस्थाओं एवं संगठनों का वर्णन है जो तत्कालीन सामान्य जीवन में प्रचलित थे। इसलिए विशेष परिस्थितियों का तथा सम्पूर्ण प्रकार की विभिन्नताओं का समावेश करने की आवश्यकता या संभावना नहीं समझी गई थी। चौथी, तत्कालीन समय में तथा बाद में भी

---

१ The "Arthasastra is more a manual for the administrator than a theoritical work on polity discussing the philosophy and fundamental principles of administration or of the political science".

—Dr. Altekar—(State & Govt. in Ancient India page 10.)

२ Dr. A.B. Keith A Joruna1 of the R.A.S; 1916—We cannot yet say, save as a more hypothesis that the Arthasastra represents the work of a writer of 300 B.C. (P. 131) & that it may be assigned to the first century B. C., which its matter very probably is older by good deal than that. P. 137.

३ अर्थशास्त्र की 'पाण्डुलिपि', जिससे श्यामा शास्त्री ने प्रथम संस्करण सन् १९०९ में प्रकाशित किया, तामिल प्रदेश से प्राप्त हुई प्रतीत होती है। डा० ऑपर्ट की संस्कृत पाण्डुलिपियों की ग्रंथ सूची जो दक्षिण भारत के निजी पुस्तकालयों से संबंधित थी, में भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र की पाण्डुलिपि का उल्लेख है जो कुम्भकोनम के नरसिंहाचार्य के अधिकार में था। पं. महादेव शास्त्री, जो मैसूर के पुस्तकालय के अध्यक्ष थे, ने बताया कि अर्थशास्त्र की पाण्डुलिपि कंजीवरम के निकट एक ग्राम निवासी श्री अय्युनी राघवाचार्य से प्राप्त हुई थी (प्रथम प्रकाशन यहीं से शास्त्री द्वारा ही कराया गया था अतः संभवतः डा० ऑपर्ट द्वारा भी इसी कृति का उल्लेख किया गया है)।

बहुत दीर्घ काल तक यह एक स्वीकृत भारतीय परम्परा रही है कि लेखक स्वयं अपने नाम का उल्लेख नहीं करता था। ऐसे अनिवार्य स्थलों पर जहां स्वयं का नाम आवश्यक हो सर्वनाम में प्रथम पुरुष के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग किया जाता था। मैं या हम के स्थान पर उस या वह का प्रयोग क की प्रथा सी थी। इसीलिए कौटिल्य ने भी इसी प्रथा का अनुसरण किया है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य ही थे, इसमें सन्देह का स्थान नहीं है।

दूसरे पक्ष के विद्वानों का यह कथन है कि यह ग्रंथ कौटिल्य द्वारा नहीं लिखा गया। प्रथम, तो इसलिए कि मौर्यकाल में उपस्थित होते हुए भी उसने मौर्यकालीन प्रशासन की सारी विशेषताओं का वर्णन नहीं किया। ऐसी अनेक प्रधान बातें हैं जिनका उल्लेख हमें अन्य स्रोतों जैसे यूनानी आदि में मिलता है और स्वयं कौटिल्य के अपने इस ग्रंथ में वे उपलब्ध नहीं है। दूसरे, विदेशियों के प्रति क्या व्यवहार होना चाहिए था, सिद्धान्त किस प्रकार के थे, उनकी रक्षा का भार राज्य पर था या नहीं, ऐसा महत्वपूर्ण वर्णन अर्थशास्त्र में नहीं है। तीसरे, यह ग्रंथ यदि स्वयं कौटिल्य द्वारा लिखित होता तो वह स्वयं अपने लिए सर्वनाम के उत्तम पुरुष का प्रयोग क्यों करता ? इस प्रकार यह सिद्ध होता है, कि अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य नहीं थे।

डा० अल्टेकर के मतानुसार "कौटिल्य" नाम अच्छा नहीं है; परन्तु केवल इसीलिए हम अर्थशास्त्र की ऐतिहासिकता पर संदेह नहीं कर सकते क्योंकि इसी प्रकार के शुष्क अथवा स्पष्ट नाम उनसे पूर्व भी प्रचारित रहे थे जैसे वातृव्याधि, कोणारदांत आदि[1]। साथ यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह भास के बाद की कृति है क्योंकि अर्थशास्त्र के कई उद्धरण भास की कृति में ज्यों के त्यों उपलब्ध है क्योंकि कौटिल्य ने अपने पूर्व के समस्त स्रोत स्पष्ट रूप से स्वीकार किए हैं और भास उनमें नहीं है। यह कहना कि मेगास्थनीज ने अपने संस्मरणों में कौटिल्य का नाम नहीं लिखा, एक उचित बात हो सकती थी, परन्तु वे भी हमें, पूरे रूप में प्राप्त नहीं हैं। इसी प्रकार पातंजलि द्वारा कौटिल्य का उल्लेख न करना भी इसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि संभव है ऐसा प्रसंग ही न आ पाया हो। अशोक और बिंदुसार का उल्लेख भी तो वहां नहीं है। इसलिए यह बाद भी उपयुक्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत समर्थन में अनेक बातों पर विचार किया जा सकता है। प्रथम, कौटिल्य ने उस समाज का वर्णन किया है जिसमें विधवा पुनर्विवाह, विवाह-विच्छेद, तथा वयस्क विवाह आदि प्रचलित थे और यह अवस्था मौर्यकाल में उपस्थित थी। दूसरे, उस समय बौद्ध धर्मावलम्बियों के प्रति सम्मान का अभाव था और परिवार की उचित व्यवस्था किए बिना साधु बनना अनुचित माना जाता था। ऐसी स्थिति इस बात की द्योतक है कि बुद्ध-धर्म उस समय तक दृढ़ नहीं था। यह भी मौर्यकाल की परिस्थितियों में

१ इसी प्रकार प्राचीन काल में ऐसे अनेक नाम थे जैसे कुत्स (despisedone) जो सप्तऋषियों में से एक हैं, शुनशेफ (Dog's tail), दिवोदश (Time-Server), चर्मसिर Leather-Head) आदि जिनका तात्पर्य शाब्दिक अर्थ के अनुसार लगाया जाय तो अनर्थ हो जाय जो ऊपर इंगितिश में लिखे गए हैं।

आता है। तीसरे, राज्य कर्मचारियों के लिए 'युक्त' शब्द का प्रयोग होता था, यह भी मौर्यकाल की ही बात है। चौथे, कम्भोज, मल्ल, लिच्छवि आदि गणराज्यों का वर्णन अर्थशास्त्र में होना, यह प्रमाणित करता है कि यह पुस्तक प्रारंभिक मौर्यकाल की रचना हैं जब ये गणराज्य पूर्ण विकसित और उन्नत थे। पाँचवें, पाणिनी की व्याकरण का प्रयोग भी कौटिल्य ने नहीं किया, इसलिए यह कहा जा सका है कि उस समय तक यह व्याकरण अधिक लोकप्रिय नहीं हुई थी।[1] इसलिए अर्थशास्त्र का रचना-काल ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी होनी चाहिए, ईसा से पश्चात् चतुर्थ शताब्दी नहीं। छठा, मेगास्थनीज तथा कौटिल्य के बहुत से वर्णन एक रूप में है, जैसे शिकार तथा धार्मिक जुलूस, जुलूसों के समय राजकीय व्यवस्था, सिंचाई की नहर प्रणाली, राजा की दूत प्रणाली आदि। विदेशियों के लिए सुविधा आदि संबंधी नियमों का उल्लेख भी समान रूप से प्राप्त होता हैं।[2] इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में उल्लिखित 'गोप' एवं 'अध्यक्ष' मेगास्थनीज द्वारा वर्णित कर्मचारियों के समान है। इसलिए कौटिल्य और मेगास्थनीज का समकालीन होना प्रमाणित होता है।[3]

उपरोक्त सब प्रकार का वर्णन ध्यान में रखते हुए यदि निर्णय किया जाय तो यह सिद्ध होता है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र पूर्ण रूपेण उसी की कृति सिद्ध करने के मार्ग में कई अभाव हैं जो सन्देह उत्पन्न करने में समर्थ हैं। परन्तु उन अभावों को दोष नहीं कहा जा सकता। अपनी रुचि के अनुसार विषयों का विवेचन सदैव श्रेष्ठ माना गया है। इसलिए एक वर्णन की कमी अथवा एक विषय के संबंध में विविध वर्णन, उनकी रुचि का प्रतीक मान लिया जाना चाहिए। और फिर अर्थशास्त्र की रचना-तिथि एवं लेखक के संबंध में तो अनेक अकाट्य प्रमाण भी उपलब्ध हैं। कौटिल्य विख्यात राजनीतिज्ञ और कुशल प्रशासक ही नहीं था वरन् राजनीति विचारधारा का संस्थापक भी था। इसीलिए उसके बाद के युग में वह बहुत प्रतिष्ठित रहा और उसका ग्रंथ और नाम बहुत महत्वपूर्ण तथा आदर्श रहे। बाण और दण्डिन ने ग्रंथ का अध्ययन राजपुत्रों के लिए प्रस्तावित किया। जैन साहित्य में अर्थशास्त्र को रामायण महाभारत आदि पौराणिक ग्रंथों की श्रेणी में रखा गया और दक्षिण में अच्छे कूटनीतिज्ञ शासकों को विष्णुगुप्त (कौटिल्य) का रूप बताया गया।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'अर्थशास्त्र, वास्तव में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में उपस्थित कौटिल्य द्वारा ही लिखा गया था और यह इतना पूर्ण और प्रशस्त ग्रंथ था कि सदियों तक इसकी बराबरी में कोई अन्य ग्रंथ प्रशस्त नहीं हो सका और वर्त्तमान समय तक यही कृति प्राचीन राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार पर अनुपम ज्ञान प्रदान करती है। संस्कृत में एक "बृहस्पत्य-अर्थशास्त्र" और प्राप्य है; किन्तु यह बहुत बाद के समय की रचना है (लगभग १२ वीं सदी)। तथा इसमें राजनीति शास्त्र संबंधी मौलिकता अथवा विलक्षणता का पूर्ण अभाव है। संभव है किसी साधारण व्यक्ति ने लिखकर, प्राचीन परम्परा के अनुसार 'बृहस्पति' का नाम जोड़ दिया है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' आज भी

---

१ डा० अल्टेकर—State & Govt. in Ancient India. Pages 11-13.

२ अर्थशास्त्र—अनभियोगश्च अर्थेषु आगन्तूनां, अन्यत्र सम्भोपकारिभ्यः। पृष्ठ ६८।

३ Kautilya states that the alphabet consists of sixety three letters :— (अकारादयो वर्णाः त्रिषष्टिः) पृष्ठ ७१.

राजनीतिक व्यवस्था तथा सिद्धान्तों के विषय में अमूल्य एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में रचा गया था।

टिप्पणियाँ

प्राचीन भारत के राजनैतिक सिद्धान्तों एवं संस्थाओं का अध्ययन करने के लिए सम्पूर्ण साधनों को संक्षेप में निम्न बिन्दुओं द्वारा निर्धारित किया जा सकता है जो संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि भाषाओं में उपलब्ध हैं:—

(१) ऋग्वेद और अथर्ववेद के संबंधित प्रसंग।

(२) सतपथ्, आत्रेय, तैतरीय तवा पंचविंश ब्राह्मणों में संबंधित उद्धरण।

(३) धर्मसूत्र तथा स्मृतियां (मनु, नारद, पाराशर आदि)।

(४) पुराण और उपनिषद (पुराण अधिकांश स्मृतियों के विचारों को संक्षित बनाकर वर्णन करते हैं, अत: अधिक महत्वपूर्ण नहीं है)।

(५) नीति ग्रंथ [शुक्रनीति सार (कौटिल्य के बाद की महत्वपूर्ण कृति), कामन्दकीय नीतिसार (लगभग ४०० वर्ष ईस्वी पश्चात् गुप्तकाल में रचित), नीति वाक्यामृत (लगभग ६६० वर्ष ईस्वी पश्चात् सोमदेव सुरी, जैन लेखक द्वारा) अभिलाष हितार्थ चिन्तामणि (सोमेश्वरकृत), युक्ति-कल्पद्रुम (भोज, सन् १०१५ ई०), राजनीति कल्पद्रुम (लक्ष्मीधर सन् ११२५ ई.), राजनीतिकाण्ड (देवन भट्ट, सन् १३०० ई. में) राजनीति रत्नाकर (चन्देश्वर, सन् १३२५ ई.), नीति मयूख (नीलकण्ठ, सन् १६२५ ई.), राजनीति प्रकाश (मित्र मिश्र,सन् १६५० ई.) आदि।]

(६) प्रस्तर लेख तथा ताम्रपत्र (ताम्र लेख)। (Epigraphic records)

(७) यूनानी तथा अन्य विदेशी यात्री एवं इतिहासकारों के लेख एवं संस्मरण।

(८) मुद्रा विज्ञान (Numismatics or the science of coins)।

(९) अन्य साहित्यिक सामग्री (रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, पंचतंत्र, हितोपदेश, कादम्बरी, हर्षचरितसार, दशकुमारचरित, राजतरंगिणी, अचरंग सूत्र, दीघनिकाय, चुल्लवग्ग, दिव्यावधान, जातक ग्रंथ आदि)

कौटिल्य का विशेष परिचय—भारतीय परम्पराओं में कौटिल्य एक नहीं अनेक नामों से विख्यात है जिनमें से कुछ नाम अधिक लोकप्रिय हैं और कुछ नाम साहित्य में विशेष प्रयोग में आए हैं। जैन-साधु हेमचन्द्र कृत (सन् १०८८–११७२ ई.) "अभिधान चिंतामणि" में निम्न पंक्तियां कौटिल्य के विभिन्न प्रचचित नामों की सूची का परिचय देती हैं :—

वात्स्यायनेमल्लनाग: कौटिल्य चणकात्मजः।

द्रामिलः पक्षिलस्स्वामी विष्णुगुप्तो गुलश्च सः ।। (पृष्ठ ३४, पंक्ति ८५३ व ८५४)

इसी प्रकार यादव प्रकाश (सन् ११०० ईस्वी) कृत "वैजयन्ती" में निम्न पंक्तियां हैं:—

वात्स्यायनस्तु कौटिल्यो विष्णुगुप्तो वराणकः।

द्रामिल: पक्षिलस्स्वामी मल्लनागोऽङ्गुलोऽपिच। (पृष्ठ ९६)

इन विभिन्न नामों के प्रचलित होने के साथ ही प्रत्येक नाम की कुछ अंतर्कथाएं भी प्रचलित हैं जो प्राचीन साहित्य में मिलती हैं। उनमें से कुछ का वर्णन रुचिकर होने के कारण यहां करते हैं। 'चाणक्य' नाम के संबंध में विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस की 'पूर्व पीठिका' में यह व्याख्या की गई है कि 'विष्णुगुप्त' अर्थात् कौटिल्य अपने माता-पिता के साथ नन्द राजाओं द्वारा एक कोठरी में बंदी बना दिए गए थे और वहां भोजन के लिए उन्हें केवल 'चणक' (चने) दिए गए, इसलिए इसका नाम चाणक्य प्रचलित हो गया। एक दूसरे प्रसंगानुसार डा० राजेन्द्रलाल मित्रा ने यह लिखा है कि कौटिल्य, चणक का पुत्र था, इसलिए चाणक्य नाम से पुकारा गया। इस प्रकार यह नाम पिता के नाम से लिया गया है।[१]

कौटिल्य नाम का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जाता है। कुछ लोग 'कुटिल' (Crooked) शब्द से कौटिल्य का संबंध जोड़ते हैं,[२] परंतु यह उपयुक्त नहीं है। यदि कुटिल शब्द से कौटिल्य का नाम लिया जाता तो स्वयं कौटिल्य इस शब्द का अधिक प्रयोग नहीं करता। मुद्राराक्षस में "कौटिल्यः कुटिलमतिः स एवयेन क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्द वंशः ॥[३] कहा गया है किन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता। स्वयं कौटिल्य ने 'इति कौटिल्यः" तथा 'नेति कौटिल्यः' का प्रयोग अर्थशास्त्र में अनेक बार किया है। एक विचार यह भी है कि से कुछ शब्द जैसे 'वहुल' से 'वाहुल्य', 'प्रवल' से 'प्रावल्य' बनते हैं उसी प्रकार 'कोटि' से कौटिल्य बना हो जिसका अर्थ था उच्च कोटि का व्यक्ति, जिसमें कोटि के गुणों का भंडार था। यह उसके शेष जीवन के वृत्तान्त से पूर्ण रूपेण सिद्ध भी होता है। प्राचीन उक्ति 'यथा नाम तथा गुणाः' के अनुसार यह संभव है कि यह नाम उसे बाद में ही मिला हो; किन्तु इसका अर्थ (Derogatory) हीन भावना युक्त नहीं हो सकता। जिसने नीति का प्रयोग कर साम्राज्य बदल दिए और शासन व्यवस्था आदर्श रूप में सम्पादित की वह "कौटिल्य" अर्थात् "कोटि का व्यक्ति", श्रेष्ठ व्यक्ति कहा जा सकता था।

पक्षिलस्वामी भी कौटिल्य को कहा गया है। प्रखर बुद्धि वाला अध्येता होने के कारण, एक बार श्रवण किया हुआ ज्ञान एक पक्ष तक स्मरण रखता था इसलिए "पक्षिल स्वामी" कहा गया था। 'द्रामिल' उसे इसलिए कहा गया कि वह द्रामिल अर्थात् तामिल प्रदेश का निवासी था।[४] अतः इस प्रकार उसके समस्त नाम सार्थक थे और उनका चाणक्य के किसी महत्वपूर्ण गुण की ओर संकेत होता था। प्रसिद्ध 'काम-सूत्र' का रचयिता तथा गौतम के न्यायसूत्र की प्राचीनतम मीमांसा का लेखक वात्सायन भी यही कौटिल्य था।

अर्थशास्त्र में कुछ प्रमुख प्रसंग ऐसे हैं जिनका उसके जीवन से स्पष्ट संबंध सिद्ध होता है। निम्न उद्धरण इसी श्रेणी के हैं:—

---

१ Dr Rajendra lal Mitra–Jaurnal of the Bengal Asiatic Society–Vol.52(1883) P. 268.

२ मुद्राराक्षक-पृष्ठ ६१।

३ Dr. Keith–Suggests that the name Kautilya is suspicious for it means falsehood, and that "that it seems a curious name for him to bear in his own work."

४ तारनाथ—"वाचस्पत्य" तथा डा० मित्रा (उपरोक्त) पृष्ठ २६८।

(१) सर्व शास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्यच ।

कौटिल्येननरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः। (पृष्ठ ७५) अर्थात् शासन की विभिन्न विधियाँ जो नरेशों के लिए आवश्यक थीं, समस्त शास्त्रानुसार तथा प्रयोग क्रम (रीति रिवाजों के अनुसार) के अनुसार उपलब्ध बनादीं ।

(२) येन शास्त्रंच शस्त्रं च नंदराज गता च भूः ।

अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्र मिदं कृत्रम ॥ (पृष्ठ ४२९) अर्थात् यह कृति उस व्यक्ति की रचना है जिसने बलपूर्वक ज्ञान, सैनिक शक्ति तथा नन्द राजाओं द्वारा शासित भूमि शीघ्रता से प्राप्त करली थी । आदि ।

अर्थशास्त्र की एतिहासिकता के कुछ अन्य प्रमाण विभिन्न कृतियों में उपलब्ध प्रसंगों के रूप में प्राप्त होते हैं । दण्डिन का 'दशकुमारचरित' (पृष्ठ ५१-५) तथा बाण की 'कादम्बरी' (पृष्ठ १०९) बहुत उपयोगी प्रसंग हैं । पंचतंत्र में कौटिल्य से संबंधित कम से कम तीन चार स्पष्ट प्रसंग उपलब्ध हैं । सातवीं या आठवीं शताब्दी में मेधातिथि कृत "मनु स्मृति" की मीमांसा में कौटिल्य का प्रसंग है (पृष्ठ ७७४) । इसी प्रकार क्षीरस्वामी द्वारा लिखित "टीका सर्वस्व" दिनकर मिश्र द्वारा लिखित 'रघुवंश' (कालीदास कृत) की मीमांसा, चरित्रवर्द्धन द्वारा लिखित 'रघुवंश' की मीमांसा, मल्लिनाथ कृत 'रघुवंश की मीमांसा, 'कुमार संभव' पर गणपति शास्त्री द्वारा प्रकाशित मीमांसा, जीमूतवाहन कृत "व्यवहार-मात्रिका" आदि सभी ग्रंथों में कौटिल्य संबंधी बहुत उपयोगी प्रसंग हैं,[१] किन्तु पुस्तक विस्तार के भय से यहां उद्धृत करना संभव नहीं है । अतः ऐसी अनन्य कृति वास्तव में उसी कौटिल्य द्वारा लिखी हुई है जिसने नन्द वंशियों का नाश किया तथा मौर्यवंश को स्थापित किया ।

कौटिल्य एवं मेकेयावली—पूर्व में कौटिल्य और पश्चिम में मेकेयावली क्रमशः प्राचीन भारतीय राजनैतिक सिद्धान्त एवं आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्तों के प्रमुख प्रवर्त्तक माने जाते हैं । मेकेयावली द्वारा लिखित राजकुमार (Prince) में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं वे कौटिल्य द्वारा स्थापित अर्थशास्त्र में वर्णित सिद्धान्तों से पर्याप्त रूप में मिलते हैं । मेकेयावली के आदर्श राजकुमार (Ideal Prince की अर्हताएं प्रमुख रूप से वही हैं जो कौटिल्य एक शासक के लिए वांछनीय समझता था । इस प्रकार दोनों सहमत हैं कि शासक का प्रथम कर्त्तव्य राज्य की सुरक्षा है । शासक को उन सब व्यसन एवं बुराइयों से बचना चाहिए जो कभी प्रशासन को क्षति पहुँचा सकें । शासक को सिंह और लोमड़ी दोनों होना चाहिए । शासक को वास्तव में न हो तो भी दयालु, स्वामिभक्त एवं धार्मिक प्रतीत होना चाहिए । उसे अपनी प्रजा के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों में अनावश्यक रूप में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, क्योंकि मानव उसके पिता की हत्या को तो फिर भी शीघ्र ही क्षमा कर देगा किन्तु पैतृक-सम्पत्ति की हानि को कभी नहीं भूलेगा । शासक को किसी में अतिशय विश्वास रखकर निश्चिंत नहीं बन जाना चाहिए और न अतिशय संदेह द्वारा शासन को

---

१ Sir Subrahmanya Aiyar Lecture, 1914—Some Aspects of Ancient Indian polity:—(इस पुस्तक के परिशिष्ट (Appendix) यह सम्पूर्ण वर्णन बहुत विद्वत्तापूर्ण ढंग से दिया गया है जो विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है)

कठोर बना देना चाहिए। जहां देश की सुरक्षा का प्रश्न हो, वहां न्याय, दया, वैभव या अन्य भावनाओं को महत्व नहीं देना चाहिए। परन्तु दोनों में प्रधान अन्तर यह है कि कौटिल्य भी ,मेकेयावली की भांति राजधर्म (दण्डनीति) को नीतिशास्त्र और धर्म से अलग समझता है और पृथक ज्ञान के रूप में व्याख्या करता है, किन्तु फिर भी विश्व की स्थायी नैतिक-व्यवस्था में कौटिल्य का दृढ़ विश्वास है। संभवतः इसकी रक्षा करना वह शासक का कर्त्तव्य स्वीकार करता है। संकटकालीन स्थिति में अवश्य वह राजधर्म की प्रधानता स्वीकार करता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के वर्तमान नवीन संविधान में भी राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार कौटिल्य के मान्यताओं के अनुसार ही प्रतीत होते हैं और साधारण स्थिति में वही नीति और धर्म के स्वतंत्रताओं के साथ दण्ड-नीति का प्रयोग होता रहेगा। इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन सिद्धान्तों का नवीन युग में सुन्दर समन्वय उपस्थित होता है।

दूसरा अध्याय

राज्य का स्वरूप

(Conception of State)

प्रस्तावना—डा० भण्डारकर ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भाषण-क्रम में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए पूर्वकथित विचार की पुष्टि की थी कि यदि भारत में कोई राजनैतिक सिद्धान्त और विचार नहीं थे तब तो प्राचीन राज्य के स्वरूप पर कुछ कहने का प्रश्न हो उपस्थित नहीं होता।[१] परन्तु वर्तमान समय में अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, मनुस्मृति, शुक्र-नीतिसार तथा महाभारत आदि ग्रंथ राजनैतिक विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

व्याख्या—राज्य के संबंध में सप्तांग-सिद्धान्त (Doctrine of seven limbs) बहुत प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के सात अंग या प्रकृति अथवा भाग होते हैं। वे इस क्रम से हैं:—

(१) स्वामी (Sovereign) (२) आमात्य (Minister) (३) राष्ट्र या जनपद (Territory) (४) कोष (Finance or Treasury) (५) दुर्ग (Fortress) (६) बल (Army) (७) मित्र (Ally)।

इन सात अंगों द्वारा राज्य का निर्माण माना जाता है। कामन्दक ने अपने चतुर्थ सर्ग के प्रथम श्लोक में ही इसका वर्णन किया है—

"स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्तांगं राज्य मुच्यते॥१॥अर्थात् स्वामी, मंत्री, राज्य (भूभाग), दुर्ग, कोष, सेना एवं मित्रवर्ग यह परस्पर उपकारी होने से राज्य के सात अंग कहे जाते हैं। एक अंग के भी विकल होने से राज्य में गड़बड़ होती है इसलिए राजा को परीक्षा पूर्वक इनकी सम्पूर्णता रखना उचित है।[२] इन तत्वों को राज्य की प्रकृति के रूप में वर्णित किया गया है। परंतु इसका अर्थ यहां स्वभाव (Nature) से नहीं लिया जा सकता। वास्तविक अर्थ राज्य के स्वाभाविक तत्व के रूप में लिया जा सकता है, जो उचित है। यह शंका भी की जा सकती है कि राज्य का अर्थ राजधानी, सरकार या प्रदेश कुछ भी हो सकता है। परंतु यहां राज्य के अतिरिक्त कोई अर्थ उपयुक्त नहीं है क्योंकि उपर्युक्त सातों अंग और किसी भी तरह की अन्य मान्यता के साथ संबंधित नहीं हो सकते।

अर्थशास्त्र तथा कामन्दकीय नीतिसार में उपर्युक्त समस्त तत्वों का विपद, विस्तृत तथा रुचिकर वर्णन मिलता है। अपने अध्ययन के लिए इन तत्वों का अर्थ तथा महत्व समझ लेना पर्याप्त होगा।

---

१ Some aspects of Ancient Indian Polity—D. R. Bhandarkar (B.H.U. 1929)
२ कामन्दकीय नीतिसार, श्लोक २, पृष्ठ ३२,

(१) स्वामी—इसका अर्थ सार्वभौम तथा सर्वेसर्वा से लिया जाता है। यह एक या अनेक भी हो सकते हैं। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने साधारणतः एकतंत्र (Monarchy या राजतंत्र) ही राज्य का सामान्य रूप माना है। राज्य के एक से अधिक स्वामी की धारणा को प्रियकर नहीं माना गया है। स्वामी के लिए चार मुख्य अर्हताएं (Qualifications) आवश्यक समझी जाती थी[1]:—

(अ) अभिगमिका (Inviting nature)—स्वभाव से आकर्षक होना तथा जनता को अपना मार्ग अनुसरण करने तथा सम्पर्क पाने के लिए प्रेरित करने की क्षमता होना।

(आ) प्रज्ञा (Understanding)—सामान्य बुद्धि तथा साधारणतः प्रत्येक स्थिति को शीघ्र समझ लेने की समर्थता।

(इ) उत्साह (Energy)—व्यक्तिगत रूप से शारीरिक, मानसिक शक्ति सम्पन्नता।

(ई आत्म संपद (Self possession)—चरित्र तथा साहस का अद्वितीय आदर्श।

इसी के साथ स्वामी के गुणों या तत्वों (attributes) पर भी प्रकाश डाला गया है। स्वामी में तीन मुख्य गुण आवश्यक हैं:—

(अ) शक्य सामन्त—जो अपने पड़ोसियों पर नियंत्रण करने में समर्थ हो।

(आ) अक्षुद्र परिशतक—जिसके परामर्श के लिए विख्यात मंत्रियों की सभा हो।

(इ) दीर्घदर्शी—उचित समय व अवसर को दीर्घकाल पूर्व जानने वाला। कामन्दक ने ये तीन गुण त्याग, सत्य बोलना और शूरता बताए हैं। इनसे युक्त राजा सम्पूर्ण गुणों को प्राप्त होता है।[2] उस समय स्वामी एक कुशल, कुलीन व समर्थ शासक होता था। केवल साधारण सामन्त या राज्याध्यक्ष की कल्पना नहीं थी वरन् वास्तविक सार्वभौम तथा सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न व्यक्ति ही स्वामी माना जाता था।

(२) आमात्य—साधारणतया इसका तात्पर्य मंत्री से होता है। अर्थशास्त्र में आमात्य का अर्थ है राज्य की सेवा में कोई भी उच्च अधिकारी। इसीलिए कौटिल्य ने आदर्श आमात्य के लिए केवल दो गुणों की आवश्यकता स्वीकार की है—१. जनपद अर्थात् राज्य का स्थायी निवासी हो और २. दृढ़भक्ति अर्थात् कर्त्तव्यपरायणता में पूर्ण विश्वास तथा आचरण करता हो। कामन्दक ने मंत्रियों के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि स्मृति अर्थात् कर्त्तव्य कर्मों का स्मरण रखना, योग्यता से धनादि

---

१. दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचिता स्थूल लक्ष्यता।
विनीतता धार्मिकता गुणाः साध्याभिगामिकाः ।।८।। [कामन्दकीय नीतिसार पृष्ठ ३३]
अर्थात्—दीर्घदर्शी होना, उत्साह, पवित्र रहना, स्थूलता से ही लक्ष्य को जान लेना, विनय सम्पन्न होना, धर्मात्मा होना, साध्य वस्तु के सिद्ध करने के गुण रखना—इन गुणों से युक्त स्वामी लोकप्रिय होता है।

२. त्यागः सत्यश्च शौर्य्यश्च त्रय एते महागुणाः।
प्राप्नोति हि गुणान्सर्वा नेतैर्युक्तो नराधिपाः ।।२४।। [कामन्दक—पृष्ठ ३६[

उपार्जन करने में तत्परता, तर्क रहितता, ज्ञान में निश्चय, दृढ़ता और मंत्र का गुप्त रखना यह मंत्री की सम्पद है।[1] वास्तव में ये गुण राज्य के प्रत्येक उच्च अधिकारी के लिए भी आवश्यक हैं।

(३) जनपद—राष्ट्र या देश इस तत्व के सम्बन्ध में कौटिल्य ने बहुत विस्तार में वर्णन किया है। जनपद की विशेषताओं (Character.stics) में यह जरूरी है कि वह पंक, चट्टान, असम, कण्टक तथा जंगली जानवरों आदि से रहित हो और उर्वरा भूमि, भवन निर्माण योग्य काष्ठ (Timber) तथा हस्तियों से युक्त (भू-प्रदेश) हो। फिर जनपद के संबंध में चार आवश्यक बातें लिखी हैं:—

अ—शत्रुद्वेषी—शत्रु से द्वेष करने वाला

आ—शक्य सामन्त—अपने पड़ोसियों पर नियन्त्रण करने में समर्थ।

इ—कर्मशील कृषक—कृषि करने योग्य व्यक्तियों द्वारा निवासित हो।

ई—भक्त शुचि मनुष्य—पवित्र व कर्त्तव्य परायण जनता से युक्त हो।

उपर्युक्त तत्त्वों के संबंध के विस्तृत वर्णन से यह शंका स्वाभाविक है कि जनपद या राष्ट्र का अर्थ भू-भाग (Territory) से है अथवा जनसंख्या (Population) से है अथवा दोनों से। पहली विशेषताएँ तो निश्चित रूप से भू-भाग में ही हो सकती हैं परंतु दूसरी आवश्यक बातें निवासियो के चरित्र एवं व्यवहार के प्रति अपेक्षाएँ (Expectations) हैं। इस संबंध में विद्वानों के मत भिन्न हैं। साधारण विचार से जनपद का शाब्दिक अर्थ इसका सरल उत्तर देता है। जन अर्थात् मनुष्य या नागरिक जिनके चार गुण आवश्यक बताए गए हैं और पद अर्थात स्थान या भू-भाग जिसके लिए यह अपेक्षा की गई है कि वह कीचड़, पत्थर, कण्टक आदि रुकावटों से रहित तथा उर्वरा भूमि आदि से युक्त हो—इस प्रकार जनपद का अर्थ, जनता व भू-भाग दोनों का सम्मिलित होना सिद्ध होता है। कामन्दक ने अन्न, खनिज, उर्वरा भूमि आदि से युक्त; कंकर पत्थर, सर्प आदि से रहित तथा शिल्पी, चित्रकार, वणिक आदि से सम्पन्न जनपद की अपेक्षा की है।[2]

४. दुर्ग—सम्राट के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने राज्य सीमाओं पर चारों दिशाओं में ऐसे दुर्गों का निर्माण कराए जो युद्ध उपयुक्त हो। कौटिल्य दुर्गों का वर्गीकरण चार प्रमुख श्रेणियों में करता है:—

(i) जल दुर्ग (Water Fort) (ii) पर्वत दुर्ग (Hill Fort) (iii) मरुस्थलीय दुर्ग (Desert Fort) (iv) वन्य दुर्ग (Forest Fort)। पिछले दोनों प्रकार के दुर्गों को अतावी दुर्ग (Wild Fort) माना जाता था तथा इनकी गणना अच्छे दुर्गों में होती थी। जल दुर्ग को भी अच्छा तथा पर्वत दुर्ग को श्रेष्ठ माना जाता था। दुर्ग बनाने के लिए स्थान का चुनाव, खाइयों की व्यवस्था, पानी का स्थायी प्रबन्ध, ऊंची मीनारें, दीवारें आदि के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। कुछ विद्वानों ने दुर्ग के

१. स्मृतिस्तत्परतार्थेषु वितर्को ज्ञान निश्चयः।
दृढ़ भक्तिरकर्त्ता च वैराणां सचितो भवेत् ॥२०॥ [कामन्दक पृष्ठ ३७]

२. कामन्दक (५१ से लेकर ५५ तक के श्लोक का सारांश) पृष्ठ ४१

स्थान पर 'पुर' शब्द का भी प्रयोग किया है परन्तु इनका अर्थ समान ही है। मनु ने राज्य के सप्तांग सिद्धान्त में दुर्ग के स्थान पर 'पुर' का ही प्रयोग किया है। कामन्दक ने लिखा है कि विशाल सीमा वाला, गहरी खाई, ऊँची बाहर दीवारो तथा छज्जों से सम्पन्न पुर के समीप, पर्वत नदी और घने वन के समीप, जल, धन-धान्य से भरा पूरा, समय को सहने वाला बड़ा दृढ़ दुर्ग राजा को बनाना चाहिए। दुर्ग रहित राजा पवन से प्रेरित मेघों के टुकड़ों के समान छिन्न-भिन्न हो जाता है।[1]

५ कोष—कौटिल्य के मतानुसार श्रेष्ठ कोष वह हो सकता है जो स्वर्ण, रजत, स्वर्ण मुद्राओं एवं रत्नों से सम्पन्न हो। परिपूर्ण कोष की सहायता वास्तव में दीर्घ तथा कठिन आपत्तियों का सामना करने के लिए होती है। ये आपत्तियां आठ प्रकार की मानी जाती हैं। (१) अग्नि, (२) बाढ़, (३) अकाल, (४) चूहे, (५) महामारी, (६) राक्षस आदि। सम्पत्ति का उपार्जन भी पवित्रता तथा सचाई से किया जाना चाहिए। सम्पत्ति संग्रह के कई साधन होते थे। मुख्य ये हैं:—

(१) प्रचार समृद्धि (Opulence of Industry Department run by the State)-राज्य द्वारा संचालित उद्योग की आय।

(२) शस्य सम्पत (Abundance of harvest)-अच्छी उपज।

(३) पन्य बाहुल्य (Prospreity of Commerce)-व्यापार-समृद्धि।

उपरोक्त तीनों साधनों को कौटिल्य ने 'वार्ता' की संज्ञा दी है। उसका विश्वास था कि कोष व सेना वास्तव में वार्ता पर ही आधारित होती है। सम्पन्न कोष की आवश्यकता राज्य प्रशासन एवं दृढ़ सुरक्षा के लिए होती है। रिक्त कोष राजा के लिए कठिन समस्या तथा पूर्ण कोष वरदान माना जाता है। यह स्थिति आज भी सत्य है।

६. बल—सेना (Army) का महत्त्व राज्य की स्थापना तथा अस्तित्व के लिए सदा से महत्त्वपूर्ण रहा है। आंतरीय प्रशासन एवं वाह्य शत्रुओं के दमन के लिए सुदृढ़ एवं संगठित सेना अनिवार्य है। कौटिल्य ने इसे राज्य का छटवाँ तत्त्व माना है। सेना का वर्णन करते हुए उसने ६ प्रकार के सैनिक संगठन बताए हैं:—

(१) मूल (Hereditary Forces)
(२) भृतक (Hired Troops)
(३) श्रेणी (Soldiers of fighting corporations)
(४) मित्र सेना (Troops belonging to an ally)
(५) शत्रु सेना (Troops belonging to an enemy)
(६) अतावी-बल (Soldiers of wild Tribes)

वर्णाश्रम के आधार पर भी सेनाओं की विशेषता का वर्णन किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चारों वर्णों की सेनाओं में श्रेष्ठ सेना ब्राह्मणों की थी परन्तु ब्राह्मण सेना की कमजोरी भी उसने बताई है, कि यदि कोई ब्राह्मण को साष्टांङ्ग दण्डवत् करले तो ब्राह्मण को दया आजाती है। इसलिए क्षत्रिय सेना ही श्रेष्ठ है।

---

१. कामन्दकीय नीतिसार—श्लोक ५७, ५८ पृष्ठ ४२।

७. मित्र—दो प्रकार के मित्र माने गए हैं, सहज और कृत्रिम। सहज मित्र वे होते हैं जिनसे पूर्वजों के समय से ही मित्रता चली आ रही है तथा जो निकट के पड़ोसी शत्रु के समीप निवासित हैं। कृत्रिम मित्र वह होता है जिससे जीवन और सम्पत्ति की रक्षा हेतु मित्रता स्थापित की गई है। ये मित्र भी श्रेष्ठ (Superior) और हीन Inferior) दो प्रकार के होते हैं। मित्र का स्थान राज्य के तत्त्वों में माना गया है, यह प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचार की विलक्षणता है।

विवेचन—राज्य के उपरोक्त सात अङ्ग माने जाते थे। इनके समन्वय के अभाव में राज्य की कल्पना संभव नहीं थी। यदि इस धारणा की तुलना आधुनिक राज्य की धारणा से की जाय तो यह निर्णय हो सकता है कि श्रेष्ठ तथा पूर्ण धारणा प्राचीन है अथवा अर्वाचीन। आधुनिक राजनीतिक विचारकों में गेटेल, गिलक्राइस्ट, गार्नर आदि को लिया जा सकता है। इनके विचारानुसार राज्य में चार प्रमुख तत्त्व होते हैं—(१ भू-भाग, (२) जनसंख्या, (३) सरकार एवं (४) सार्वभौमिकता। यह विचार प्राचीन राज्य की कल्पना के सम्मुख अधूरा प्रतीत होता है। प्रथम दोनों तत्त्वों को, प्राचीन राज्य का तीसरा अकेला तत्त्व जनपद या राष्ट्र पूरा कर देता है। चौथा तत्त्व सार्वभौमिकता, स्वामी के समान है तथा तृतीय तत्त्व सरकार प्राचीन राज्य का दूसरा तत्त्व पूरा कर देता है। तत्पश्चात् दुर्ग, कोप एवं बल ऐसे तत्त्व बच जाते हैं जो प्राचीन राज्य की धारणा को पूर्णता प्रदान करते हैं और आधुनिक धारणा को अभाव युक्त। कामन्दक इन तत्वों को राज्य के निर्माण तत्त्व कहता है और सिद्ध करता है कि राज्य वास्तव में एक प्राणी की तरह है जिसमें इन समस्त तत्वों का महत्व है। शंकराचार्य ने राज्य की तुलना रथ (Chariot) से की है जिसमें प्रत्येक अङ्ग का अस्तित्व महत्वपूर्ण है—जब सारे तत्व उचित अनुपात से कार्य करते हैं तभी रथ का संचालन सरलता से संभव है। प्राचीन धारणा के अनुसार राज्य एक आत्मा वाला प्राणी माना गया है जिसमें शरीर एवं आत्मा विद्यमान है। जो विकासमय तथा उन्नतिशील है। स्वामी इसका प्राण है और अन्य तत्व शरीर। इस प्रकार राज्य की श्रेष्ठ कल्पना प्राचीन भारतीय विचारधारा में उपस्थित की गई है।

निष्कर्ष—उपरोक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य की प्रकृति स्वरूप एवं स्वभाव का वर्णन किया है जब कि आधुनिक पाश्चात्य विद्वान राज्य की केवल परिभाषा मात्र देते हैं। राज्य का वास्तविक स्वरूप क्या है यह प्रकट करने में वे असमर्थ रहे हैं। भू-भाग एवं जनसंख्या तो राज्य के तत्व हैं ही; किन्तु सरकार की उत्पत्ति तो राज्य के बाद होती है। अतः यह राज्य की विशेपताओं में ही आता है, तत्वों में नहीं। ये चारों तत्व राज्य की परिभाषा बनाते हैं, राज्य का वास्तविक स्वरूप नहीं प्रकट कर पाते। जब कि प्राचीन हिन्दू राज्य-अपने तत्वों के द्वारा अपना पूर्ण परिचय देता है। एक और मुख्य अन्तर प्राचीन व अर्वाचीन धारणाओं में यह प्रकट होता है कि आधुनिक धारणा राज्य के गतिहीन संगठन (Statical state) के रूप में मान्यता देती है और प्राचीन धारणा इसे गतिमय जीवनयुक्त संगठन का स्वरूप प्रदान करती है। प्राचीन राज्य अपने पूर्णत्व की विशेपताओं से युक्त है जहां मित्र भी उसका अपना अङ्ग है तथा कोप की अनिवार्यता भी आवश्यक मानी गई है। आधुनिक राज्य में ऐसी कल्पना का नितान्त अभाव है। अतः राज्य का प्राचीन स्वरुप पूर्ण एवं प्रभावशाली सफल संगठन है।

तृतीय अध्याय

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

(Theories about the origin of State)

प्रस्तावना—प्राचीन काल में हिन्दुओं के विचार में राज्य की धारणा क्या थी यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। अब इस विषय पर विचार करेंगे कि राज्य की उत्पत्ति के संबंध में किस प्रकार के सिद्धान्त मान्य रहे हैं। डा० अल्टेकर का विश्वास है कि हमारे पास तत्कालीन कोई प्रमाण नहीं है जिससे राज्य की उत्पत्ति को निश्चित रूप से सिद्ध किया जा सके। केवल पुराणों एवं अन्य प्राचीन ग्रंथों में वर्णित सामग्री से ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं।[1] प्राप्य साधनों से यह तो सिद्ध है कि प्राचीन काल में "राजा ही राज्य है" (King is the state) यह सिद्धान्त बहुत प्रचलित था और राजतंत्र (Monarchy) राज्य का सामान्य स्वरूप माना जाता था। राजा ही राज्य की आत्मा माना जाता था। अतः राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त वास्तव में राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्त हैं। कौटिल्य ने भी राज्य के कार्य एवं शासन का ही वर्णन किया है, सिद्धान्तों के संबंध में केवल कहीं कहीं और वह भी अत्यल्प रूप में लिखा है। अतः इस संबंध में हमें वेद, उपनिषद, स्मृतियां, बौद्ध धर्म, ग्रंथ आदि साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। महाभारत में इस विषय में सबसे अधिक और अनेक रूपों में विस्तारपूर्वक वर्णन मिलते हैं। इन अनेक प्रकार के विचारों और सिद्धान्तों में से मुख्य मुख्य वर्णन संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) वैदिक सिद्धान्त (Vedic Theory)—(अ) आत्रेय ब्राह्मण में आये प्रसंगानुसार इस बात की पुष्टि की जाती है कि प्रारंभ में देवताओं में कोई सम्राट नहीं था। असुरों के साथ संघर्ष भी होते रहते थे जिनमें देवता सदैव परास्त होते थे। निरन्तर परास्त होने के कारणों पर विचार करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि असुरों की विजय इसलिए होती है कि उनके नेतृत्व के लिए सम्राट की व्यवस्था की गई है। अतः देवताओं ने भी निश्चय किया कि यही प्रयोग हम भी करें और सम्राट के निर्वाचन के लिए सब सहमत हो गये। यही सब की सम्मति से राजा के निर्वाचन की प्रथा का श्रीगणेश माना गया है। डा० जायसवाल के मतानुसार उक्त विवरण ऐतिहासिक प्रसंग में भी ठीक उतारा जा सकता है। जब भारतवर्ष में आर्य लोग (Tribal Stage) आदि काल से गुजर रहे थे तब द्रविड़ लोगों से यह साम्राज्ञीय संस्था (Institution of Kingship) अपनायी गई और राजा का पद निर्वाचन से निर्धारित होना स्वीकार किया गया।[2] राज्य की उत्पत्ति का यह विवरण 'देवासुर संग्राम सिद्धान्त' के नाम से प्रचलित है तथा इसका विवरण अनेक पुराणों में अलग अलग ढंग से किया गया है।

(ब) इसी सिद्धान्त को आत्रेय ब्राह्मण में इन्द्र के महाभिषेक उत्सव के साथ भी उपस्थित किया गया है। इन्द्र की सार्वभौमिकता (Sovereignty of Indra) की भांति

---

१. Altekar—State & Govt. in Ancient India.

२. डा० जायसवाल-हिन्दू पालिटी

ही मानव-समाज में भी सार्वभौमिकता की स्थापना का अनुमान किया जा सकता है। कुछ सीमा तक यह उचित है कि देवताओं की कल्पना भी मानव अपनी ही आकृति के अनुरूप करता है और इसीलिए यह संभव है कि मानव की सार्वभौमिकता, देवताओं के आदर्श पर ही अपनायी गई हो। तदनुसार इन्द्र के महाभिषेक उत्सव में यह इंगित किया गया है कि देवताओं के सम्मेलन में, प्रजापति अध्यक्ष थे और वहां परस्पर वार्त्तालाप के पश्चात् इन्द्र की ओर संकेत करते हुए यह कहा गया कि "देवताओं में सर्वाधिक शक्तिमय, अत्यन्त बलवान, पराक्रमी तथा सर्वथा पूर्ण यही है जो प्रत्येक कार्य को भली प्रकार सम्पन्न कर सकता है, अतः इसी को सम्राट के पद पर आसीन करना चाहिए"।[१] तत्पश्चात् सर्व सम्मति से इन्द्र के अभिषेकोत्सव की स्वीकृति की गई और इस प्रकार उसकी सार्वभौमिकता स्थापित हुई। इस सिद्धान्त में पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रचारित सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से कुछ साम्य प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ इन्द्र ने अपनी सार्वभौमिकता देवताओं के चुनाव द्वारा प्राप्त की तथा देवताओं ने अपने में से ही एक को अधिकार दिए। इस प्रकार यह सिद्धान्त सामाजिक-समझौते के सिद्धान्त के समीप प्रतीत होता है।

(स) तैत्तरीय ब्राह्मण में भी राजा की उत्पत्ति का सिद्धान्त दिया गया है, किन्तु थोड़े परिवर्तन के साथ। प्रजापति ने इन्द्र को युवक होने के कारण सब देवताओं के राजा के रूप में उपस्थित किया और उससे कहा कि तुम जाओ और इन देवताओं पर राज्य करो। परंतु जब इन्द्र देवलोक पहुँचे, तब देवताओं ने प्रश्न किया "तुम कौन हो ?" हम तो स्वयं देवता हैं। यह सुन इन्द्र वापस प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति उस समय सौर-चक्र (Luster of the sun) से मुक्त थे। इन्द्र ने कहा—"यह (luster) आप मुझे दें ताकि मैं उन पर शासन कर सकूं।" प्रजापति से सौर चक्र प्राप्त कर इन्द्र देवताओं के शासक बने। इस प्रकार यह सिद्धान्त ईश्वरीय सिद्धान्त के अधिक समीप सिद्ध होता है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के सिद्धान्त वेदों के आधार पर प्रतिपादित हैं। इससे यह तो सिद्ध है कि राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त ब्राह्मण काल से उपलब्ध हैं। इससे पूर्व का ज्ञान आज भी अलभ्य है।

(२) बौद्ध धर्म का मत—बौद्ध धर्म-संबंधी साहित्य में राजनीतिक विचार कम हैं तथा वे भी अधिकांश सांसारिकता से दूर अध्यात्म के विकास की ओर संकेत करते हैं। "राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते के फलस्वरूप हुई" यह मान्यता लगभग ब्रह्मा, चीन, लंका, तिब्बत आदि स्थानों में भी प्रचलित है। 'दीघ्घ निकाय' में भी यही वर्णन है। इस सामाजिक समझौते की व्याख्या इस प्रकार की गई है:—आदि काल में सभी व्यक्ति संतुष्ट थे। उनका शांतिमय जीवन था। काल क्रमानुसार पतन प्रारम्भ हुआ और रंग, सम्पत्ति, लिंग आदि के भेद उत्पन्न हो गए। लालच, स्वार्थ, मद आदि विचारों से मन उद्विग्न होने लगे। तब समस्त जन समुदाय ने एकत्र होकर यह विचार किया कि ऐसा व्यक्ति चुना जाय जो दोषी को दण्ड दे, वनवास के योग्य व्यक्ति को वनवास दे, अपराध करने

---

१ This one is among gods the most vigorous, most strong, most valient, most perfect." Let us install him (to the Kingship over us)—Bhandarker.

वाले को अपराधी घोषित करे, और इस प्रकार एक अत्यंत सुन्दर, प्रतिष्ठावान तथा शक्तिशाली व्यक्ति चुन लिया और उससे निवेदन किया "महात्मन्, आइये और जो जिसके योग्य है उसे उसी प्रकार दण्डनीय, वनवासी तथा अपराधी ठहराइये और दण्डित कीजिए। हम अपनी उपज का निश्चित अनुपात आपकी सेवा में उपस्थित करेंगे।"[1] वह सहमत हो गया और ऐसा ही करने लगा। इसीलिए उसे "महा सम्मत" या "महाजना-सम्मत"[2] का नाम दिया गया। राजा अथवा क्षत्रिय भी उसी को कहा जाने लगा। यह समझौता राजा एवं प्रजा में हुआ। राज्य की स्थापना के पूर्व की प्राकृतिक अवस्था (State of nature) तथा समाज की स्थिति (State of Society) का सुन्दर वर्णन इसमें मिलता है और पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्त के समकक्ष सिद्ध होता है। हर प्रकार से तुलना योग्य बौद्ध धर्मानुकूल यह सिद्धान्त सामाजिक समझौते की पूर्णता लिए हुए है।

३) **मनु-संहिता**—राजा की उत्पत्ति का अत्यन्त संक्षिप्त सिद्धान्त मनु संहिता में वर्णित है। तदनुसार जब राजा की अनुपस्थिति में प्राणी मात्र सर्वत्र मारे मारे फिरने लगे तब परमात्मा (Lord) ने समस्त चराचर की रक्षा के हेतु सम्राट का सृजन किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, जल, चन्द्र तथा कुबेर आदि के स्थायी तत्व लिए और उनसे राजा की रचना की। इस विचार से राजा इन्द्र की भांति सर्वत्र धन जन का रक्षक व पालक, वायु की भांति सर्वत्र विचरण करने वाला तथा यशस्वी हो, यम की भांति कठोर दण्ड देने योग्य हो, सूर्य की भांति अन्धकार-विदारक तथा प्रकाश करने वाला, अग्नि की भांति सर्वनाश करने योग्य, तथा शुद्धिकारक, जल की भाँति औदार्य (generosity) तथा कुबेर की भांति सम्पत्तिशाली होना चाहिए। इस प्रकार के राजा की कल्पना वास्तव में (Semi-divine being) अर्द्ध देवत्वमय प्रतीत होती है। सम्राट ईश्वर के द्वारा नियुक्त किया गया है। किसी प्रकार का समझौता नहीं है और न राजा का शासन ही किसी प्रकार के समझौते पर आधारित है।

(४) **महाभारत**—राज्य की उत्पत्ति के सबसे अधिक विचार महाभारत में हैं, परन्तु स्थानाभाव के कारण यहां हम केवल दो तीन प्रमुख विचारों का ही अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम उस सिद्धान्त पर विचार करते हैं जो भीष्म द्वारा वर्णित है।

(अ) प्रारंभ में जब मानव समाज में कोई राजा नहीं था तो आगे जाकर मत्स्य न्याय की स्थिति पैदा हो गई। बलवान निर्बल को खाने लगे-सताने लगे। तब सब लोगों ने एकत्र होकर कुछ समय (Compacts) निर्धारित किए जिससे परस्पर विश्वास उत्पन्न हुआ और कुछ समय तक इस प्रकार काम चलता रहा; परंतु आगे चलकर यह व्यवस्था भी पर्याप्त सिद्ध नहीं हुई। तब सब ब्रह्मा के पास पहुँचे और प्रार्थना की "भगवन्! राजा के बिना हमारा नाश हो रहा है, अतः किसी को हमारा सम्राट बना दीजिए, हम सब उसका

---

१. They selected most beautiful, gracious, powerful and addressed him "Come now, good being, do punish, revile or exile those who well deserve to be punished, reviled or exiled, we shall contribute to you a proportion of our rice." (Bhandarkar)

२. The great elect or chosen by the whole people. (Bhandarker)

सम्मान करेंगे और वह हमारी रक्षा करेगा"।[1] उनकी विनय सुनकर ब्रह्माजी ने मनु की ओर संकेत किया। मनु ने कहा "मैं सहमत नहीं हूं क्योंकि मैं सब पाप कर्मों से भयभीत रहता हूं। वास्तव में किसी राजधानी का नियंत्रण अत्यन्त कठिन होता है। और वह भी मानवों में, जो स्वभाव से ही असत्य-परायण, व्यवहार में कठोर एवं संदेहपूर्ण होते हैं।" मानवों ने विश्वास दिलाते हुए निवेदन किया "मनु! डरो मत! मानव जो पाप करता है उसका भागी स्वयं मानव होता है। और इस सब कार्य के लिए हम द्रव्य (Precious metal) का ५० वाँ भाग अन्न का १० वाँ भाग एवं आय का चतुर्थ भाग आपके कोष संग्रह के लिए देंगे। इस कोष द्वारा दृढ़ बनकर आप हमारी उसी प्रकार रक्षा कीजिए जैसे देवताओं की रक्षा इन्द्र करते हैं। तब मनु सहमत होगए।। उन्होंने समस्त विश्व का भ्रमण करके, पाप कर्मों को नष्ट किया और मानव मात्र को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाया। इस प्रकार यह विश्वास किया जाता है कि जो व्यक्ति इस धरती पर हैं और समृद्धि चाहते हैं उन्हें सर्व प्रथम एक राजा का चुनाव करना चाहिए कि वह सब की रक्षा करता रहे। इस सिद्धान्त में भी सामाजिक समझौते के लगभग सभी तत्व निहित हैं। प्राकृतिक स्थिति, संघर्ष का युग (State of war), सामाजिक समझौता आदि तथा यह सिद्धान्त हाब्स (Hobbes) के सिद्धान्त के अधिक समीप ज्ञात होता है।

(ब) दूसरा सिद्धान्त उस व्यक्ति से सम्बन्धित है जो पुराणों में प्रथम शासक या राजा माना जाता है। वह वेणु का पुत्र पृथु है। शांति-पर्व के अनुसार युधिष्ठिर ने भीष्म से अनेक प्रश्न किए हैं उनमें एक प्रश्न यह भी है कि राजा की उपाधि (title) किस प्रकार अस्तित्व में आई ? इसके उत्तर में राजा की उत्पत्ति का पूर्ण सिद्धान्त वर्णन किया गया है। भीष्म ने बतलाया है कि प्रारंभ में मानव धर्म एवं पवित्रता के साथ निवास करते थे। धीरे-धीरे उनमें काम, क्रोध, मद, लोभ का संचार हुआ (Self-indulgence, wrath, intoxication and greed) जिसके कारण विश्व में अशांति होने लगी। देवताओं को चिन्ता हुई और वे ब्रह्मा के पास पहुंचे। उन्होंने सबके लिए एक वृहद् ग्रंथ की रचना की जिसमें १०० अध्याय थे तथा जिसमें जीवन के चारों उद्देश्य—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, का सुन्दर वर्णन किया था। इसे दण्डनीति कहा। शिव तथा इन्द्र देवताओं ने और वृहस्पति तथा शुक्र ऋषियों ने उसके संक्षिप्त रूप (Summaries) लिखे। तत्पश्चात् देवता भगवान विष्णु के पास पहुंचे और प्रार्थना की कि किसी भी सुयोग्य व्यक्ति को मर्त्यलोक का राजा (Highest Place, श्रेष्ठ्यम) चुन दीजिए। भगवान ने अपने अंश से एक पुरुष की उत्पत्ति की और उसे राजा संज्ञा दी। (डॉ० अल्टेकर के मतानुसार इसका नाम 'विराज' था) इस राजा ने राज्य को पूर्ण रूपेण न्यास (Trust) की तरह माना और अच्छा शासन किया; परन्तु उसके बाद वेणु का समय आया जो घोर अत्याचारी शासक था। क्रुद्ध ऋषियों ने उसे नष्ट कर दिया और उसकी दाहिनी भुजा का मर्दन किया जिससे एक सुन्दर व्यक्ति

---

१. Oh Divine God ? without a King we are going to destruction. Appoint some one as our King. All of us shall worship him and he shall protect us. (Mahabharat)

उत्पन्न हुआ--जिसका नाम पृथु रखा गया। ऋषियों एवं देवताओं ने उसे आज्ञा दी कि तुम अपनी वासनाओं को वश में रखकर भय तथा पक्षपात रहित होकर धर्मानुसार शासन करो। देवताओं ने उसे प्रतिज्ञा भी कराई—"मैं मन, वचन, कर्म से निरन्तर पृथ्वी की रक्षा करूंगा; मैं दण्डनीति में निर्देशित नियमों का पालन करूंगा; मैं कभी स्वेच्छाचारिता से कार्य नहीं करूंगा; मेरे शासन में द्विज दण्डित नहीं होंगे और मैं विश्व की अन्तर्जातीय मिश्रण से रक्षा करूंगा।"[1] तत्पश्चात् ऋषियों, ब्राह्मणों तथा स्वयं विष्णु भगवान ने पृथु का राजतिलक किया और उसे राजा (अर्थात् सबको प्रसन्न करने वाला) की संज्ञा दी। क्योंकि स्वयं भगवान विष्णु के द्वारा राजा की स्थापना की गई इसलिए समस्त विश्व ने राजा या सम्राट् की महत्ता स्वीकार की। इस प्रकार इस सिद्धान्त में दैवी एवं सामाजिक-समझौते के सिद्धान्त बड़े सुन्दर ढंग से सम्मिलित हुए हैं।

५. मत्स्यन्याय का सिद्धान्त Doctaine of Matsya Nyaya (Logic of the fish)—हिन्दू विचारकों ने राज्य को समझने के लिए अराज्य (non-state) से भिन्नता प्रकट करने का प्रयत्न किया है। इस विषय में उनकी पद्धति तार्किक एवं ऐतिहासिक रही है (Logical as well as historical) अर्थात् यह सिद्ध किया है कि अराज्य में से किस प्रकार राज्य का विकास हुआ और इसका उत्तर उन्हें इसी 'मत्स्य-न्याय' के सिद्धान्त में प्राप्त हो गया। हिन्दू विचारकों के अनुसार अराज्य की धारणा बड़ी विलक्षण प्रतीत होती है। परन्तु फिर भी यूरोपियन विद्वानों की प्राकृतिक अवस्था (State of nature) से अधिक दूर नहीं है। हुकर (Hooker), हाब्स (Hobbes) तथा स्पीनोजा (Spinoza) के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था वहीं संघर्ष, अव्यवस्था तथा अनिश्चितता की स्थिति थी। प्राचीन भारत में भी अराज्य की यही धारणा थी, जहां "प्रत्येक का प्रत्येक से संघर्ष, पक्षियों और पशुओं की अराजकता अथवा गिद्ध और वानरों की व्यवस्था" स्थापित हो। चीन में भी प्राकृतिक अवस्था के संबंध में इसी प्रकार की धारणाएं प्राप्त होती हैं।[2] महाभारत में भी अराज्य का वर्णन इसी प्रकार तथा और अधिक सुन्दर ढंग से किया गया है। "यदि पृथ्वी पर कोई दण्डधारी शासक न रहे तो जल में मछलियों की भांति, बलवान निर्बल का भक्षण कर जायँगे" पिछले समय में जनता, इसी प्रकार सार्वभौम राहित्य तथा अव्यवस्था के कारण सर्वनाश को प्राप्त हुई थी—यह कहा जाता है। मनुस्मृति में इसी विचार की पुष्टि की गई है कि यदि वापस अराजकता हो जाय तो पुनः शक्तिशाली निर्बलों का भक्षण करने लग जायेंगे, जैसे मछलियों में होता है। रामायण में भी यही विचार प्रकट किए गए हैं। मत्स्य पुराण में अराज्य का वर्णन अधिक रोचक ढंग से किया गया है कि

---

1. The sages also proposed him an oath (प्रतिज्ञा) in following terms :—
"I will constantly protect the earth in thought, word & deed; I will carry on the laws in accordance with Dand Niti; I will never act arbitrarily; Twicel born classes will not be punished; & world will be saved from intermixture of classes" (Bhandarkar)
2. Political Institution and theories of Hindus—B. K. Sarkar.

वालक, वृद्ध, रुग्ण, साधु, पुजारी (पण्डित), महिला तथा विधवा सब का शोषण होगा, जब तक दण्ड उचित समय पर कार्यान्वित नहीं किया जायगा। अर्थशास्त्र में भी लिखा है (Powerful swallows the powerless) कि शक्तिशाली शक्तिहीन को निगल जाता है। कामन्दक के विचार में दण्ड की अनुपस्थिति में सर्वनाश अथवा घातक मत्स्यन्याय कार्याविन्त होता है (The destruction or the ruinous logic of the fish operates)। इस प्रकार अराज्य (non-state) की मुख्य ७ विशेषताएं निम्नांकित हैं :—

(१) यह अराजकता की स्थिति है।
(२) ऐसी स्थिति है जिसमें अत्याचार, डकैतियां और स्वेच्छाचारिता चलती है।
(३) जहां न्याय की झलक भी नहीं दृष्टिगत होती।
(४) जहां मानव मानव का भक्षक वन जाता है।
(५) जहां सम्पत्ति तथा पारिवारिक जीवन का उपभोग असम्भव होता है।
(६) जहां केवल डाकू और लुटेरे प्रसन्न रहते हैं और उनकी प्रसन्नता भी क्षणिक ही हो सकती है क्योंकि एक को दो और दो को चार हरा सकते हैं।
(७) जहां स्वतंत्र व्यक्ति दास और स्त्रियां दासियां बनाई जाती हैं। इन कारणों से मत्स्यन्याय से संसार भयभीत रहा है। इसकी पुनरावृत्ति रोकने के लिए Doctrine of Dand अर्थात् दण्डसिद्धान्त की पुष्टि की गई है।

दण्डसिद्धान्त—(Doctrine of Dand) दण्ड का साधारण अर्थ सजा (Punishment) शक्ति प्रयोग (Coercion) अथवा अधिकार (Sanction) से लिया जाता है। परन्तु प्राचीन भारतीय विचारों में इसका आधार गंभीर है। राज्य के हिन्दू सिद्धान्तों में दो अभिन्न सिद्धान्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं। प्रथम तो ममत्व का सिद्धान्त (Doctrine of mineness) अथवा स्वत्व का सिद्धान्त (Doctrine of one's ownness) जिसमें अपनी सम्पत्ति, परिवार या अन्य किसी ऐसी वस्तु का ध्यान रहता है जो विलग न की जा सके और दूसरा धर्म-सिद्धान्त (Doctrine of Dharma) जिसमें नियम, न्याय अथवा कर्त्तव्य को प्रधानता दी जाती है। परन्तु उपरोक्त दोनों सिद्धान्त पंगु रहते हैं जब तक दण्ड सिद्धान्त इनकी रक्षा में सहायक नहीं होता। इसी सिद्धान्त को आधारशिला पर ये दोनों, जीवन के परमावश्यक सिद्धान्त, स्थिर तथा सफल होते हैं। अतः दण्ड सिद्धान्त का महत्व और भी बढ़ जाता है। कुछ हिन्दू विचारकों का मत है कि राज्य इसलिए राज्य है कि वह बल-प्रयोग, बन्धन तथा अनिवार्यता को कार्यान्वित कर सकता है (Coercion, restrain & compulsion)। वास्तव में राज्यों के सम्बन्धों की बुनियाद दण्ड पर ही आधारित है। यदि दण्ड नहीं तो राज्य नहीं रह सकता (No Danda, no State) दण्डविहीन राज्य की कल्पना एक असम्भव-कल्पना है। जहां दण्ड का अस्तित्व न हो, वहां मत्स्यन्याय, प्राकृतिक अवस्था अथवा धर्मविहीन, सम्पत्तिविहीन स्थिति माननी चाहिए; क्योंकि ये सब वात राज्य में ही विद्यमान हो सकती हैं और राज्य वहीं हो सकता है जहां दण्ड है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि दण्ड नहीं तो राज्य नहीं और राज्य नहीं तो न धर्म और न सम्पत्ति ही रह सकती है।

निष्कर्ष—ऊपर वर्णित सिद्धान्तों में राजा की उत्पत्ति के संबंध में दैवी सिद्धान्त पर्याप्त महत्व का है। यहां तक कि कौटिल्य ने भी अनेक देवताओं के तत्वों से कर्त्तव्य पर प्रकाश डालकर कुछ देवत्व स्वीकार किया है। मनु ने तो स्पष्ट देवताओं के कर्तव्य-ज्ञान की ओर इंगित किया है। शांतिपर्व में भीष्म ने यह सिद्ध किया है कि राजा को ईश्वर क्यों मानते हैं। प्रो० प्रमथनाथ बनर्जी के मतानुसार केवल सचाई से कार्य करने वाला शासक ही ईश्वर का स्वरूप माना जाता था। प्रो. डी. आर. भण्डारकर के विचार से सम्राट 'नर-देवता' होता है परन्तु अपने शुद्ध कर्तव्यों से गिर जाने पर इसे नर देवता नहीं कह सकते। इस प्रकार दैवी सिद्धान्त की मान्यता सर्वव्यापी सी रही है।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर भी यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार कर लिया जाय तो विषय स्पष्ट ही होगा। साधारण दृष्टि से भारतीय सिद्धान्तानुसार समझौते द्वारा भी सम्राट जनता का सेवक ही रहता है जबकि पाश्चात्य विचारकों में समझौता (irrevocable) अविच्छेद्य माना गया है। आजकल तो सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Bad history and worse logic) दूषित इतिहास व हीन-तर्क माना जाता है। किन्तु फिर भी प्राचीन भारतीय विचारों वाले समझौता-सिद्धान्त की तुलना यूरोपियन विचार के समझौता सिद्धान्त से कर लेना स्वाभाविक सा लगता है।

पाश्चात्य विद्वान् हाब्स के विचार से तुलना:—

हाब्स (Hobbes)	हिन्दू विचार (Hindus)
१. प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक का प्रत्येक से संघर्ष था।	१. प्राकृतिक अवस्था मत्स्य न्याय युक्त थी जिसमें अस्तित्व की रक्षा कठिन थी।
२. इस स्थिति से ऊब कर लोग अपनी समस्त शक्तियां शासक को समर्पित करने के लिए प्रस्तुत हो गए और दे दीं।	२. समझौता तो हुआ किन्तु सिर्फ जनता पर ही भार नहीं रहा, शासक ने भी उत्तरदायित्व को संभाला।
३. यह समझौता केवल जनता में ही हुआ, शासक पार्टी नहीं था। इसलिए शासक को अमर्यादित अधिकार मिले।	३. शासक स्पष्ट रूप से पार्टी था और उसे केवल सीमित अधिकार ही प्राप्त हुए।
४. शासक पर कोई उत्तरदायित्व नहीं था, न जनता को विद्रोह का अधिकार था। पूर्ण सार्वभौम शक्ति शासक के हाथ थी।	४. शासक जनता का सेवक बना और शास्त्र, जो ब्रह्मदेव ने रचा था, उसके अनुसार शासन चलाना कर्त्तव्य था। सार्वभौम सत्ता सदैव जनता की बनी रही।

लॉक के विचारों से तुलना

१. प्राकृतिक अवस्था दोनों विचारकों के अनुसार समान सी है। जब जनता का जीवन सुखमय था और समाज का अस्तित्व नहीं था। प्राचीन भारतीय विचार के अनुसार यह युग पौराणिक काल का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है।

२. हिन्दू विचारकों में यह मान्यता है कि बाद में वातावरण दूषित हुआ और समाज पतित हुआ। तब सामाजिक समझौता हुआ। लॉक का मत इसी विचार का रूपान्तर है ।

३. समझौते के फलस्वरूप लॉक-शासक को कुछ शर्तों पर सीमित सत्ता देना स्वीकार करता है। हिन्दू विचारक भी शास्त्रीय नियमों द्वारा शासक के अधिकार मर्यादित होना स्वीकार करते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के विचार, प्राचीन भारतीय विद्वानों के विचारों की अपेक्षा वास्तविकता और यथार्थता की ओर कम, किन्तु भौतिकवाद की ओर अधिक आकर्षित प्रतीत होते हैं। डॉ० अल्टेकर की राय में पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण लौकिक था, जबकि हिन्दू विचारकों का अर्द्ध-धार्मिक तथा अर्ध-सामाजिक था।+ भारत में सर्वश्रेष्ठ स्थिति, यह थी कि जनता आज्ञापालन एवं कर-शुल्क आदि अपनी रक्षा एवं सेवा के फलस्वरूप अर्पित करती थी तथा कर्त्तव्य से च्युत होने की अवस्था में अत्याचारी शासक को अपदस्थ करने अथवा जीवनमुक्त करने के अधिकारों से भी युक्त थी। पाश्चात्य देशों में यह भावना आधुनिक युग में स्वीकार की जाने लगी है।× इस प्रकार भारतीय समझौते का सिद्धान्त अधिकतर अंशों में पूर्णता एवं यथार्थता से युक्त है।

+ Dr. Altekar--"Westerns looked at the problem from a purely secular point of view, while Ancient Indian writers looked at the problem from a semi-religious & somi-sociological point of view. (State Govt. Anc. India)

× उपर्युक्त Dr. Altekar.

चतुर्थ अध्याय

राज्यों के प्रकार

(Types of States)

प्रस्तावना—प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचार में राज्यों के कई प्रकार दृष्टिगत होते हैं, किन्तु उनका प्रसंग जिस ढङ्ग से प्राप्य है वह इस बात पर प्रकाश डालता है कि उस समय राज्यों का प्रकार महत्वपूर्ण विषय नहीं था। साधारणतया राजतंत्र (Monarchy) ही राज्य का स्वरूप होता था और इसी रूप में अनेक प्रकार समयानुकूल प्रचलित हुए। डॉ० अल्टेकर के मतानुसार प्राचीन विद्वानों ने इसीलिए इस विषय का विवेचन नहीं किया है, क्योंकि राजतंत्र ही राज्य का मुख्य रूप था।[1] परन्तु अन्य प्रकार के राज्य भी विद्यमान अवश्य थे और उनका महत्त्व अपना अलग था।

सर्व प्रथम राज्य का लोकप्रिय रूप राजतन्त्र ही था और वैदिक काल से लेकर अन्त समय तक इसी रूप के विभिन्न प्रकार समाज के सामने आते गए। राजतन्त्र की शक्ति व प्रतिष्ठा के अनुसार ही राजाओं के पद (Designations) भी निर्धारित किए जाते थे। जैसे—राजा (king), महाराजा (A great king), समरत (an emperor) आदि। इन्हीं में से कुछ स्वराज तथा भोज भी कहलाते थे परन्तु इनका क्या अर्थ था—यह आज भी स्पष्ट नहीं किया जा सका है।

उस समय में विभिन्न उपाधियों एवं सम्मानार्थक विशेषणों की सहायता से शासकों में भेद किया जाता था। उदाहरणार्थ, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि से उन्हें सम्बोधित किया जाता था, जो सार्वभौम (Supreme) शासक होते थे तथा समाधिगत, पंचमहाशब्द, महासामन्ताधिपति आदि उन्हें कहा जाता था जो सामन्तिक (Feudatory) शासक होते थे। ये उपाधियाँ भी समय और स्थिति के अनुसार परिवर्त्तनशील रहती थीं। शुक्ल यजुर्वेद में ऐसे पांच मंत्र हैं, जिनमें एक ही देवता का पांच प्रकार से सम्बोधन किया गया है। तदनुसार इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है:—

१. राजन—पूर्व दिशा में—वसुओं के साथ
२. विरत—दक्षिण दिशा में—रुद्रों के साथ
३. समरत—पश्चिम दिशा में—आदित्यों के साथ
४. स्वरत—उत्तर दिशा में—मारुतों के साथ
५. अधिपति—ऊपर की दिशा में—विश्वेदेवताओ के साथ[2]

---

1. State & Govt. in Ancient India–Dr–Altekar.
2. Sukla yajurveda. (शुक्ल यजुर्वेद)

इसी प्रकार का वर्गीकरण कुछ परिवर्तन के साथ इन्द्र के अभिषेक के अवसर पर 'आत्रेय ब्राह्मण' में भी वर्णन किया गया है। इससे साधारणतया यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि समराज, भोज, स्वराज, विराज व राजन एक ही प्रकार व सम्मान वाले शासकों की विभिन्न उपाधियाँ थीं। ये अनेक प्रकार के राजाओं के नाम नहीं थे। 'आत्रेय ब्राह्मण' में एक और स्थान पर विजेताओं को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है जिनमें पहले दो की अपेक्षा तृतीय-अधिष्ठाता (Overlord) तथा चतुर्थ समन्तपर्ययी को अधिक महत्व दिया गया है। (Universal Ruler अर्थात् सार्वभौम शासक) इस प्रकार वैदिक कालीन राजतन्त्र (Monarchy) में तीन मुख्य वर्गीकरण स्वीकार किए गए थे, जो निम्नांकित हैं:—

(१) सामन्तिक प्रधान (Feudatory chieftain)
(२) अधिष्ठाता (The Overlord or अधीश्वर),
(३) सार्वभौम शासक (The Universal Monarch)

अमरकोष में यह वर्गीकरण दूसरे रूप में दिया गया है—तदनुसार—

(१) चक्रवर्ती (Feudatory chief) जो राजसूय यज्ञ करलेता हो।
(२) अधीश्वर (Suzerain) जो अनेक राजाओं का स्वामी हो।
(३) मंडलेश्वर (Universal Monarch) जो एक मण्डल का स्वामी हो।

शुक्रनीतिसार में राज्यों कावर्गीकरण उनकी आय के अनुसार किया गया है, जो इस प्रकार है:—

(१) सामन्त—जिसकी आय १ लाख से ३ लाख तक रजत मुद्रा प्रतिवर्ष हो।
(Silver Karshas)
(२) माण्डलिक—आय ४ लाख से १० लाख प्रतिवर्ष तक
(३) राजन—आय ११ लाख से २० लाख प्रति वर्ष तक
(४) महाराज—आय २१ लाख से ५० लाख वार्षिक तक
(५) स्वराज—आय ५१ लाख से १ करोड़ वार्षिक तक
(६) समराज—आय १ करोड़ से १० करोड़ वार्षिक तक
(७) विराज—आय ११ करोड़ से ५० करोड़ वार्षिक तक
(८) सार्वभौम—आय ५१ करोड़ से अधिक वार्षिक तक

परंतु ये भी राजतन्त्र (Monarchy) के ही अनेक प्रकार तथा विभिन्न श्रेणियां हैं।

जैन ग्रन्थों में निषेधात्मक रूप से ये आदेश मिलते हैं कि जैन साधुओं को उन राज्यों में प्रवेश नहीं करना चाहिए, जहां द्विराज (Duarchy) हो अर्थात् जहां दो राजा राज्य करते हों। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि द्विराज होते थे। इनका रूप क्या था, इस पर विद्वान् एक मत नहीं हैं। संभवत: ये द्विराज तीन प्रकार के होते थे—प्रथम, जहां पिता व पुत्र

मिलकर शासन चलाते हों। द्वितीय, जहां दो बन्धु सहयोग के आधार पर राज्य संचालित करते हों और तृतीय जहां दो विभिन्न वंश या कुल के राजा मिलकर शासन-प्रबन्ध करते हों। कुछ भी हो इस प्रकार का शासन आदर्श तो हो ही नहीं सकता था—और न शांति एवं सुरक्षा के लिए ही हितकर माना जाता था। कौटिल्य ने भी इसके प्रसंग में यही लिखा है कि द्विराज, पारस्परिक विद्वेष, पक्षपात तथा प्रतियोगिता से स्वयं ही नष्ट हो जाता है।+ प्राचीन कहावतें—"एक म्यान में दो तलवार नहीं रहती" तथा "एक जंगल में दो सिंह नहीं रहते", इसी स्थिति को स्पष्ट करती हैं। द्विराज के सम्बन्ध में डा. अलटेकर ने लिखा है कि यदि दोनों शासक मिलकर शासन चलावें तब तो "द्विराज" है, अन्यथा यह "विरुद्ध राज्य" है।× यही मुख्य कारण हो सकता है जिससे जैन साधुओं का ऐसे राज्यों में प्रवेश निषिद्ध माना गया है।

अर्थशास्त्र में राजतन्त्र का एक तीसरा प्रकार भी वर्णित है। जिसे विद्वान् "कुलराज" की संज्ञा देते हैं। मौर्य-काल में मगध का राज्य नन्द तथा उसके पुत्रों द्वारा शासित था और वे सम्मिलित रूप में ही शासन संचालित करते थे। नन्द के पुत्रों की संख्या आठ थी और वे सब शासन में भाग लेते थे। इस प्रकार पूरा कुल शासन चलाता था—इसे "कुलराज" कहते थे। यह एक प्रकार से संघ राज्य की तरह माना जाता था। अर्थशास्त्र की पंक्ति निम्न प्रकार से यह भाव व्यक्त करती है:—"राज्यम् कुला संघौहि दुर्जयह।" इस प्रकार राजतन्त्र के तीन मुख्य प्रकार थे—एकराज, द्विराज एवं कुलराज।

गण-राज्य:—दूसरा राज्य का मुख्य रूप 'गणराज्य' था। पाणिनी के मतानुसार कई राज्यों के नाम क्षत्रिय जाति के नाम के अनुसार थे। तथा विभिन्न उद्देश्यों से बनाए हुए संघ भी विद्यमान थे। साधारणत: निम्न प्रकार के संघ प्रचलित थे:—

(१) धार्मिक संघ (Religious Sangha) जैसे बौद्ध संघ आदि।
(२) व्यापारिक संघ (Commercial Sangha) जैसे श्रेणी आदि।
(३) आयुध जीवी संघ (पाणिनी) शस्त्रों के सहारे जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों का संगठन।
(४) शस्त्रोपजीवी संघ (कौटिल्य) उपर्युक्त।

परन्तु उक्त संघों में कोई राजनैतिक विशेषताएं नहीं थीं धीरे धीरे जब जीवन के अन्य क्षेत्रों में संघ प्रणाली सफल हुई तब राजनैतिक क्षेत्र में भी इसे अपनाया गया और यह बहुत लोकप्रिय हुई। कौटिल्य ने अनेक प्रकार के राजनैतिक संघों का उल्लेख किया है जैसे लिच्छवि, वृज्जिक, मल्ल, मद्रक, कुरु, पांचाल आदि। इससे यह स्पष्ट होता है कि नृपतंत्र या राजतंत्र (Monarchy) के समर्थक कौटिल्य द्वारा गणराज्यों की आलोचना न करना इन संघों की लोकप्रियता का प्रमाण है। कुछ विद्वान् तो यह मानते हैं कि भारतीय

+ कौटिल्य "Such a state perishes through mutual hatred, partiality and rivalry." (Translation by Shama Shastry)

× If both rule in harmony, it is (two king state) द्विराज, if pulling in opposite direction (self fighting state) विरुद्ध राज्य। (Dr. Altekar)

राजनीति का प्रारम्भ ही प्रजातन्त्र राज्यों की स्थापना के साथ हुआ था। प्रारंभ कैसे हुआ था इस प्रश्न को छोड़ दें तो भी प्रजातन्त्र की विद्यमानता तो स्पष्ट स्वीकार की जाती है। परन्तु प्रजातन्त्र जैसा साधारण लोग सोचते हैं—राजतन्त्र (Monarchy) अथवा कुलीनतंत्र (Aristocracy) आदि पद्धतियों के विरुद्ध नहीं था। राजा सदैव प्रजा का हितचिंतक माना जाता था। परम्पराएं बलवान थीं, राज्य न्यास (Trust) की भांति रहता था, राजा का निर्वाचन, उसे पदस्थ, अपदस्थ करना, निष्कासन, वनवास, पुनर्स्थापन आदि लोक विख्यात प्राचीन परम्पराएं हैं जिनका प्रयोग जनता मुक्त रूप से करती थी। इसी के अनुसार यह मान्यता महत्व पाई कि भारतीय राजनीति सदैव प्रजातन्त्रात्मक बनी रही। विचार करने से एक ही साथ एक से अधिक प्रकार के राज्यों का अस्तित्व सरल प्रतीत नहीं होता किन्तु इंगलैण्ड का उदाहरण इसकी सम्भावना सिद्ध करता है देश की प्रमुख सत्ता चाहे वंशानुगत सम्राट के हाथ हो अथवा सम्पत्तिशाली या कुलीन जनों के हाथ में, परन्तु यदि उस राजा को जनता को समानता, स्वतंत्रता, न्याय आदि आवश्यक तत्व उपलब्ध हैं, स्वयं द्वारा निर्मित विधान है और विधान के अनुसार शासन चलता है तो उसे प्रजातंत्र ही कहा जायगा। ऐसी अवस्था में ही प्रजातंत्र अन्य प्रकार की राज्य व्यवस्थाओं में भी दृष्टिगत हो सकता है।

उपरोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारत में राज्यों का मुख्य प्रचलित प्रकार राजतंत्र या नृपतंत्र (Monarchy) था और इसी के अनेक भेद प्रचलित थे। द्विराज या कुलराज भी नृपतंत्र के ही भेद माने गए हैं। संघों के अनेक प्रकार थे यह ऐतिहासिक आधार पर प्रमाणित माना जा चुका है। विभिन्न युगों में इनका क्या स्वरूप रहा और कैसी उन्नत अवस्था में संघ रहे–इसका विचार अलग अध्याय में पूर्णरूप से किया जाना आवश्यक है। प्रजातंत्र राज्य मुख्य रूप से एक शासन पद्धति थी, जो राज्य के स्वरूप पर अधिक आधारित न होकर शासन प्रणाली से अधिक सम्बंधित थी। वर्त्तमान समय में इंगलैण्ड की शासन प्रणाली इस विषय में सर्वोत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करती है।

प्राचीन भारतीय राजनीति की प्रजातन्त्रात्मक प्रणालियों के अध्ययन से यह तो सिद्ध है कि भारत में दण्डनीति का उद्देश्य लोकहित था और मानव का सर्वांगीण विकास चरम लक्ष्य था। इसकी प्राप्ति एवं अनुकूल परिस्थितियों का सृजन राज्य का उद्देश्य होता था। फिर भी यह पक्ष रह ही जाता है कि प्रजातन्त्रात्मक भावना की उत्पत्ति का इतिहास रोम व यूनान के नगर राज्यों के साथ प्रारम्भ हुआ माने अथवा उससे भी पूर्व इस भावना का जन्म भारत में होना स्वीकार करें। श्री यदुनन्दन कपूर ने यह स्पष्ट प्रकट किया है कि यूनान के नागरिक जीवन के दर्शन के साथ प्रजातंत्र की भावना का जन्म हुआ। सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू ने इस भावना को प्रस्फुटित भी किया; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यूनान में उत्पन्न यह विचारधारा विश्व की प्रजातंत्र सम्बन्धी प्राचीनतम विचारधारा हो।+ भारत में प्रजातंत्र की भावनाएं सभ्यता के प्रारम्भ से ही उपस्थित मानी जा सकती हैं। यद्यपि निश्चित प्रमाण अभी तक पूर्ण रूपेण उपलब्ध नहीं हैं तथापि वेदों के तत्संबंधी प्रसंग इस भावना की प्राचीनता सिद्ध करने में समर्थ हैं। साधारणतः मेगास्थनीज के वर्णन

+ धर्म निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातन्त्रात्मक परम्पराएं–यदु० कपूर पृष्ठ ४४

के आधार पर यह विचार प्रचलित है कि नृपतंत्र के उपरान्त भारत में प्रजातंत्र स्थापित हुए×। परंतु इसका आधार एक भारतीय दन्त कथा ही है। महाभारत में नृपतंत्र के पूर्व अराजक राज्य अथवा मत्स्य न्याय की स्थिति थी यह स्वीकार किया गया है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो भारत का सर्व प्रथम संगठन प्रजातन्त्रात्मक भावनाओं से आरम्भ हुआ प्रतीत होता है। उस समय राज्य अवश्य छोटे होंगे परन्तु सिद्धान्त वही स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व के स्थापित किए गए। क्रमिक विकास के फलस्वरूप जब व्यक्ति स्वार्थ-प्रिय और संकुचित वृत्ति का बनता गया तब समाज में दोष उत्पन्न हुए और परिणामत: दूसरे प्रकार के संगठन अपनाए जाने लगे। इस प्रकार यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि विश्व का प्राचीनतम प्रजातन्त्र भारत में ही स्थापित हुआ और उसका समय उत्तर वैदिक काल (लगभग ३००० वर्ष ई पू०) अनुमान किया जा सकता है।

वस्तुत: वर्त्तमान समय में साम्यवादी, सर्वोदयवादी, गांधीवादी आदि जिस वर्गहीन समाज की स्थापना का लक्ष्य सामने रखकर आदर्श जन-राज्य का चित्र अंकित किया जाता है वही प्राचीन भारत का वर्गहीन-राज्य प्रजातन्त्र का सच्चा आदर्श रहा था। ऐतेरेय ब्राह्मण इस विचार की पुष्टि बड़ी सफलता से करता है। उसमें वर्णित देवताओं व दानवों के संघर्ष में सदैव देवता ही परास्त होते रहे थे। परन्तु एकत्र होकर विचार-विमर्श करने पर जब वे इस निर्णय पर पहुँचे कि उनकी अराजक-प्रणाली ही पराजय का मुख्य कारण है तब उन्होंने भी अपना शासक चुना और इस प्रकार प्रथम प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था राजतंत्र में परिवर्तित हुई।+ इनका पतन विशेषकर पारस्परिक संघर्ष एवं युद्धों के कारण हुआ। अतः आज की नवीनतम विचारधाराएं भारत की प्राचीनतम प्रणालियों की पंक्ति में आती हैं यह हमारे देश के गौरव की वृद्धि में विशेष सहायक तत्त्व स्वीकार किया जाना चाहिए।

राज्यों के प्रकार के संबंध में विचार करते समय हमें शुक्र का यह कथन स्मरण रखना चाहिए कि राजसत्ता राजा के शरीर में नहीं, उसके हस्ताक्षरित और मुद्रांकित शासन में निवास करती है।÷ अर्थात् राजा का स्वयं व्यक्ति के रूप में शासन क्षेत्र में वह महत्व नहीं है जो साधारणतया समझा जाता है। वह वास्तव में वैधानिक शासन है इसलिए राजसत्ता का निवास उस शासन में है जो राजा के हस्ताक्षर व मुद्रा द्वारा संचालित किया गया हो। महाभारत में भी इसी प्रकार का प्रसंग है कि राजा कभी स्वतंत्र नहीं है, सदैव मंत्रियों के वशीभूत है।† यदि मंत्रिवर्ग प्रभावहीन हो तो वे भी केवल दर्शनी मूर्ति ही रह जाते हैं। शुक्र नीतिसार में ऐसे मंत्रियों की तुलना महिलाओं के आभूषणों से की गई है।* अतः राजतंत्र या नृपतंत्र आज के अर्थ में केवल Monarchy अथवा निरंकुश राजतंत्र नहीं था। नृपतंत्र का अर्थ साधारणत: (Limited अथवा Constitutional Monarchy) मर्यादित या वैधानिक राजतंत्र ही लिया जाता था। उस समय की राजनैतिक चेतना तथा

× Ancient India as described by Megasthnese—Mackrindh Page 38-40.

+ ऐतेरेय ब्राह्मण १/१४

÷ नृप संचिन्हितं लेख्यं नृपस्तन्न नृपो नृप। शुक्रनीतिसार २।२९२

† परतन्त्रः सदा राजा........कुतो राज्ञः स्वतंत्रता
मंत्रे च मात्य सहिते कुतस्तस्य स्वतंत्रता॥ शांतिपर्व, अध्याय ३२५,१३९-४०॥

* यथालंकार वस्त्राद्यैः स्त्रियो भूष्यास्तथाहि ते। शुक्रनीतिसार २।८१-८२.

प्रजातंत्रात्मक पद्धतियों की विद्यमानता ही राजनैतिक क्षेत्र में इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना के लिए उत्तरदायी तत्व माने गए हैं। इन परिस्थितियों में हम यह धारणा स्वीकार करना उचित समझते हैं कि प्राचीनकाल में शासन पद्धतियां समयानुकूल विकसित, परिवर्तित और परिवर्द्धित होती रहती थीं। प्राचीन साहित्य में ऐसे उदाहरणों का प्राचुर्य है जहां बिना किसी भीषण क्रांति अथवा ऊहापोह के शासन-पद्धतियां संशोधित हो गईं। आज के युग में इंगलैण्ड की शासन पद्धति का स्वरूप अथवा क्रमिक विकास विश्व में आश्चर्य की वस्तु बनी हुई है, परन्तु प्राचीन भारतीय-ज्ञान ही उनका यह पथ प्रदर्शन कर रहा है यह आज भी अनेक भारतीयों के लिए एक नवीन बात होगी। इस संबंध में सर्वप्रथम उदाहरण ऐतेरेय ब्राह्मण से ही लिया जा सकता है जहां कुरु व पांचाल को नृपतंत्र या राजतंत्र वर्णित किया गया है।× जबकि कौटिल्य ने ये ही कुरु व पांचाल प्रजातंत्र के रूप में लिखे हैं।+ इसी प्रकार 'विदेह' का उदाहरण भी दिया जाता है जो प्रमाणों के आधार पर पूरी तरह सिद्ध होता है। इसके विपरीत प्रजातंत्र भी स्थिति के अनुसार राजतंत्र या नृपतंत्र में परिवर्तित हो जाते थे। जब कभी एक शासन पद्धति असफल होने लगी—दूसरी पद्धति को स्थापित करना पड़ता था। फिर भी प्रजातंत्र से नृपतंत्र में परिवर्त्तन सरल था और इसके विपरीत कठिन भी। परंतु ये हेर फेर होते अवश्य थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जनता राजनैतिक क्षेत्र में जागरुक थी और इसीलिये ये परिवर्तन संभव थे। ऐसी दृढ़ प्रजातंत्रात्मक भित्ति पर प्राचीन भारत की शासन पद्धति संगठित थी जो सदियों तक अडिग रही। आज उसके अवशेष खोज करने पर प्राप्त होते हैं परंतु प्रत्यक्ष रूप से उसकी आत्मा का प्रकाश हमें भारतीय सहिष्णुता, समानता एवं उदारता में आज भी दृष्टिगत होता है। अतः प्राचीन भारत की शासन पद्धतियों के प्रकार किसी सीमा में नहीं बांधे जा सकते।

प्राचीन प्रमाणों के आधार पर ऊपर वर्णित राज्यों के प्रकार से कुछ साम्य तथा कुछ वैभिन्न्य रखते हुए और भी वर्णन मिलते हैं जिनका संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। अछरंग सूत्र÷ में निम्न प्रकार के विधान वर्णित किए गए हैं:—

(१) अरायणि
(२) जुवरायणि
(३) दोरज्जणि
(४) वैरज्जणि
(५) विरुद्धरज्जणि
(६) गणरायणि

(१) अरायणि का अर्थ साधारणतः अराजकता से लिया जाता है। जहां व्यक्ति विशेष का शासन न होकर, समस्त जनता का राज्य हो उसे अरायणि कहा जाता होगा। जहां "Rule of Law" अथवा "विधि का शासन" हो, किसी वर्ग विशेष अथवा

× ऐतेरेय ब्राह्मण ८/१४ "कुरुपांचालानां राजानः........"
+ अर्थशास्त्र—कौटिल्य—
÷ आरायणि वा गणरायणि वा जुवरायणि वा दोरज्जणि वा वैरज्जणि वा विरुद्धरज्जणि वा / अछरंग सूत्र २/३/१/१०१

व्यक्ति विशेष का प्राधान्य नहीं हो, उसे अरायणि कहा जाता था। जैसे प्रत्येक व्यक्ति का कार्य किसी व्यक्ति का कार्य नहीं होता× उसी प्रकार ऐसे राज्य में यह दोष रहा होगा कि उत्तरदायित्व का निश्चयीकरण नहीं किया जा सकता होगा और यही इसकी असफलता का कारण बनता होगा।

(२) जुवरायणि का संबंध युवराज से लिया जा सकता है। साधारणतया युवराज का स्थान मंत्रिमण्डल में तो होता ही था। यदि अचानक पिता के देहावसान के कारण वयस्क होने से पूर्व ही राज्य का भार संभालना आवश्यक हो जाय तो ऐसी स्थिति में Court of Wards अथवा (Regency) संरक्षक मण्डल आदि के द्वारा युवराज के नाम पर शासन चलाया जाता था—इस आधार पर इसे युवराज का शासन या जुवरायणि कहा जाता था। वयस्क होने पर नियमानुसार शासन व्यवस्था युवराज को सौंप दी जाती थी और व्यवस्था का नाम परिवर्तित हो जाता था। ऐसे उदाहरण अनेक हैं। खारवेल के शिलालेख में यह अवस्था २४ वर्ष अंकित है+। जैन साहित्य में यह प्रसंग आया है कि विक्रम को २५ वें वर्ष में राज्यासीन किया गया था*। अशोक का राज्याभिषेक पिता की मृत्यु के चार वर्ष बाद हुआ। इन चार वर्षों में वहां जुवरायणि शासन पद्धति रही थी।

(३) दोरज्जणि—इसका अर्थ दोराज लिया जाता है। प्राचीनकाल में यह पद्धति प्रचलित थी। रोम और यूनान में भी दो शासक (Duarchy) अथवा Two Consuls की प्रणाली बहुत समय तक रही है। कौटिल्य ने भी विराज, द्विराज का वर्णन किया है÷। और जैन सूत्रों में तो जैन साधुओं को द्विराज में न जाने के लिए स्पष्ट रूप से ही सावधान किया गया है। डा० अल्टेकर ने द्विराज के सम्बन्ध में लिखा है कि जैसे "एक म्यान में दो तलवार" संभव नहीं है उसी प्रकार द्विराज आदर्श राज्य नहीं हो सकता।‡ इसी प्रकार दोरज्जणि का अर्थ दो शासकों के शासन हैं, जो अधिक समय के लिए आदर्श व्यवस्था न बनकर—स्थिति विशेष के लिए प्रचलित प्रथा रही है जैसे कुछ विद्वान् इसे दो भाई, पिता-पुत्र अथवा दो वंशों का राज्य मानते हैं उसी प्रकार कुछ लेखकों ने इस व्यवस्था में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को भी देखने का प्रयत्न किया है। परंतु यह सही नहीं प्रतीत होता।

(४) वैरज्जणि—यह उपर्युक्त वैराज्य का ही पर्यायी है। जिसका अर्थ निःस्वार्थ विराज से भी लिया जा सकता है अर्थात् जहां समस्त जनता का शासन हो। कौटिल्य ने वैराज्य का वर्णन किया है और वह इसे अपूर्ण व्यवस्था मानता है। संभव है कि कौटिल्य ने राजतंत्र का समर्थक होने के कारण इस व्यवस्था को सफल न समझा हो। अधिक ज्ञान इस पद्धति का प्राप्य नहीं है।

(५) विरुद्धरज्जणि—ऐसी शासन व्यवस्था जो विरुद्ध लोगों के हाथ में हो। इसमें

× Everybody's work is nobody's work.
+ I Hindu Polity--Page 230.--II योवराजन् पसासितम्—यदु० कपूर पृष्ठ १३६.
* Hindu Polity—Page 230.
÷ अर्थशास्त्र—कौटिल्य
‡ State & Govt. in Ancient India—Dr Altekar.

प्रजातंत्र की ओर लक्ष्य होता है। जहां सभी वर्ग, विश्वास, स्वार्थ तथा प्रकार के लोग व्यवस्था करते हों उसे विरुद्धरज्जणि कहा जाता है जैसे आजकल के शुद्ध प्रजातंत्र। चुनावों द्वारा सब धर्म, दल, विश्वास, स्वार्थ आदि के लोग निर्वाचित हो जाते हैं और निश्चित काल तक अपने स्थान पर बने रहते हैं। परस्पर विरोध रहता है, लोग एक दूसरे की आलोचना करते हैं और व्यवस्था के प्रति जागरुक रहते हैं। अतः विरुद्धरज्जणि प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था वहां थी जहां जनता का शासन था।

(६) गणरायणि—गणराज्य की व्यवस्था से तात्पर्य है। गणों के संबंध में अगले अध्याय में विशेष रूप से वर्णन किया जायगा यहां इतना समझ लेना पर्याप्त है कि गणरायणि का अर्थ है राज्य की गण के रूप में व्यवस्था। ये प्राचीनकाल में बहुत संख्या में विद्यमान थे।

इस प्रकार राज्यों के प्रकार प्राचीनकाल में समय समय पर बदलते रहे। इससे सिद्ध होता है कि भारत राजनैतिक क्षेत्र में सदैव प्रगतिशील रहा है। समय और आवश्यकतानुसार शासन पद्धतियां बदलीं—अनुभव का लाभ उठाकर उसमें आवर्तन-परिवर्तन किये गये—प्रजातंत्रात्मक क्षेत्र में अनेक प्रयोग हुये तथा आज की सर्वश्रेष्ठ कही जाने वाली प्रणालियों का पूर्ण रूपेण लाभ उठाकर उन कटु परन्तु शाश्वत तत्वों का ज्ञान प्राप्त किया गया जिनकी खोज में आधुनिक सभ्य और विकसित कहे जाने वाले राष्ट्र आज भी प्रयत्नशील हैं।

पाँचवां अध्याय

गणराज्य–१

(Republics)

पिछले अध्याय में राज्यों के प्रकार का वर्णन करते हुए गणराज्य का प्रसंग आया है। गणराज्यों का अस्तित्व प्राचीनकाल में था यह तो एक अटल सत्य है ही। साथ ही यह भी सिद्ध है कि बीच के युग में राज्य का यह रूप लोकप्रिय भी रहा है। तत्कालीन आत्मशासन की प्रवृत्तियों का भी यह एक स्पष्ट प्रमाण है। यद्यपि गणराज्यों के प्रारंभ का निश्चय करना कुछ कठिन प्रतीत होता है तथापि प्राप्त प्रसंग यह सिद्ध करने में समर्थ हैं कि गणराज्य उत्तर-वैदिककाल में ही प्रचलित और लोकप्रिय बने। वेदों में तो राज्यों का वर्णन साधारणतया राजतंत्र (Monarchy) के ही रूप में हुआ है। उसके पश्चात् विकास द्वारा गणतंत्रों की रचना हुई। मेगास्थनीज ने यही विचार व्यक्त किया है कि अनेक स्थानों पर राजतंत्र भंग होगए और प्रजातंत्रात्मक सरकारें स्थापित होने लगीं+। महाभारत आदि अन्य ग्रंथों से भी इसी विचार की पुष्टि होती है। अतः इस बात को निर्विवाद रूप में स्वीकार किया गया है कि राज्यों का प्रथम स्वरूप राजतंत्र था। उसके दीर्घकाल पश्चात् गणराज्यों का युग आरम्भ हुआ और बहुत समय तक सफलतापूर्वक प्रचलित रहा। हिन्दू जाति के इतिहास में गणराज्य अपना स्वतंत्र एवं महत्वपूर्ण स्थान तो रखते ही हैं, वैधानिक राजनैतिक क्षेत्र में भी उनकी प्रगति चरम सीमा पर पहुँची हुई थी, यह आज के भारत के लिए अत्यन्त गर्व और गौरव का भी विषय है। प्रत्येक क्षेत्र में प्राचीन भारतीय गणराज्य आज के गणराज्यों से कहीं आगे बढ़े हुए थे, यह अगले पृष्ठों का अध्ययन भली भांति सिद्ध कर सकेगा।

प्राचीन शब्दावली (Ancient Terminology for Republics)—प्राचीनकाल में गणराज्य (Republic) के लिए साधारणतया 'गण' शब्द ही प्रयोग में आता था, परन्तु साथ साथ 'संघ' शब्द का प्रयोग भी प्रचलित था। वैसे संघ शब्द का अर्थ अनेक राज्यों के संगठन के रूप में लिया जाता था, परन्तु वृहद् अर्थ में गणराज्य भी इस शब्द की सीमा में लिए जाते थे। साधारण भाषा में गण का अर्थ संख्या (number) से लिया जाता है अर्थात् गणराज्य वह व्यवस्था है जहां संख्या से कार्य संचालन किया जाय। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी आपत्ति उस समय उपस्थित हुई जब डाक्टर जायसवाल ने यह शोध की कि गण का अर्थ गणराज्य होता है×। उस समय तक पाश्चात्य विद्वान् "गण" का अर्थ गणराज्य न लेकर अपनी अपनी सुविधानुसार अनेक प्रकार से किया करते थे।

+ McCrindle—Megasthnese pp. 38-40. "Sovereignty (Kingship) was dissolved and democratic governments set up."

× Hindu Polity—Dr. Jayaswal pp.—21.

श्री फ्लीट तथा अन्य विद्वान् 'गण' का अर्थ 'जाति' (Tribe) समझते थे, जबकि श्री बूलर के विचारानुसार गण का अर्थ "व्यापारी वर्ग अथवा श्रमिकों का निगम" होता था। ये सारे अर्थ डा० जायसवाल ने भ्रामक सिद्ध किए हैं। + उनका मत है कि गण का अर्थ यदि पाश्चात्य विद्वानों के विचारानुसार मानें तो हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। बौद्ध ग्रंथों में ये शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं। उनके प्रसंग देखते हुए यह प्रमाणित होता है कि गण का प्रयोग गणराज्य के लिए ही हुआ है। जैसे शलाका (Voting Tickets) गण-पूरक× (Quorum) आदि पारिभाषिक शब्दों (Technical Terms) का प्रयोग गणराज्य के संबंध में अधिक उपयुक्त होता है। दूसरी बात यह भी है कि हमारे प्राचीन ग्रंथों में गणराज्यों के लिए ऐसे कई प्रसंग हैं, जहां उनकी स्थापना और उनके विनाश के कारण तथा लुप्त होने का वर्णन आता है। इसलिए 'गण' का अर्थ 'जाति' (Tribe) तो हो ही नहीं सकता। हिन्दू पॉलिटी में डा० जायसवाल स्वयं लिखते हैं कि इंगलैंड में 'गण' का अर्थ जाति लिया जा रहा था, परंतु उनके इस नए अर्थ के प्रकाशित होने पर जब इंगलैंड के श्री डा० एफ० डब्ल्यू० थोमस ने, जो भारतीय राजनीति के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् (Indianist Scholar) थे, यह विचार व्यक्त किया कि गण का अर्थ "जाति" अब त्याग देना चाहिए—तब डा० फ्लीट ने अपने अर्थ पर स्थिर रहना चाहा। परन्तु डा० थोमस ने चुनौती दे दी कि किसी भी संस्कृत ग्रंथ से वे यह अर्थ सिद्ध नहीं कर सकते। अन्ततः डा० जायसवाल का अर्थ (Interpretation) ही मान्य हुआ *।

दूसरा शब्द 'संघ' किसी सीमा तक गण का पर्यायवाची है ही—प्राचीन भारतीय ग्रंथों में उसका प्रयोग समानार्थी रूप में ही हुआ भी है। पाणिनि ने दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। संघ की श्रेणी में उसने मद्र, वृज्जि आदि राज्यों को लिया है, जो गणराज्य भी थे। अर्थशास्त्र में कौटिल्य भी राजतंत्र के साथ प्रजातंत्र राज्यों के वर्णन में 'संघ' शब्द का प्रयोग करता है और यही बात बौद्ध-ग्रन्थों में भी प्रकट होती है, अतः हम यह मानते हैं कि साधारण रूप में ये दोनों शब्द—'गण' और 'संघ' समानार्थी ही थे। परन्तु विशेषतः इनमें भेद था और गहरा भेद था। जैसे आज साधारण नागरिकों के लिए राज्य और सरकार (State & Govt.) में विशेष भेद नहीं है, उसी प्रकार संघ और गण की स्थिति भी थी। वस्तुतः पारिभाषिकता की दृष्टि से इनमें गंभीर अन्तर है। 'गण' का अर्थ था शासन के रूप से और 'संघ' का तात्पर्य था राज्य के संगठन अथवा स्वरूप से। जैसे सरकार, राज्य के भीतरी संचालन का अंग होती है, परिवर्तनशील होती है, परन्तु फिर भी राज्य की पर्यायवाची नहीं होती। इसी प्रकार गण और राज्य की स्थिति थी। पातंजलि को संघ-विषयक

+ Hindu Polity—Dr. Jayaswal ,, PP-21.

× गणपूरको वा भविस्सामीति—महावाग्ग III 6.6;

* Hindu Polity—. PP. 26.

व्याख्या से भी इसी बात की पुष्टि होती है। +

गणराज्यों के संबंध में विशेष विवरण—प्राचीन भारतीय ग्रंथों के संबंधित प्रसंगों का विश्लेषण किया जाय तो यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि गण का अर्थ प्रजा-तन्त्रात्मक शासन व्यवस्था वाला राज्य था और संघ भी इसका समानार्थी था। पाणिनि ने यह लिखा है–'नए गण स्थपित किये गए थे। ×जातक ग्रन्थों में "गण बन्धन" शब्द का प्रयोग हुआ है। + इसका अर्थ है गण ऐसा संगठन था जिसमें कुछ बन्धन होते थे। जैसे आजकल किसी सभा, समुदाय या समूह में होते हैं। महाभारत में तो अत्यधिक स्पष्ट शब्दों में गण की व्याख्या कर दी गई है। ÷ इस समय गणराज्य अपनी कुछ विशेषताओं के लिए ख्यातिप्राप्त थे। उनमें से मुख्य ये थीं:—

(१) सफल विदेश नीति (२) परिपूर्ण कोष (३) सन्नद्ध सेना (४) उनका युद्ध-कौशल (५) न्यायपूर्ण नियम (६) आदर्श अनुशासन।

अवदान-शतक में गण-शासन-व्यवस्था को राजतंत्र-व्यवस्था से विरुद्ध बताया है। डा० जायसवाल ने एक घटना का वर्णन किया है कि कुछ उत्तर भारत के व्यापारी बुद्ध के शासनकाल में दक्षिण भारत में गए थे। जब वहां के सम्राट् ने उनसे प्रश्न किया कि तुम्हारे सम्राट् कौन हैं? तो उन्होंने उत्तर दिया—"श्रीमान् कुछ देश गणराज्य के अधीन हैं तथा कुछ सम्राट् के"। + तात्पर्य यह कि उस समय गण 'राज्य' के ही अर्थ में प्रयोग होता था और भारत में गणराज्य स्थापित थे। जैन ग्रंथों में गण का अर्थ मस्तिष्क वाले संगठन से लिया गया है अर्थात् जो समूह चैतन्य हो और अपना कार्य स्वयं करता हो। वास्तविक संघ वही है जो वैधानिक व्यक्तित्व (Corporate body) के साथ विद्यमान हो। इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से गण का अर्थ उस शासन-व्यवस्था से लिया जाता था, जिसमें संगठन होता था तथा जनता द्वारा व्यवस्था की जाती थी और जहां कोई सम्राट् या स्थायी अधिष्ठाता नहीं होता था।

(१) संघ के संबंध में पाणिनि के विचार (500 B.C.)—अपने समय के हिन्दू गणराज्यों के संबंध में पाणिनि द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है।

+ महाभाष्य—पातंजलि ५/१/५६.

× Hindu Polity—Jayaswal PP. 26. "New ganas were founded."

+ Jataka I 422 & II 45.

÷ Ch. 107, Mahabharat.

+ "Your Majesty, some countries are under ganas & some are under Kings"—Hindu Polity PP. 28. or अवदानशातके "देव केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीना" पृष्ठ १०३.

डा० जायसवाल ने यह समय ५०० वर्ष ई० पू० माना है। × पाणिनि भारतवर्ष के प्रमुख व्याकरणाचार्य थे। उन्होंने यह लिखा है कि भारतवर्ष का कितना भाग उनके समय में संघों द्वारा संगठित था। पाणिनि के लिए 'संघ' एक तकनीकी शब्द था, जिसका अर्थ राजनैतिक संघ अथवा गण या Republic होता था। उस समय धर्मसंघ नहीं होते थे अथवा यह कहना चाहिए कि इतने विख्यात नहीं हुए थे। परंतु जातियों का महत्व संघों में अवश्य रहता था। कुछ ऐसे नियम भी थे, जिनकी सहायता से यह ज्ञात हो सकता था कि संघ ब्राह्मणों का है, क्षत्रियों का अथवा अन्य किसी वर्ण का। इस प्रकार संघ एक सभ्य समाज की संस्था प्रतीत होती है, पिछड़े हुए या अर्द्धविकसित समाज की नहीं। कात्यायन ने पाणिनि की समालोचना में यह व्यक्त किया है कि यह नियम केवल एक सीमा में ही कार्यान्वित होता है, सर्वत्र नहीं। संघ किसी एक जाति के होते थे—यह व्यावहारिक नहीं जान पड़ता। संघ तो समाज की रचना पर आधारित होता था, इसलिए सभी जाति के लोगों का सहयोग अपेक्षित रहता था। पाणिनि ने संघों के निम्नांकित उदाहरण दिये हैं:—

१. वृक २ दामनि ३. यौधेय और ४. पार्श्व

पाणिनि ने संघों को "आयुधजीवी" कहा है। परंतु कौटिल्य ने इनका नाम "शास्त्रोपजीवी" रक्खा है तथा "राजशब्दोपजीवी" संघों से इनकी तुलना की है। राजशब्दोपजीवी का अर्थ है वे संघ, जिनके शासक 'राजा' शब्द की उपाधि धारण करते हैं और इसी प्रकार "आयुधजीवी" का अर्थ है, वह संघ. जहां आयुध के आधार पर जीवन आधारित हो अर्थात् जहां का विधान यह आदेश करता हो कि प्रत्येक संघ का सदस्य सैनिक शिक्षणयुक्त देशसेवक होना चाहिए। पाणिनि ने इन शौर्यपूर्ण संघों के अतिरिक्त दूसरे संघों का वर्णन भी किया है। जैसे मद्र, वृज्य, राजन्य अन्धक, वृष्णि, महाराज एवं भर्ग आदि। + कुछ संघ जैसे वृष्णि के लिए यह लिखा है कि ये (Kingless) राजा-विहीन होते थे। मुद्रा में संघ या गण का नाम होता था और ये स्वतंत्र होते थे। इसी तरह "राजन्य" शब्द का भी संवैधानिक महत्त्व है इसका अर्थ उस परिवार के संचालकों से होता था, जो शासन की व्यवस्था करते थे। महाभारत में ऐसे प्रसंग बहुत आए हैं। वृष्णि-अन्धक संघ का एक संयुक्त संघीय विधान था और कार्यपालिका शक्ति दो राजाओं में निहित होती थी, जो दोनों प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते थे। कात्यायन ने भी प्राचीन साहित्य के आधार पर "अक्रूर वर्ग" और "वासुदेव वर्ग" का उल्लेख किया है। अक्रूर अन्धक नेता था और संघीय परिषद् के दो अध्यक्षों में से एक अध्यक्ष स्वयं था। महाभारत में इसीलिए कृष्ण भगवान् कहते हैं कि उनका ऐश्वर्य (authority) केवल आधा है ('अर्द्धभोक्ता')। ये दो दो के दल भी समय समय पर बदलते रहते थे। कभी वासुदेव-उग्रसेन, कभी अक्रूर-वासुदेव और कभी सिनी-वासुदेव—इससे यह ज्ञात होता है कि इनका निर्वाचन होता था। सिक्कों पर गण व राज्य दोनों के संयुक्त नाम अंकित किये जाते थे।

× Hindu Polity—PP. 30.
+ महाभारत—सभापर्व

पाणिनि के मतानुसार संघ का 'अंक' और 'लक्षण' होता था। लक्षण का अर्थ संभवतः राज्य की स्थायी मुहर (Seal) से होता था, जिसका उपयोग राज्य के आज्ञा-पत्रों तथा पताका आदि में किया जाता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में "लक्षणाध्यक्ष" (Mint-Master or Director of Lakshanas) उस व्यक्ति को कहा है, जो चांदी और तांबे के सिक्के बनाने के कार्य का निरीक्षण और संचालन करता है। डा० जायसवाल का मत है कि राज्य की मुद्रा पर राज्य की मुहर (लक्षण) लगती थी, इसलिए उसका नाम 'लक्षणाध्यक्ष' कहा जाने लगा। × अंक का अर्थ डा० जायसवाल के मत में सरकार के प्रतीक से हैं, जो सरकार के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होता रहता था। वीर मित्रोदय + में 'हस्तांक' शब्द का प्रयोग हस्ताक्षर के अर्थ में किया गया है। कालिदास ने 'गोत्रांक' शब्द का प्रयोग किया है और इसी प्रकार कौटिल्य ने 'राज्यांक' शब्द का। इसलिए 'अंक' का अर्थ 'व्यक्ति का चिन्ह' अथवा विशेष अंक से ही लिया जा सकता है। यहां तक कि पूरा सिद्धान्त या आदर्श जो सत्ता द्वारा स्वीकृत किया जाता था, वह भी 'अंक' में सम्मिलित किया जा सकता है अतः चित्र (figure) को लक्षण तथा सिद्धान्त (Motto or legend) को अंक मान सकते हैं।

पाणिनि ने संघों के दो प्रकार माने हैं:—(१) एकसदनीय (अनुत्तराधर्म) और (२) द्विसदनीय। पहली प्रकार के संघ को वह 'काय' अथवा 'निकाय' अर्थात् 'एक अंग' का नाम भी देता है और निम्न तीन राजनैतिक निकायों का उदाहरण देता है:—

(i) सपिण्डी निकाय (Sapindi-Nikaya)

(ii) मुण्डी निकाय (Maundi-Nikaya)

(iii) चिक्कली निकाय (Chikkali-Nikaya)। इस प्रकार 'संघ' अथवा 'Republics' का वर्णन पाणिनि ने अपने अनुभव के आधार पर वैज्ञानिक ढंग पर किया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

२. बुद्धकालीन संघों का वर्णन (500-400 B.C.)

ईसा के ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ४०० वर्ष पूर्व तक साधारणतया इन संघों का समय अनुमान किया जाता है। बुद्धकालीन संघों की स्थापना राजनैतिक संघों का अनुकरण करके की गई थी। बुद्ध स्वयं एक गणराज्य में उत्पन्न हुए थे और उनके पड़ौसी राज्य भी सब गणराज्य थे। इसीलिए उन्होंने भी अपने संगठन का नाम "भिक्षु संघ" रक्खा और इसी प्रकार धर्म संघों की स्थापना में भी राजनैतिक संघों के आदर्शों से सहायता ली। पाली सूत्रों में दिया हुआ बुद्ध का वह उत्तर जो उन्होंने मगध चांसलर को दिया था यह

× Hindu Polity (Page 39)
+ वीर मित्रोदय पृष्ठ १९५

स्पष्ट सिद्ध करता है कि "वज्जी" गणराज्य था और वहां पूर्ण स्वतंत्रता स्थापित था। + गणराज्यों की इस स्वायत्तता के मूल कारणों की बुद्ध ने व्याख्या भी की है, जिनके विद्यमान होते गणराज्य का कभी पतन नहीं हो सकता था। डा० जायसवाल के मतानुसार बुद्ध संघ की उत्पत्ति का इतिहास वास्तव में विश्व में (Monastic Order) के जन्म का इतिहास है। इसके द्वारा बुद्ध के धार्मिक भ्रातृत्व का विकास समस्त विश्व के लिए अध्ययन का विषय बन गया है।÷

बुद्धकाल के मुख्य प्रामाणिक गणराज्यों में नीचे लिखे सम्मिलित हैं:—

१. शाक्य गणराज्य—राजधानी कपिलवस्तु २. लिच्छवि गणराज्य—राजधानी वैशाली

३. विदेह गणराज्य—राजधानी मिथिला ४. मल्ल गणराज्य—राजधानी कुशीनगर

उक्त गणराज्यों में अधिकांश प्रशासन प्रणाली एक ही प्रकार की थी, किंतु कुछ साधारण भेद अवश्य थे। इनमें प्रशासन तथा न्याय व्यवस्था जनता की उस विधान सभा द्वारा संचालित होती थी जो सभाभवन (संस्थागार Mote Hall) में विचार करती थी तथा जहाँ युवक व वृद्ध समान रूप से उपस्थित रहते थे। ×विधान सभा के अधिवेशन चलते रहते थे और विदेशी यात्री तथा आगन्तुक भी अधिवेशन को देख सकते थे। + अधिवेशन का कार्य संचालित करने के लिए एक अध्यक्ष (Speaker) चुना जाता था जो अधिवेशन चलते समय राज्य की अध्यक्षता करता था। इसे राजा कहा जाता था।

जातक ग्रन्थों में लिच्छवि विधानः—इसका वर्णन सबसे अच्छा किया गया है। लिच्छवि शासकों को उसमें गण शासक कहा गया है। उस समय राज्य में तीन प्रधान अधिकारी होते थे, जिन्हें क्रमशः राजा, उपराजा तथा सेनापति कहा जाता था। × एक चौथा अधिकारी और होता था, जिसे भण्डगारिका कहते थे। इन्हीं चारों अधिकारियों का दल समस्त शासन संचालित करता था। यद्यपि सार्वभौम शक्ति जनता में निहित रहती थी, तथापि उसका प्रयोग उनके प्रतिनिधि ही करते थे, जो सभा के रूप में रहते थे। वैशाली में ऐसे प्रतिनिधियों के निर्वाचकों की संख्या ७७०७ बताई गई है, जो स्वयं भी शासक बनने योग्य होते थे। जो शासक चुने जाते थे, उन्हें पद ग्रहण करने का उत्सव मनाना होता था। सभाकी बैठक प्रारंभ होने के लिए घण्टा Tocsin बजाया जाता था और तब वैशाली निवासी अपनी संसद् में

+ Dialogues of the Buddha—Part II Page 79-85—यही वर्णन डा० जायसवाल ने अपनी पुस्तक Hindu Polity में बहुत अच्छा किया है। पृष्ठ ४२-४३.

× Jataka I Page 504—"राजानो होंति तत्तका; येव उपराजानो तत्तका, सेनापतिनो तत्तका, तत्तका भंडगारिका,"

उपस्थित होते थे। यहाँ राजनैतिक, सैनिक ही नहीं बल्कि कृषि तथा व्यापारिक विषय पर भी बहुत विचार-विमर्श होता था। एक बुद्धिस्ट पुस्तक में यह प्रसंग आया है कि गण-राज्य में सब सदस्य समान अधिकारों का उपभोग करते थे, चाहे कोई ऊँचा हो या नीचा हो वयो वृद्ध हो अथवा युवक और प्रत्येक अपने को स्वतन्त्र राजा समझता था ÷ कोई एक दूसरे का अनुसरण नहीं करता था। भाषण व मतदान के अधिकार साधारणतः समान होते थे, उनमें से प्रत्येक राष्ट्रपति बनने के लिए उत्सुक रहता था।

लिच्छवि विधान द्वारा नागरिकों की स्वतन्त्रता बड़ी सतर्कता से सुरक्षित रखी गई थी – गणराज्य का अध्यक्ष न्यायविभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। न्याय मन्त्री का पद अलग होता था, जिस पर वही व्यक्ति आ सकता था जो न्यायविज्ञ हो, वह विदेशी भी हो सकता था और वैतनिक भी। किसी भी नागरिक को उसी स्थिति में अपराधी माना जा सकता था, जब सेनापति, उपराजा और राजा द्वारा अलग अलग निर्विवाद रूप से उसे दोषी मान लिया गया हो। * तत्कालीन निर्णयों को सुरक्षित रखा जाता था। इस प्रकार के रिकार्ड्स के लिए रजिस्टर रक्खे जाते थे, जिन्हें "पावनी पट्ठका" कहा जाता था। इसमें अपराध की किस्म, दिया हुआ दण्ड, साक्षी आदि तथा निर्णय सुरक्षित रक्खे जाते थे। न्यायालय भी कई प्रकार के होते थे–(१) साधारण अपराधों के लिए—साधारण न्यायालय जिनके न्यायाधीशों को विनिच्चय-महामत्त कहते थे। (२) इससे ऊपर अपील का न्यायालय होता था जिसके न्यायाधीश "व्योहारिक" (Lawyer—Judges) कहलाते थे और (३) उससे ऊपर उच्च न्यायालय (High Court) होता था जिसके न्यायाधीश सूत्रधार (Doctor of Law) कहलाते थे। इसके बाद फिर (४) अन्तिम प्रार्थना के लिए परिषद् (Council of final appeal) होती थी; जिसमें साधारणतया आठ सदस्य होते थे। इसी को 'अष्टकुल' भी कहा जाता था। उपर्युक्त शृंखला में किसी भी एक से नागरिक को निरपराध घोषित करके मुक्त किया जा सकता था और निरन्तर अपराधी मानने पर फिर केबीनेट (मंत्रिपरिषद्) द्वारा निर्णय लिया जाना अनिवार्य था। महाभारत में यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि फौजदारी न्याय विशेषज्ञों द्वारा होना आवश्यक है। ×

एक और मुख्य विशेषता (लिच्छवि विधान की) यह थी कि विदेह गणराज्य के साथ संघ की स्थापना की हुई थी और दोनों को संयुक्त रूप से 'समविज्जी' कहा जाता था। इसी प्रकार पहले 'मल्ल गणराज्य' के साथ भी ये संघ स्थापना कर चुके थे। + संघीय परिषद् (Federal Council) में १८ सदस्य होते थे, आधे लिच्छवि तथा आधे मल्ल और 'गणराजा' कहे जाते थे। संघों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य बड़ी शक्तियों से अपना बचाव

---

* Lalita Vistar Page 21 —नोच्चमध्य वृद्धज्येष्ठानुपालिता, एकैक एव मन्यते, अहं राजा अहं राजेति।

÷ Hindu Polity—Jayaswal Page 49.

× वीरमित्रोदय—पृष्ठ 19

+ कल्पसूत्र, 128.

करना था। संघों में सब राज्य समानता के आधार पर मिलते थे तथा समान मताधिकार का प्रयोग करते थे। वहां बड़े-छोटे या निर्बल-बलवान् का भेद नहीं किया जाता था। उस समय संघ की स्थापना का प्रचार अधिक था।

३. अर्थशास्त्र में संघों का वर्णन (325–300 B.C)—अर्थशास्त्र में संघों का अधिकांश वर्णन उनकी विशेषताओं तथा साम्राज्यवादी नीति के साथ सम्बन्धों के क्रम में प्राप्त होता है। मुख्यरूप से कौटिल्य ने संघों को दो श्रेणियों में रखा है। एक तो वे जहां शासक 'राजा' की पदवी से विभूषित होते थे और दूसरे वे जो 'राजा' नहीं कहलाते थे। कौटिल्य राजतंत्र या नृपतंत्र का प्रशंसक था, परन्तु वह स्वीकार करता है कि राजतन्त्र से गणराज्य बनते रहते हैं। महाभारत, पुराण तथा अन्य ग्रन्थों के अनुसार प्रारम्भिक में 'कुरु' काल राजतन्त्रात्मक राज्य के अन्तर्गत थे और बाद में 'गणराज्य' बन गए। इसके समय का अनुमान बुद्ध के बाद और कौटिल्य से पूर्व का किया जाता है अर्थात् लगभग ३२५ ई० पू० से ३०० वर्ष ई० पू० तक। इसी प्रकार 'विदेह' भी पहले 'राजतन्त्र' और 'गणराज्य' परिवर्तित हो गए थे। पांचाल भी गणराज्य के रूप में ही था—कौटिल्य यह मानता है। डा० जायसवाल का मत है कि भारतीय गणराज्यों की यह सामान्य विशेषता रही है कि जब वे राजनैतिक शक्तिविहीन हो जाते थे, तब भी व्यापारिक कौशल बनाए रखते थे और व्यापारिक बन जाते थे × पांचाल व कुरु कुछ कुछ इसी श्रेणी में आ सकते हैं।

दूसरी श्रेणी के गणराज्य वे थे, जहां राजा की पदवी नहीं होती थी परन्तु सारा राष्ट्र सैनिक कौशल युक्त (Nation-in-arms) होता था। इस श्रेणी में कम्भोज, सौराष्ट्र क्षत्रिए तथा श्रेणी आदि आते हैं। + ये राज्य अपने नागरिकों पर सैनिक योग्यता प्राप्त करने पर बल देते थे, साथ ही उद्योग एवं कृषि आदि व्यवसायों की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया जाता था। इसलिए ये शक्तिशाली और समृद्ध दोनों होते थे इस प्रकार कौटिल्य के समय में गणराज्य प्रचलित भी थे और प्रभावशाली भी।

४. यूनानी लेखकों द्वारा संघों का वर्णन (325 B.C.)—यूनानी लेखक साधारणतया गांवों को स्वतन्त्र इकाइयां समझते थे परन्तु ग्राम पञ्चायत से वे गणराज्य अर्थ नहीं लेते थे। जिन वर्गों से उनकी भेंट हुई, उन्हें वे राज्य ही समझते थे, उनसे यूनानियों ने युद्ध किए, संधियां की और उनकी वैधानिक विशेषताओं को लेख-बद्ध किया। यूनानियों के वर्णन पूर्ण विश्वसनीय हैं। मेगास्थनीज, चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में यूनान का राजदूत था, उसकी कोई भी बात संदिग्ध व अस्पष्ट नहीं है। वह यहाँ पर स्थायी राजदूत था इसलिए उसका वर्णन सत्य है। उसने देश में दो प्रकार के राज्य बताए हैं–१.राजतन्त्र और २. गणराज्य। जहां सम्राट् है, वहां प्रत्येक स्थिति सम्राट् के सामने प्रकट की जाती थी; तथा आत्मशासित जनता में वस्तुस्थिति का ज्ञान मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित किया

× Hindu Polity—Jayaswal (Page 54).

+ काम्भोज-सुराष्ट्र-क्षत्रिएश्रेण्यादयो वार्ता शस्त्रोपजीविनः (अर्थशास्त्र Page 376)

जाता था । +यूनानी लेखकों द्वारा कई गणराज्यों का उल्लेख किया गया है । जैसे(१)कथाइयन (लाहौर, अमृतसर आदि), यह गणराज्य साहस तथा युद्धकौशल के लिए विख्यात था। यहां स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से विवाह करते थे तथा सती प्रथा भी प्रचलित थी और सर्वश्रेष्ठ सुन्दर व्यक्ति को ही सम्राट् बनाया जाता था । * इसके अतिरिक्त अन्य कई गणराज्यों का वर्णन आता है । रावी के तट पर अनेक सार्वभौम गणराज्यों का सामना सिकन्दर कर चुका था, जिनमें अड्रस्टाइ, सौभूति आदि मुख्य थे । इन गणराज्यों में उच्च कोटि की प्रशासन व्यवस्था थी, सर्वोत्तम नियमों द्वारा शासन संचालित होता था तथा सौंदर्य को समाज में सर्वोत्कृष्ट स्थान तथा अत्यधिक सम्मान दिया जाता था । इन राज्यों के नागरिकों को भी दूसरे राज्यों के नागरिकों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था । सौंदर्य को स्थान समाज में ऊँचा होता था, इसीलिए विवाह के लिए उच्चकुलीन-सम्बन्ध की अपेक्षा आकर्षक सौन्दर्य को ही प्रधानता दी जाती थी, क्योंकि बच्चों का सुन्दर होना गर्व की वस्तु मानी गई थी । 'मेक्रिण्डल' ने तो यह भी लिखा है कि बच्चों का पालन माता-पिताओं की इच्छानुसार नहीं होता था, बल्कि राज्य के स्वास्थ्य-अधिकारियों द्वारा निर्णय लिया जाता था कि बालक स्वस्थ है और नागरिक बनने योग्य है, तब पालन होता था अन्यथा उसे समाप्त कर दिया जाता था । ÷ एरियन (Arrian) ने भी व्यास नदी के किनारे के दो गणराज्यों का उल्लेख किया है जो बहुत उपजाऊ, युद्ध-कुशल तथा श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था से सुशोभित थे ।

सिकन्दर ने वापस जाते समय भी अनेक गणराज्यों को पार किया, जो सिंधु नदी के किनारे से बिलूचिस्तान तक फैले हुए थे, जिनमें क्षुद्रक व मालव प्रसिद्ध थे । यूनानियों ने इन्हें क्रमशः आक्सीड्रकाई (Oxydrakai) तथा मलोई (Malloi) नाम दिया है । यूनानी इतिहास तो यह प्रकट करता है कि सिकन्दर महान् ने इन दोनों गणराज्यों को नष्ट कर दिया था, परन्तु पातंजलि के अनुसार 'क्षुद्रकोजितम्' क्षुद्रक विजयी रहते थे । मैसेडोनिया के लेखकों ने भी युद्ध के पश्चात् इन गणराज्यों की महत्ता स्वीकार करते हुए यह लिखा हैं कि ये गणराज्य सौ के करीब राजदूत भेजते थे, जो रथ पर सवारी करते थे तथा असाधारण प्रतिष्ठावान् होते थे । उनकी वेशभूषा सोने व जरी के काम सहित रेशमी वस्त्रों की होती थी । स्वतन्त्रता पर वे गर्व करते थे और ईश्वर से भयभीत न होकर, उसमें अटूट श्रद्धा व विश्वास रखते थे । इसलिए सिकन्दर महान् ने जो साधारणतः विरोधियों को पीड़ित करता था, यहां समस्त राजदूतों का सम्मान किया तथा प्रीतिभोज का आयोजन किया ।

यूनानियों ने 'अम्बसथास' गणराज्य का वर्णन भी किया है, जिसे सम्बस्ताई (Sambastai) और अबस्तनोई लिखा गया है, जो संख्या तथा शक्ति में भारतवर्ष में किसी

+ Mc Crindle—Megasthinese. Page 212.
* Strabo. XV 30.
÷ Mc Crindle—Invasion of India by Alaxander the Great-Page 219.

से भी कम नहीं थे (Second to none) वहां प्रजातन्त्रात्मक सरकार संगठित थी और उनकी सेना में ६०,००० पैदल. ६००० घुड़सवार और ५०० रथ थे। +इसी प्रकार उस्साडिग्रोइ (Ossadioi), म्यूजिकनी (Musicani) ब्रचमनोई(Brachmanoi) तथा पटाला (Patala) आदि का भी वर्णन मिलता है। इनमें से पटाला को हैदराबाद सिंध से मिलाया जाता है, जिसे प्राचीन पोटलपुरी नाम द्वारा अब भी स्वीकार किया जाता है। अन्य स्थानों का निश्चय अभी तक नहीं हो पाया है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि यूनानियों के वर्णनानुसार पंजाब व सिंध का लगभग समस्त भाग गणराज्यों से युक्त था।

यूनानी विद्वानों द्वारा हिन्दू गणराज्यों की वैधानिक स्थिति:—उपरोक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि यूनानी विद्वानों के मतानुसार भारतवर्ष में गणराज्यों के भी विभिन्न संविधान थे और प्रत्येक की कुछ मुख्य विशेषताएं भी थीं। वास्तव में विधान जनता की आवश्यकताएं तथा देश-काल और स्थिति की अनुकूलता को ध्यान में रखकर बनाये जाते थे। कुछ गणराज्यों में द्विसदनात्मक प्रणाली थी; जहां दूसरे सदन में निर्वाचित प्रौढ़ व्यक्ति होते थे और निर्वाचन में समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्ष मताधिकार प्राप्त होता था। इस प्रकार की स्थिति अम्बसथास प्रजातन्त्र राज्य में थी। क्षुद्रक तथा मालव गणराज्यों में स्थिति दूसरे प्रकार की थी। वहां राज्य की सत्ता एक व्यक्ति में निहित नहीं होती थी, न किसी छोटी संस्था में, बल्कि समस्त प्रजा में निहित होती थी और १०० या १५० प्रतिनिधियों द्वारा राज्य के महत्त्वपूर्ण काम करवाये जाते थे। * कथाइयन गणराज्य में निर्वाचित शासक की प्रथा थी। परन्तु यह निर्वाचित शासक सैनिक नेतृत्व नहीं करता था। लिच्छवि गणराज्य में सैनिक अध्यक्ष का पद भिन्न था, जिसे सेनापति कहते थे। पाटल गणराज्य में शासन-भार "मन्त्रिमण्डल" (Council of Elders) पर था और शासक मंत्रिमण्डल के प्रति उत्तरदायी रहते थे। यह राजतन्त्र व कुलतन्त्र का सुन्दर सुयोग था, जहां सत्ता का अन्तिम स्थान गण व संघ ही था कुछ गणराज्यों में प्रशासकीय या कार्यपालिका शक्ति द्वितीय सदन में रहती थी—और कुछ में संसद् के हाथ में। गणराज्यों में, महाभारत के अनुसार, गोपनीयता का प्रश्न हमेशा चिन्ताजनक माना जाता था, क्योंकि व्यक्तियों की संख्या अधिक होने तथा विचार-विमर्श के कारण सब विषय प्रकट हो सकते थे, इसलिए मन्त्र-सम्बन्धी (Policy-matters) विषय कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में रखे जाते थे। इन्हीं लोगों की कार्यकारिणी बनती थी और शेष प्रौढ़ व्यक्तियों की सभा द्वितीय सदन की भांति कार्य करती थी।

यूनानी विद्वानों ने कुछ ऐसे गणराज्यों का वर्णन भी किया है, जहां कार्यपालिका शक्ति कुछ परिवारों के हाथ में थी। उस समय उत्तराधिकार के नियमों का पालन किया जाता था, फिर भी गणराज्य कायम थे। ऐसे राज्यों को उन्होंने कुलतंत्रात्मक प्रजातन्त्र

+ Curtius (Bk. Ix, Ch. 8, Mc Crindle, Alaxander, P. 252

* Hindu Polity—Jayaswal, Page. 73

(Aristocratic Dem cracy) का नाम दिया है। इन गणराज्यों में बृहदाकार संसदें भी होती थीं। क्षुद्रक आदि लोग उच्चकोटि के दार्शनिक भी माने जाते थे। उनकी 'प्रत्युत्पन्न कुशाग्रमति" (Sharp-witted) प्रशंसनीय थी। दूसरे गणराज्य वेद व उपनिषदों की विद्वत्ता में निपुण थे, जिनके नाम आज तक चले आते हैं जैसे "कठ"। स्वतंत्र गणराज्यों का मुक्त वातावरण ही इतने ऊंचे दर्शन को जन्म देने का कारण माना जा सकता है। सङ्गीत का स्थान भी स्पृहणीय था। एरियन ने भारतीयों को "नृत्य व सङ्गीत के प्रेमी" बताया है। + केवल कलह (Disputes), विद्या (Science) तथा शिल्प (Art) का अधिक प्रचार ही गणराज्यों की प्रमुख कमजोरी मानी जाती थी। × परन्तु फिर भी बुद्ध ने लिच्छविगण की तुलना "देवताओं की मण्डली" से की है।÷ इस प्रकार गणराज्यों की अनेक वैधानिक तथा दूसरी सामान्य विशेषताओं का उल्लेख यूनानी विद्वानों ने किया है, जो महत्त्वपूर्ण है।

५. **महाभारत में गणराज्यों का वर्णन**--शांति पर्व के १०७ वें अध्याय में गणराज्यों की विशेषताएं बताई गई हैं। उनमें मुख्य ये हैं:—पहली, यह कि गणराज्य किसी शासक के प्रति स्वामिभक्त नहीं थे। दूसरी, गणराज्य का अर्थ समस्त जनता से होता है केवल शासक वर्ग से नहीं। तीसरी, शासक वर्ग (Governingbody) में सिर्फ गणमुख्य तथा प्रधान ही सम्मिलित होते थे। चौथी, सभा में सदस्य संख्या बड़ी होने के कारण महत्त्वपूर्ण नीति के विषयों की गोपनीयता कठिन होती थी। पांचवीं, गणराज्य अधिकांश अपने संघ (Confederations) बना लेते थे। छठीं, लोभ व द्वेष दो मुख्य कारण थे, जिनके द्वारा गणराज्यों में परस्पर वैमनस्य उत्पन्न होता था। सातवीं, गणराज्यों में परस्पर छल, भेद, बल, समझौता, प्रपंच, षड्यन्त्र आदि का प्रयोग किया जाता था और ऐसे गणराज्य का अवश्य विनाश होता था।

गणराज्यों के कुछ विशेष गुण भी होते थे। अच्छे गणराज्य में बुद्धिवृद्ध नागरिक परस्पर मिलकर चलने का भाव प्रोत्साहित करते थे। शुद्ध नियम व न्यायव्यवस्था के कारण तथा एक दूसरे के प्रति सद्व्यवहार द्वारा गणराज्य हर प्रकार से प्रसन्न रहते थे। अच्छे गणराज्य अपने बच्चों व सन्तान को निरन्तर अच्छा शिक्षण देने में संलग्न रहते थे। गणराज्यों का सर्वाङ्गीण विकास होता था। इसीलिये ये लोकप्रिय बन गये थे।

किन्तु गुण के साथ अवगुण का होना अनिवार्य सा है। गणराज्यों में कुछ भयङ्कर अवगुण थे, जैसे—क्रोध, विभाजन, सेना का प्रयोग आदि। वास्तव में गणराज्यों में भीतरी

+ "Lovers of Dance and Song". Mc Crindle-Page 136

× Hindu Poltiy—Page 78

÷ "Company of Tavatimsa Gods." Footnote Hindu Polity—Page 78

खतरा ही अधिक समझा जाता था और संघ-निर्माण उसकी बहुत बड़ी रोक और सुरक्षा का साधन माना गया था।

६. **मौर्यकाल में गणराज्यों का वर्णन**--मौर्य साम्राज्य में कुछ गणराज्य के क्षेत्र भी थे। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने अराकोसिया तथा एरिया के गणराज्य सिल्यूकस से जीते थे।[१] मौर्य साम्राज्य की नीति यह थी कि दृढ़ गणराज्यों को स्वतन्त्र सा ही छोड़ दिया जाय क्योंकि उनका जीतना या जीतकर वश में रखना कठिन होता है। अशोक की नीति भी गणराज्यों की ओर इसी तरह की थी। जनरल कनिंघम (स्वर्गीय) द्वारा तक्षशिला में प्राप्त कुछ सिक्के एकत्र किए गए हैं और उनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि गणराज्यों के अपने सिक्के चलते थे। इस प्रकार मौर्यकाल में भी गणराज्य थे और राजतन्त्र (Monarchy) के साथ मिलकर चलते थे। यह एक विशेष प्रकार के संबंध से चलते थे। इस समय के गणराज्यों के सिक्के तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

७. **गणराज्यों का लोप**--गुप्त-काल के आरंभ से गणराज्यों का लोप प्रारंभ होता है। गुप्त-शक्ति का साम्राज्य के रूप में प्रादुर्भाव लिच्छवि गणराज्य की मित्रता से होता है, क्योंकि उस समय तक लिच्छवि गणराज्य ही शक्तिशाली प्रधान गणराज्य रह गया था अन्य गणराज्य शक्ति व प्रभाव में अस्त हो चुके थे। यह एक विशेषता है जो ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है कि जिन गणराज्यों की सहायता से गुप्त-शक्ति प्रभावशाली बनी, उन्हीं गणराज्यों का लोप गुप्त-शक्ति द्वारा किया और अन्त में फिर गुप्त-शक्ति की नींव एक गणराज्य द्वारा ही हिला दी गई। ये गणराज्य थे मित्र-त्रय (Three Friendly Republics), जिनके नाम क्रमशः पुष्यमित्र--पटुमित्र--पद्ममित्र थे। इनका स्थान मालवा था।

ऊपर का समस्त वर्णन गणराज्यों का ऐतिहासिक परिचय कहा जा सकता है। इनकी कार्यपद्धति तथा अन्य वैधानिक रीति-रिवाजों पर अलग से वर्णन करना सर्वथा उचित व आवश्यक है। यहां केवल यह उल्लेख कर देना पर्याप्त है कि गणराज्य विभिन्न युगों में रहे और उनकी अपनी मुख्य विशेषताएं थीं। सामान्य विशेषताएं तो थीं ही और उनके प्रमाण पर्याप्त रूप में विद्यमान हैं। इस आधार पर यह मानना उचित है कि प्राचीन भारत में प्रजातन्त्रात्मक प्रवृत्तियां बहुत गहरे रूप में जमी हुई थीं तथा सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों के अतिरिक्त राजनैतिक क्षेत्र में भी जनता की स्वतन्त्रता और आत्मशासन के सिद्धान्त कार्यान्वित किये जाते थे।

---

१ V. Smith--Early History of India--Page 149-151

गणराज्य-परिशिष्ट

तकनी की हिन्दू संविधान (१००० ई० पू०) (Technical Hindu Constitution)—डा० जायसवाल के मतानुसार संघ राज्यों के दो भाग, 'गण' और 'कुल' होते थे और इनमें कई प्रकार के संवैधानिक तकनीकी (Technical) भेद होते थे जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं:—

(१) भोज संविधान (जहां वंश परम्परा द्वारा उत्तराधिकार मिलता रहता हो)

(२) स्वराज्य संविधान (जहां योग्यता के आधार पर अध्यक्ष का चुनाव होता हो) ।

(३) वैराज्य संविधान (जहां का विधान राष्ट्रीयता लिए हुए हो) (Kingless-ness)

(४) राष्ट्रिक संविधान (Non-monarchical Community—जहां जनता में अराजतन्त्रीय शासन हो) ।

(५) द्वैराज्य संविधान ; The rule of the two—जहां दो व्यक्ति शासन चलाते हों) ।

(६) अराजक (The non-ruler State)—जहां नियम का शासन हो, व्यक्ति का नहीं) । +

जैन सूत्र में निम्न ६ प्रकार के गणराज्य वर्णित हैं:—

(१) अराजक राज्य (Non-ruler States)

(२) गणतन्त्रात्मक राज्य (Gana–ruled States)

(३) युवराज शासित राज्य (Yuvaraj-ruled States)

(४) द्विशासित राज्य (Two-ruled States)

(५) वैराज्यीय राज्य (Vairajiya States)

(६) विरुद्ध-रज्जनी राज्य (States ruled by Parties)

उपरोक्त गणराज्यों का शासक वर्ग सदैव प्रतिज्ञावद्ध होता था और यह (Ceremony of Consecration) अभिषेक की औपचारिकता अनिवार्य होती थी । इसके बिना राज्य का विधिपूर्वक अस्तित्व ही नहीं माना जाता था । शासक अच्छा और निष्पक्ष तथा न्यायपूर्ण शासन चलाने की शपथ ग्रहण करते थे । लिच्छवि शासकों के यहां अभिषेक की प्रथा थी । मल्ल शासकों के यहां तो एक निश्चित स्थान था, वहीं यह "मुक्ता-बंधन" (Coronation) उत्सव सम्पन्न किया जाता था । हिन्दू राजनीतिक विचार में बिना अभिषेक अथवा राजतिलक हुए शासक (Un–anointed ruler) घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और उसे नियमविरुद्ध शासक (Unlawful ruler) माना जाता था । इस प्रकार गणराज्यों की विधि-परायणता तथा वैधानिकता अपूर्व और अद्वितीय थी जो आज भी नवोदित गणतन्त्रात्मक राज्यों के लिए आदर्श रूप में उपस्थित है ।

+ Hindu Polity—Dr. Jayaswal, Chapt. X.

छठा अध्याय

गणराज्य

(ii) Republics

हिन्दू गणराज्यों में विचार-विमर्श तथा विधि-निर्माण-पद्धति
(Procedure of Deliberations & lawmaking in Hindu Republics)

प्रस्तावना—प्राचीन गणराज्यों के विषय में हमारी जानकारी उस समय तक पूर्ण नहीं मानी जा सकती, जब तक हम उनके विचार करने की प्रणाली तथा विधि-निर्माण पद्धति से परिचय प्राप्त नहीं कर लेते। यद्यपि पूर्ण अधिकृत वर्णन प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध नहीं है, तथापि प्राप्त सामग्री उस समय की स्पष्ट झलक देने में समर्थ हैं। प्राचीन-काल के बौद्ध संघ, राजनैतिक संघों के अनुरूप ही स्थापित हुए थे तथा उनकी प्रक्रियाएं लगभग समान रूप में ही संचालित होती थीं। कौशलनरेश विरुढ़क द्वारा शाक्यों पर आक्रमण की घटना बहुत प्रसिद्ध है। उस समय शाक्य-सभा का अधिवेशन बुलाया गया था। प्रश्न यह था कि शाक्य आत्म-समर्पण करने के विषय में एकमत नहीं थे। एकमत न होने से बहुमत ज्ञात करना आवश्यक हो गया और सदस्यों के मत लिये गए। बहुमत ने द्वार खोलने का निश्चय किया और कपिलवस्तु के द्वार खोल दिए गए। × इसी प्रकार की अन्य कई घटनाएं हैं जिनसे संघों के विचार–विमर्श की प्रणाली का परिचय होता है। इनमें मल्लसंघ का अधिवेशन, पाली साहित्य में पावा के मल्लों द्वारा निर्मित उभटक नामक नवीन सभा-भवन का बुद्ध द्वारा उद्‌घाटन, शाक्यों के नवीन सभा-भवन का उद्‌घाटन (यह भी बुद्ध द्वारा ही किया गया था) आदि मुख्य हैं। इस प्रकार के अध्ययन से संघों की कार्य पद्धति का अनुमान लगाया जाता है।

१. स्थान (Seats)—कपिलवस्तु की उपरोक्त घटना के वर्णन से ज्ञात होता है कि सभाओं के अधिवेशन एक निश्चित भवन में होते थे जिसे "संस्थागार" कहा जाता था। इस भवन में बैठने का प्रबन्ध करने के लिए एक अधिकारी नियुक्त होता था, जिसे "आसन पंचापक" या "आसन प्रजन्यक" (Seat regulator) कहते थे। ÷

× रौकहिल–लाइफ ऑफ दी बुद्ध।
÷ चुल्लवग्ग–१२/२/६

२. गणपूरक (Quorum)—साधारणतया समस्त सदस्यों से उपस्थित होने की आशा की जाती थी परन्तु सब सदस्य उपस्थित नहीं हो पाते थे। इसलिए गणपूरक की प्रथा थी। बौद्धसंघ में गणपूर्ति के लिए कम से कम २० भिक्षुओं की उपस्थिति अनिवार्य थी। राजनैतिक संघों में भी गणपूर्ति अनिवार्य थी, परन्तु उनकी संख्या क्या थी इसका पता नहीं चलता है। प्रत्येक नियमित कार्यवाही के लिए गणपूरक अनिवार्य था तथा इसके विपरीत किया हुआ कार्य सच्चा कार्य नहीं माना जाता था।× गणपूर्ति के लिए एक सदस्य को उत्तरदायी बना दिया जाता था वही इस के लिए प्रयत्न करता था, उसे गणपूरक अधिकारी कहते थे। आजकल जो कार्य (Whip) सचेतक का माना जाता है, वही कार्य इस अधिकारी का था। परन्तु यह केवल एक बैठक के लिए होता था, जब कि आज के राजनैतिक दलों के सचेतक (Party Whip) सभा के पूरे कार्य-काल के लिए होते हैं।

३. अध्यक्ष (Speaker)—बौद्ध संघ के अधिवेशन का अध्यक्ष 'विनयधर' कहलाता था। राजनैतिक संघों में सभा की अध्यक्षता राजा या गणमुख्य करता था। अधिवेशन के अवसर पर निश्चित कार्य-क्रम (Agenda) का संचालन, अनुशासन की स्थापना तथा मन्त्रणा पर नियन्त्रण करना आदि अध्यक्ष के मुख्य कार्य थे। अध्यक्ष से पूर्ण निष्पक्ष रहने की आशा की जाती थी। विवादग्रस्त विषयों पर उसका निर्णय अन्तिम होता था यह नहीं कहा जा सकता परन्तु उसके पक्षपात करने पर कड़ी आलोचना की जाती थी।

४. प्रस्ताव (Motion)—विचार-विमर्श के लिए प्रत्येक विषय 'प्रस्ताव' या 'ज्ञप्ति' के रूप में आरंभ होता था। इसके बाद वह प्रस्ताव दुबारा नियमित रूप से (Resolution) निश्चित रूप में उपस्थित किया जाता था। इस अवसर पर मत लिए जाते थे और विवाद का अवसर मिलता था। मतदान (Voice-Vote) वाणी द्वारा प्रकट किया जाता था परन्तु सर्वसम्मति होने की स्थिति में मतदान नहीं होता था। विरोध होने की स्थिति में प्रस्ताव के पूरे तीन वाचन होते थे और पूर्ण निष्पक्षता व नियमानुसार पारित होने पर ही उसे शुद्ध स्वीकृत प्रस्ताव माना जाता था। जिसे "कर्मवाचा" कहते थे। मतदान के समय समर्थकों को मौन तथा विरोधियों को वाणी द्वारा विरोध व्यक्त करने को कहा जाता था।+ वादविवाद के समय सदस्यों में मण्डन, कलह तथा विवाद उठ खड़ा होता था। × निरर्थक लम्बे भाषण देते रहने की प्रथा भी प्रचलित थी। ÷ यह भी प्रतीत होता है कि राजनैतिक-दल होते होंगे जिनके कारण कभी-कभी कटुता बढ़ जाती थी और सत्ता प्राप्ति के प्रयत्न

× "अधम्मेन च भिक्खवे वग्ग कम्म अकम्मं न च करणीयं॥ महावग्ग IX. ३२.
+ महावग्ग
÷ चुल्लवग्ग

चलते रहते थे। महाभारत में वर्णित अन्धक-वृष्णि संघ की सभा में आहुक और अक्रूर ऐसे ही दलों के नेता थे। * आज के प्रजातन्त्रात्मक गणराज्यों की भांति प्राचीन काल के गण-राज्यों में भी दलबन्दी रहती थी तथा सदस्यों को स्वतंत्रतापूर्वक आलोचना-प्रत्यालोचना करने का पूर्ण अधिकार होता था। भाषणों के विषय में कुछ नियमों का पालन अनिवार्य था। चुल्लवाग्ग के अनुसार, पूर्व-निर्णीत प्रश्न दुबारा उपस्थित नहीं किये जा सकते थे, एक ही प्रश्न पर दो बार विचार व्यक्त नहीं किए जा सकते थे, तथा इन नियमों का उल्लंघन दण्डनीय माना जाता था।

५. सर्वसम्मति (unauimity) प्रत्येक प्रश्न पर सर्व-सम्मति प्राप्त करना श्रेष्ठ माना जाता था। इसलिए मत-भेद को दूर करने के लिए कुछ साधन भी अपनाए जाते थे जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं:—

१. सम्बन्धित प्रश्न को दलीय बैठकों में निपटाने का प्रयास किया जाता था जिसे 'तिन्वत्थारक' युक्ति कहते थे।

२. परस्पर विचारभेद दूर न होने की स्थिति में किसी दूसरे संघ के निर्णय के लिए भेज देते थे तथा उस निर्णय को स्वीकार करना अनिवार्य था।

३. सम्बन्धित प्रश्न विचारार्थ एक उप-समिति के सुपुर्द किया जा सकता था जिसमें बहुत योग्य सदस्य होते थे। इसे उद्‌वाहिका सभा भी कहते थे। संभवतः इस समिति का निर्वाचन सभा द्वारा होता था तथा इसमें एक प्रधान व एक मंत्री भी होता था। इस समिति का निर्णय सर्वमान्य होता था। दल-पद्धति के कारण यह भी होता होगा कि समिति में सदस्यों का अनुपात दल के आधार पर रखा जाता हो।

६. मतदान तथा मतसंग्रह की विधियां—(Voting & Vote-Collecting Systems)– सर्वसम्मति के अभाव में मत लिये जाते थे जिसकी एक विशेष प्रणाली थी। बौद्ध-संघ में इसे येभुय्यसिकेन (बहुमत से कार्य करना) कहा जाता था। ÷ मत के लिए 'छन्द' शब्द प्रयोग में आता था जिसका भाव "स्वच्छन्दता" से लिया जाता है। मतदान से पूर्व एक अधिकारी नियुक्त होता था जिसें (Teller) 'शलाका ग्राहक' कहते थे। मत-दान शलाकाओं द्वारा होता था जो विभिन्न रंगों की होती थी। चीनी साहित्य द्वारा यह भी

÷ चुल्लवाग्ग ४/१३
× शांतिपर्व ८१/१०

सिद्ध होता है कि शलाकाएँ लकड़ी की बनी होती थीं । + शलाका ग्राहक रंगों का महत्व समझता था और उचित उपयोग की प्रार्थना करता था मतदान गोपनीय होता था । मत-संग्रह की कुल तीन विधियां थीं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) गूल्हकम (गुप्त विधि)
(२) सकंण्ण-जल्पकमं (कान में धीरे से कह कर)
(३) विवटकमं (स्पष्ट रूप से)

शला का ग्रहण के पश्चात् बहुमत के आधार पर निर्णय घोषित कर दिया जाता था प्राचीन भारत में भी अनुपस्थित सदस्यों के मत एकत्र किए जाते थे और मत गणना के साथ इन्हें गिना जाता था । ऐसे मत केवल उपस्थिति की असमर्थता या रुग्णावस्था के कारण लिए जाते थे, परन्तु विरोध होने पर इन्हें भी रद्द कर दिया जाता था ।

मतदान तथा शलका का कार्य बहुत उत्तरदायित्व का माना गया था तथा शलाका ग्राहक को भी इस सम्बन्ध में बहुत अधिकार थे । यदि उसे यह सन्देह हो जाय कि इस निर्णय में सदस्य समझ कर मत न दे सके या निर्णय से संघ या धर्म को क्षति पहुंचेगी तो वह निर्णय को स्थगित अथवा उसका निर्णय कर सकता था × मतदान में अधर्म (Irregularity), सदस्यों से असमान व्यवहार, मतदाता की इच्छा के विरुद्ध मतदान अथवा किसी प्रभाव का प्रयोग करना आदि मतदान को अवैध घोषित करने के लिए पर्याप्त कारण थे । अन्यथा बहुमत का निर्णय मान्य होता था । इसे बहुतर (Greater number) कहा जाता था ।

७. प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त (Principle of Representation) जब संघ स्वयं सर्वसम्मति से निर्णय करने में असमर्थ रहता था तो प्रतिनिधि सभाओं की नियुक्ति भी (Delegation Committees) की जाती थी । इस सभा के समक्ष विभिन्न दल उपस्थित हो सकते थे । इस सभा में सदस्यों की संख्या पूरी न होकर ३,५ या ७ होती थी, जिससे निर्णय सरलता से लिया जा सके । मनुस्मृति तथा अर्थशास्त्र भी इसकी पुष्टि करते हैं, (Arthasastra, 61) । बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार इस सभा में 'धम्म', 'विनय' तथा विशेष व्यक्ति उपस्थित होने चाहिए । इस प्रकार शुद्ध न्याय की स्थापना के लिए प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त माना गया था ।

८. अन्तिम निर्णय (Res Judicata) एक बार नियमित प्रणाली के अनुसार निर्णय हो जाने के पश्चात् वही प्रश्न दुबारा विचार के लिए उपस्थित नहीं किया जा सकता था । जो निर्णय हो जाता था वही अन्तिम माना जाता था ÷ यदि कोई सदस्य

\+ Hindu Polity foot note (Page 95)

× हिन्दू सम्यता-प्रो० मुकर्जी पृ० २१०

÷ Hindu Polity—Page 98. "Having been once settled, it is settled for good."

सभा में अपना भाषण देते हुए मर्यादा का उल्लंघन करता था अथवा नियम एवं परम्पराओं के विरुद्ध व्यवहार करता था अथवा इसी प्रकार कोई अशोभनीय ढंग अपनाता था तो उसकी निन्दा की जाती थी और उसे खेदजनक घोषित करने की पद्धति भी प्रचलित थी। इस तरह निर्णीत प्रश्न को पुनः प्रस्तुत करना अपराध माना गया था।

(९) सभा के लिपिक (Clerks of the House):—इन सभाओं में लिपिक भी होते थे, जो निरन्तर सभा की कार्यवाही को लेखबद्ध करने में व्यस्त रहते थे। इस प्रकार सभा में जो भी प्रस्ताव, विवाद एवं विचार-विनिमय प्रस्तुत होते थे सभी लिखे जाते थे। एक बौद्ध ग्रंथ में ऐसा वर्णन मिलता है कि देवताओं की सभा हो रही थी उसमें चारों कोनों पर चार लिपिकों का उल्लेख भी है। ये लिपिक अपने निर्दिष्ट स्थान पर आसीन होते थे और सभा की प्रत्येक कार्यवाही को लेखबद्ध करते थे। × यह देवताओं की सभा का वर्णन है; परन्तु जैसा डा० जायसवाल का मत है, मनुष्य अपनी सब संस्थाओं को दैविक रूप में समझते थे, यह वर्णन भी मानव संस्थाओं का ही है। बुद्धकालीन युग में भारत की संसद् के भवनों में ये लिपिक होते थे और इनके बाद दर्शकों को प्रवेश के लिए आज्ञा लेनी होती थी। यह निष्कर्ष उपयुक्त ही है। चारों कोनों में चार लिपिक रहने का अर्थ यह है कि सभा बड़ी होती थी और एक-दो लिपिकों से कार्य ठीक नहीं हो सकता था। सभासद् अपने स्थानों से ही भाषण देते थे इसलिए समीप का लिपिक ही वह भाषण सुविधापूर्वक लेखबद्ध कर सकता था। इस प्रकार लिपिक का स्थान प्रतिष्ठित होता था और इन्हें (Great king) महाराजा कहा जाता था।

(१०) पारिभाषिक शब्दावली तथा कार्य प्रणाली का ऐतिहासिक महत्व (Historical Significance of the Terms & Procedure)—उपर्युक्त कार्य प्रणाली तथा पारिभाषिक शब्दावली यह सिद्ध करती है कि प्राचीन भारतीय गणराज्य राजनैतिक क्षेत्र में विकास के बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँचे हुए थे। उनकी कार्य पद्धति में तकनीकीपन (Technicality), वाणी विन्यास, भाषा की औपचारिकता, नियमों का पालन तथा वैधानिकता की सर्वोच्च सीमा प्रकट होती है। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह स्थिति सदियों के निरन्तर अभ्यास के फलस्वरूप प्राप्त हुई थी। ज्ञप्ति, प्रतिज्ञा, गणपूर्ति, शलाका, बहुमत निर्णय पद्धति, अंतिम निर्णय (Res Judlicata), सभा की कार्यवाही को लेखबद्ध रखना आदि पूर्ण विकसित तथा जागृत समाज में ही रह सकते हैं और इसीलिए बुद्ध ने इनकी परिभाषा या परिचय भी नहीं दिया; क्योंकि यह समस्त शब्दावली पूर्ण रूप से प्रचलित थी जातक ग्रंथ में तो सम्राट् का चुनाव भी 'नागर' Citizens of the Capital) तथा मंत्रियों के एकमत हो जाने के कारण होना वर्णित है। जिसे पूर्ण नगर का जनमत (Referendum) कह सकते हैं। जातक ग्रंथ में ही दूसरा प्रसंग यह भी है कि प्रस्ताव के तीन वाचन की प्रणाली बुद्ध से पूर्व भी थी और यह पद्धति एक हास्यमय कहानी द्वारा बतायी गई है। उस कहानी में एक पक्षी ने राजा के चुनाव के लिए प्रस्ताव दुबारा प्रस्तुत

× दीघ निकाय XIX, 14; as quoted by Dr. Jayaswal (Hindu Polity) P. 99.

किया। दो बार प्रस्ताव किया और दो ही बार विरोध हुआ और कहा—"प्रतीक्षा कीजिए।" विरोधियों ने भाषण के लिए समय मांगा जो इस शर्त पर मिला कि वे राजनीतिक सिद्धान्तों और नियमों का स्पष्टीकरण करेंगे। विरोध, अन्त में हुआ और यह कहा गया कि प्रस्तावित शासक की उपस्थिति शुभ नहीं होती (यह पक्षी उल्लू था)। इस दृष्टान्त द्वारा केवल सौंदर्य या उपस्थिति के निर्वाचन के सिद्धान्त का मखौल उड़ाया गया है। यह प्रणाली पहले लौकिक तथा बाद में बुद्ध कालीन बन गई है।

(११) नागरिकता तथा मताधिकार (Franchise & Citizenship)— साधारणतया गणराज्यों में नागरिकता का आधार परिवार होता था। महाभारत में यह प्रसंग आता है कि गणराज्य में 'कुल' व 'जन्म' के अनुसार समानता स्वीकार की गई है। डा० जायसवाल ने इसका अर्थ यह लगाया है कि राजनैतिक उद्देश्यों के लिए सब परिवार समान थे।+ पाली ग्रंथों में भी मताधिकार 'कुल' के अनुसार ही स्वीकार किया जाना माना गया है। गणराज्य में बड़े बड़े पद जैसे शासक, राष्ट्रिक, पेत्तनिक, सेनापति, गामगमनिका (नगरपति या President of Township), पूग गमनिका (औद्योगिक संघ का अध्यक्ष) आदि नागरिकों को ही मिलते थे। कात्यायन ने तो गणराज्य की परिभाषा ही इस प्रकार की है कि यह "कुलों की सभा" (Assembly of Kulas) है। अतः कुल ही नागरिकता का आधार था यह स्वीकार किया जाता है।

गणराज्यों में विदेशी लोगों को भी नागरिकता प्रदान की जाती थी। पाणिनि ने इस प्रकार के नियम बताए हैं जिनके द्वारा व्यक्ति का स्थायी निवास (अभिजनश्च), वर्तमान निवास (सोऽस्य निवासः) तथा भक्ति (Allegiance) आदि प्रकट किए जाते थे और अपनी भक्ति के अनुसार उन्हें पुकारा जाता था। जैसे आज भी निवास के अनुसार व्यक्तियों का निश्चय आसानी से किया जाता है और निवास के अनुसार ही अधिकांश नागरिकता प्राप्त करना आसान होता है, वही स्थिति प्राचीन काल में भी दृष्टिगत होती है। अफ्रीका के निवासी नागरिकता प्राप्त करने पर अफ्रीकन किंतु भारत की नागरिकता रखते हुए अफ्रीका में रहने पर भी भारतीय ही कहलाते हैं। प्राचीन काल में मद्र राज्य भक्ति वाले नागरिक मद्रक तथा वृज्जि राज्य की भक्ति अर्थात् वृज्जि की नागरिकता प्राप्त व्यक्ति वृज्जिक कहे जाते थे। भक्ति या Allegiance का अर्थ राजनैतिक स्वामिभक्ति या राज्य के प्रति कर्त्तव्य की भावना का प्राधान्य था। प्राचीन काल में कृत्रिम नागरिकता प्राप्त करने के उदाहरणों का अभाव नहीं है। इसलिए गणराज्यों की नागरिकता का प्रसार बहुत होता था। कुछ विचारकों ने भक्ति का अर्थ धार्मिक तन्मयता से लिया है किंतु यह सही नहीं है। पाणिनि ने स्वयं इसका प्रयोग राजनैतिक तथा संवैधानिक अर्थ में किया है। साथ ही जनपद, महाराजा आदि के साथ धार्मिक भक्ति का योग कहीं भी उचित ज्ञात नहीं होगा। अभिजन (स्थायी निवास) तथा निवास (अस्थायी निवास) आदि का संबंध तो स्पष्ट रूप

+ *Hindu Polity—Dr. Jayaswal-Page 102*

से नागरिकता के साथ ही सुन्दर और सार्थक प्रतीत होता है। प्राचीन काल के गणराज्यों में पूर्ण वयस्क मताधिकार नहीं था (Universal Adult Franchise) न सत्ता ही समस्त जनता में निहित थी।

(१२) नियम व न्याय व्यवस्था (Laws & Judicial System in Republics)–प्राचीन काल में कुलराज्य तथा गणराज्य दोनों के ही नियम प्रचलित थे और कुल न्यायालयों की अध्यक्षता भी कुलिक अर्थात् कुल के श्रेष्ठ लोगों द्वारा की जाती थी। 'वीर मित्रोदय' में यह भी मिलता है कि फौजदारी अपराध व अभियोगों की सुनवाई के लिए "अष्ट-कुलक न्यायालय" (Board of the Eight Kulikas) था और कुल न्यायालय की अपील गण न्यायालय में की जाती थी। न्याय का उत्तरदायित्व राज्य के अध्यक्ष का माना जाता था; इसीलिए न्याय सम्पादन गण के अध्यक्ष के नाम पर ही होता था। इन्हीं गणराज्यों में उद्योग-संगठन भी होते थे जिन्हें पूग (Puga of Gulids) कहा जाता था, इन्हें भी कुछ न्यायिक अधिकार होते थे; परन्तु इनके निर्णयों की अपील कुल न्यायालय या गण न्यायालय में हो सकती थी। सत्ता परिवर्त्तन के अवसर पर इन न्यायालयों के निर्णयों की अपील नवीन सर्वोच्च शासक के पास भी हो सकती थी।

प्राचीन हिन्दू न्याय व नियम शास्त्रों से यह प्रकट है कि इन गणराज्यों के नियम अलग व भिन्न भिन्न होते थे और उनकी मान्यता थी। यूनानी लेखकों ने तो हिन्दू गणराज्यों के नियमों की बड़ी प्रशंसा की है। महाभारत में भी इनका यश वर्णन किया गया है। लिच्छवियों के यहाँ तो **कानूनी नजीरों** का पूर्ण लेखा मौजूद था (Book of Legal Precedents)। नारद व बृहस्पति ने इन नियमों को "समय" का नाम दिया है। अर्थात् सम+इ=समान होना। सभा में सब लोग सहमत होकर ये नियम बनाते थे।

हिन्दू गणराज्य पद्धति का मूल्यांकन—गणराज्यों का विशद अध्ययन करने के बाद यह स्वाभाविक सा लगता है कि उनका उचित मूल्यांकन भी किया जाय। **न्याय और व्यवस्था** के क्षेत्र में हमारे हिन्दू गणराज्य बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँचे हुए थे, जिसका प्रमाण महाभारत में तो विद्यमान है ही, यूनानी लेखकों ने भी उसकी पुष्टि की है। अधिकांश गणराज्य अपने राजकीय लेख सुरक्षित रखते थे। निर्णय नजीरों (Precedents) के रूप में कार्यान्वित होते थे। अर्थशास्त्र का रचयिता व राजतंत्र का समर्थक कौटिल्य भी यह स्वीकार करता है कि गणराज्यों में न्याय व्यवस्था उत्तम थी।+ **अनुशासन** के क्षेत्र में भी गणराज्यों का आदर्श ऊँचा था। अनुशासन की स्थापना के लिए वृद्ध जन उत्तरदायी होते थे। अनुशासन छोटे-बड़े सभी के लिए अनिवार्य था। मन-वचन-कर्म तीनों का अनुशासन अपेक्षित होता था। महाभारत में वह प्रसंग बहुत महत्व रखता है जहाँ कृष्ण ने अपने मित्र नारद से अपने संघ की कुछ कठिनाइयाँ प्रकट कीं और उसके

+ अर्थशास्त्र Page 379—"न्यायवृत्तिहितः प्रियः"

फलस्वरूप कृष्ण को नारद से यह सुनना पड़ा कि अपनी वाणी पर नियंत्रण रखना चाहिए। संघ की प्रतिष्ठा व सुरक्षा के लिए ये गुण वास्तव में आवश्यक थे। वीरता भी गणराज्यों की एक विशेषता थी। वे युद्ध के लिए सदैव तैयार रहते थे और पराक्रम का प्रदर्शन प्रत्येक नागरिक के लिए गौरव का विषय होता था। स्वदेश सेवा में तन-मन-धन अर्पण करने को कटिबद्ध रहना लोकप्रिय आदर्श था। समानता सारे गणराज्य में व्याप्त रहती थी। प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं में समानता ही सबसे अधिक प्रिय आदर्श है। यह बड़ी सफलतापूर्वक गणराज्यों में सुरक्षित था। प्रशासन के क्षेत्र में गणराज्य सदैव सफल रहे हैं। महाभारत में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ गणराज्यों को बड़ी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा; किन्तु शासन की कुशलता के कारण वे सदैव सफल रहे। विशेषकर आर्थिक या धन की व्यवस्था में विशेष पटु थे। गणराज्यों के परिपूर्ण कोष लोकोक्ति बन गए थे।

सैनिक दृष्टि से सुसंगठित होना गणराज्यों के लिए अभय वरदान था। आज की भाँति सदैव ही सैनिक संगठन राजनैतिक व्यवस्था का मूल आधार रहा है। गणराज्य में सैनिक शिक्षण लगभग अनिवार्य सा था। डा० जायसवाल ने गणराज्यों को सैनिक राष्ट्र (Nation-in-arms) ही कह दिया है। × इसलिए गणराज्य किसी भी दूसरे प्रकार के राज्य अथवा सैनिक दृष्टि से निर्बल नहीं रहते थे। कौटिल्य ने इसीलिए गणराज्यों को "अजेय" (Invincible) माना है। गणराज्यों के सुदृढ़ बनने का दूसरा कारण था उनकी संघ-स्थापना की भावना। वे अधिकांश संघ बनाकर रहते थे जिससे उनकी शक्ति और भी बढ़ जाती थी। ऐसे संघों के अनेक उदाहरण हैं—जैसे क्षुद्रक-मालव संघ, अंधक-वृष्णि संघ आदि-आदि। संघ-गणराज्यों को पराजित करना एक असम्भावना मानी जाती थी।

औद्योगिक क्षेत्र में भी गणराज्य पीछे नहीं थे। उनकी सम्पन्नता और समृद्धि के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। महाभारत में तो इसका वर्णन है ही। प्रत्येक नागरिक का यह आदर्श होता था कि वह समाज में अग्रणी बने। यदि राजनैतिक क्षेत्र में सफल न हो तो आर्थिक क्षेत्र में अवश्य ही उसे सफल होना चाहिए। वाणिज्य के लिए गणराज्य सदैव यह चाहते थे कि उनके शत्रुओं की संख्या कम हो और मित्र बढ़ें ताकि परस्पर समृद्धि और सुख में सहयोग दे सकें। इस प्रकार वे सर्वतोमुखी प्रतिभाशील नागरिकों से युक्त उन्नत गणराज्य थे। कौटिल्य ने लिखा है कि वे एक साथ ही योद्धा और उद्योगपति थे, उनके नियम ऐसे थे जो उन्हें उद्योगपति और योद्धा बनने के लिए मजबूर करते थे। इस प्रकार कृषि व व्यापार पर ध्यान देने से उनके कोष सदैव पूर्ण रहते थे। यूनानी लेखकों ने यह स्पष्ट लिखा है कि गणराज्यों के नागरिक कृषक भी थे और उच्च कोटि के सैनिक भी। डा० जायसवाल ने लिखा है कि जो हाथ युद्ध में कुशलतापूर्वक तलवार का प्रयोग करते थे, वही हाथ समान सुगमता से दराँती (Scythe) का प्रयोग

× Hindu Polity-Page 170.

करने में भी अभ्यस्त थे।+ अर्थशास्त्र तथा बौद्ध ग्रन्थों से भी इसी विचार की पुष्टि होती है।

प्रशासनीय क्षेत्र में राजनीति के अत्यन्त विचारपूर्ण सिद्धान्तों के प्रयोग करते रहना भी गणराज्यों की विशेषता थी। शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त भी गणराज्यों में अपनाया गया था। न्यायपालिका लगभग स्वतंत्र और नियमादि के क्षेत्र में पूर्ण शक्तिशाली थी जबकि व्यवस्थापन के क्षेत्र में व्यवस्थापिका सभाएं पूर्ण शक्तिशाली थीं। कार्यपालिका का क्षेत्र अपने ही कार्यक्षेत्र तक सीमित था—न्यायपालिका और व्यवस्थापिका पर अनुचित प्रभाव डालने की क्षमता कार्यपालिका में नहीं थी। साथ ही इतनी कठिन पृथकता भी नहीं होती थी कि एक दूसरे के सहयोग से वंचित रहकर कार्य में ही बाधा आने लगे। सभी गणराज्यों द्वारा शक्तियों के विलगाव का सिद्धान्त अपनाया हुआ था। कई गणराज्यों में सेना-पति का पद निर्वाचित किया जाता था। लिच्छवि गणराज्यों में न्यायपालिका, सेना संचालन तथा कार्यपालिका के कार्य भिन्न भिन्न थे। यूनानी लेखकों ने इसकी पुष्टि की है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि ये गणराज्य राजनैतिक क्षेत्र में बहुत कुशल तथा वैधानिक अनुभव से पूर्ण थे।

डा० जायसवाल का मत है कि गणराज्यों का इतना अध्ययन करने पर ध्यान होता है कि उनसे संबंधित कुछ पुस्तकें भी प्राप्त होनी चाहिए। यह सब वर्णन महाभारत, अर्थ-शास्त्र, बौद्ध ग्रन्थ आदि से प्राप्त करते हैं जो अधिकांश राजतंत्रीय काल के ग्रन्थ हैं। ऐसे ग्रन्थों के अभाव में भी यह तो स्वीकार किया जाना चाहिए कि गणतन्त्रात्मक पद्धति की एक सुदृढ़ दार्शनिक पृष्ठभूमि होगी, उसके बिना इतने उच्चकोटि के तन्त्र की व्यवस्था असंभव-सी लगती है। अचानक ऐसी संस्थाएं जन्म नहीं ले सकतीं। साथ ही सहसा उत्पन्न तंत्र या संस्था दीर्घकाल तक प्रभावपूर्ण ढंग से सफलतापूर्वक चलती रहें, यह तो असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त कपिल और कठ के देश में, जिन्होंने राज्य से कहीं अधिक कठिन दार्शनिक समस्याओं के सफल हल निकाले, गणराज्यों के दर्शन का नितान्त अभाव रहा हो यह तो स्वीकार ही नहीं किया जा सकता। अतः यह आशा की जाती है कि भविष्य में स्वतंत्र भारत के शोधकर्त्ता ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों की खोज करके इस कमी की पूर्ति का प्रयत्न करेंगे ताकि गणराज्यों का अध्ययन सुदृढ़ आधार पर किया जा सके।

गणतंत्रात्मक सिद्धान्त के अनुसार निर्वाचित शासकगण राज्य का सेवक या दास माना जाता था। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त आर्यदेव की पुस्तक "चतुश्शतिका" द्वारा यह प्रामाणित किया जाता है कि वह गणराज्य का निर्वाचित शासक "गणदास" कहलाता था। महाभारत में भी कृष्ण ने यही घोषित किया था कि शासक के नाम पर मुझे वास्तव में सेवक का कार्य करना पड़ता है। ऐसे गणराज्यों में नागरिक का व्यक्तित्व भी महत्वपूर्ण माना जाता है। कुछ गणराज्य अवश्य ऐसे थे जहाँ राज्य से पृथक् व्यक्ति

+ "The hand which weilded the sword successfully was accustomed to use the scythe with equal facility" Hindu Polity Page 171.

का महत्त्व नहीं था, परन्तु अधिकांश गणराज्यों में व्यक्तिवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। अराजकवाद का सिद्धान्त व्यक्तिवाद की ही चरम सीमा है, जिस पर प्राचीन लेखकों ने विचार व्यक्त किए हैं और उन्हें महत्ता दी है। वास्तव में शासन तो नियमों द्वारा होता था व्यक्ति द्वारा नहीं। और कोई व्यक्ति अपनी सार्वभौमिकता किसी व्यक्तिविशेष या समूह-विशेष पर नहीं थोपता था। इस प्रकार व्यक्ति गत स्वतंत्रताएं सुरक्षित रहती थीं। गण-राज्य का संगठन सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर आधारित रहता था और उनके संघों की स्थापना तो स्पष्ट रूप से इन्हीं समझौतों के आधार पर होती थी। यह सामाजिक समझौते का सिद्धान्त भारतवर्ष में अतिप्राचीन माना गया है। डा० जायसवाल के मतानुसार सामाजिक समझौते का सिद्धान्त भारत में सबसे पुराना है।

किसी भी राज्य की सफलता का प्रमाण उसका दीर्घ-जीवन ही हो सकता है। इस दृष्टि से भारत के प्राचीन गणराज्य बहुत सफल रहे हैं। सतवंत भोज गणराज्य लगभग १००० वर्ष रहा और उत्तर मद्रास १३०० वर्ष। इसी प्रकार राजस्थान में मालव गणराज्य लगभग १००० वर्ष रहा। लिच्छवि गणराज्य पूरे १००० वर्ष रहा।

हिन्दू गणराज्यों के दोष—उपर्युक्त गुणों और विशेषताओं के होते हुए इन गणराज्यों में कुछ ऐसी कमियाँ भी थीं जिनके कारण ये चिरस्थायी नहीं बन सके। पहली बात, ये गणराज्य छोड़े छोटे भूमिभाग होते थे, जिसके कारण ये आत्मनिर्भर नहीं हो पाते थे। कुछ गणराज्य अवश्य बड़े थे; किन्तु अधिकांश आकार-प्रकार तथा साधन एवं संगठन की दृष्टि से छोटे ही होते थे। इसलिए जब कभी बड़े राज्य साम्राज्य बनाने की लिप्सा या छोटे राज्यों के हड़प जाने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते थे, उसी समय इनका जीवन समाप्त हो जाता था। महाभारत में यह वर्णन मिलता है कि जब अराजक राज्यों तथा दूसरे दृढ़ राज्यों में मुठभेड़ होती थी तो अराजक राज्य सूखी लकड़ी की तरह नष्ट हो जाते थे। यही बात अन्य प्रजातंत्रात्मक गणराज्यों के लिए सत्य प्रतीत होती है। दूसरी कमजोरी इन गणराज्यों में पारस्परिक द्वेष व षड्यन्त्रों की थी जो अधिकांश लोभ और प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न होते रहते थे। कौटिल्य ने यह लिखा है कि ये गणराज्य पारस्परिक विरोध व संघर्ष पैदा करने के लिए उपयुक्त थे। + परस्पर द्वेष उत्पन्न करके ही गणराज्यों को ध्वंस किया जा सकता था। कभी शत्रु द्वारा विरोध उत्पन्न कराया जाता था और कभी सभाओं में भाषण आदि के अवसर पर स्वयं उत्पन्न हो जाया करता था। महाभारत में कृष्ण कहते हैं कि भीषण भाषण सुनते सुनते मेरा हृदय तप गया। इसी प्रकार राजनैतिक दल पद्धति के कारण भी गुट्ट बन जाते थे। ऐसे अवसर पर कृष्ण की दूसरी उक्ति बहुत सुन्दर है जब कि आहूक व अक्रूर को दोनों दलों के बीच में यह चुनना पड़े कि किसका साथ दें और किसका नहीं। वे कहते हैं "दोनों के बीच मेरी स्थिति उन दो जुआरियों की माँ के समान है जो एक दूसरे के विरुद्ध दाव लगा रहे हों, और वह एक

+ Arthasastra-Kautilya "Fit soil for sowing the seeds of dissension."

की विजय और दूसरे की पराजय के लिए कामना नहीं कर सकती हो।"+ महाभारत में यही कहा है कि गणराज्यों के लिए ये आन्तरिक कलह और विवाद ही वास्तविक आपत्तियाँ थीं। इनकी तुलना में बाहरी आपत्तियाँ कुछ भी नहीं थीं। इन्हीं के कारण गणराज्य अस्तव्यस्त होते रहते थे।

निष्कर्ष—गणराज्यों के गुणों, विशेषताओं और दोषों का लेखा जोखा-करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत के गणराज्य प्रजातंत्रात्मक रूप में अत्यन्त वैधानिक और विकसित राज्य थे, जहाँ उन सब प्रक्रियाओं को स्थान मिला था जो आज बीसवीं सदी में भी कई तथाकथित गणराज्यों में विद्यमान नहीं है। वास्तव में उनका स्वरूप, कार्य प्रणाली, सिद्धान्त आदि आज भी विश्व के लिए और विशेष रूप से भारत के लिए अनुकरणीय हैं। राज्य को न्यास (Trust) समझना और शासक में जनता के दास बनने की भावना बहुत ही सुन्दर है। विदेशों का इतिहास ऐसी परम्पराओं से रिक्त है, जबकि भारत का अतीत ऐसी परम्पराओं से पूर्ण रूप से सम्पन्न है। आधुनिक भारत के लिए भी, प्राचीन काल की अन्य कई अनुकरणीय बातों के साथ ये परम्पराएँ भी अपना विशेष महत्व रखती हैं। जन-मत (Referendum) आदि की पद्धति, जो आज शुद्ध रूप में केवल स्विट्ज़रलैण्ड में प्रचलित है, वह प्राचीन भारत में थी। आज भी अन्य राष्ट्र उस पद्धति को अपनाने का साहस नहीं कर रहे। बड़े गर्व की वस्तु है।

प्रश्न

1. Describe the peculiarities of the Hindu republican constitutions as noticed by the Greek writers who came with Alexander.
2. What do you know of the procedure of work in the sessions of ancient Hindu republics?
3. What are the causes of the fall of republics according to the Mahabharat?
4. Describe the judicial procedure in a republic in ancient India.
5. Enumerate the different forms of republics obtaining in ancient India and give their chief characteristics.
6. Trace the history of Buddhist influence on political thought and institutions in ancient India?
7. Describe and comment upon the procedure of deliberation in the Hindu Republics.

+ Hindu Polity–Jayaswal–"Between the two, I am like a mother of two gamblers, staking against each other, who can not wish for the Victory of one and the defeat of the other." (Page 176.)

सातवाँ अध्याय

राज्य के उद्देश्य और कर्त्तव्य

(Aims & Functions of the State)

प्रस्तावना—प्राचीन भारत में राज्य का आदर्श क्या रहा है यह स्पष्ट रूप से एक ही स्थान पर उपलब्ध नहीं होता। वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख और भी अधिक अस्पष्ट है; परन्तु यत्र-तत्र जो प्रसंग प्राप्त होते हैं उनके आधार पर राज्य के मुख्य उद्देश्यों का निश्चय किया जा सकता है। राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना तथा सुरक्षा व न्याय की स्थापना करना सबसे प्रधान कर्त्तव्य समझे जाते थे। राज्य में सम्राट् या शासक को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता था और वही राज्य का प्रतीक समझा जाता था। वरुण देवता की भाँति दुष्टों का नाश तथा सज्जनों का पालन करना उसका मुख्य उद्देश्य होता था। इस प्रकार भौतिक व्यवस्था के साथ साथ नैतिक प्रगति और सामान्य कल्याण की ओर भी राज्य का ध्यान आकर्षित रहता था। राजा परीक्षित् का राज्य इसीलिए विख्यात था कि वहाँ दूध और घी की सरिताएँ बहती थीं और जनता की भौतिक तथा नैतिक उन्नति राज्य का मुख्य लक्ष्य था। यह समय वैदिक तथा उपनिषद्काल तक (600 B. C.) माना जा सकता है, जब राज्यों का मुख्य उद्देश्य जनहित-समाजकल्याण था। क्रमशः राजनैतिक साहित्य के विकास के साथ साथ राजनैतिक विचार भी उन्नत और विस्तृत हुए और राज्य के चार मुख्य उद्देश्य माने जाने लगे-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। चारों उद्देश्यों का भिन्न भिन्न अर्थ इस प्रकार लिया जाता था :—

(१) **धर्म**—प्राचीन भारत में धर्म का अर्थ बड़ा व्यापक था। संप्रदाय या पंथ के रूप में संकीर्ण अर्थ नहीं लिया जाता था। धर्म का तात्पर्य था धार्मिक पवित्र वातावरण की रचना करते हुए, मानवीय स्वाभाविक गुणों का विकास करना, परस्पर सहायता द्वारा चिकित्सा आदि की व्यवस्था करना, सदाव्रत बँटवाना, समस्त धार्मिक संस्थाओं की सहायता करना, धार्मिक साहित्य और विज्ञान को संरक्षण देना और सहिष्णुता तथा समन्वय का पाठ सिखाना-यह राज्य का धर्मसंबंधी उद्देश्य माना जाता था। किसी एक धर्म का पक्ष लेकर दूसरे धर्म की आलोचना करना या एक धर्म को क्षति पहुँचाकर दूसरे धर्म की उन्नति करना, कल्पनातीत विचार थे। उपर्युक्त व्यापक अर्थ में धर्म राज्य का प्रथम मुख्य उद्देश्य था।

(२) अर्थ—कृषि, उद्योग एवं व्यापार को उन्नत करना, अविकसित राष्ट्रीय साधनों का विकास करना, नई भूमि कृषि योग्य बनाना, बांध बनाकर नहरें निकाल कर नई नई योजनाओं द्वारा कृषि को वर्षा से स्वतंत्र बनाना, खनिज पदार्थों का अधिक विकास करना आदि अनेक साधनों से राज्य की अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ बनाना राज्य का दूसरा मुख्य उद्देश्य था। अर्थ-व्यवस्था राज्य की आधारशिला होती है। इसके दृढ़ रहते राज्य के लिए कोई संकट भयानक नहीं हो सकता। इसी कारण यह राज्य का महत्वपूर्ण उद्देश्य स्वीकार किया गया था

(३) काम—प्राचीन भारत में 'काम' का अर्थ भी व्यापक रूप में लिया जाता था। जब राज्य में शांति और सुरक्षा स्थापित हो जाती थी तो जनता का जीवन वैभवपूर्ण बनाने की ओर भी ध्यान दिया जाता था। संगीत, नृत्य, चित्रकारी आदि ललित कलाएँ तथा वास्तुकला का विकास भी ऐसे ही समय में होता था। इन सब साधनों से जनता का जीवन ऐश्वर्यशाली बनाया जाता था। पारिवारिक जीवन सुखपूर्ण तथा कलामय व्यतीत होता था। यही 'काम' के अन्तर्गत राज्य के मुख्य उद्देश्य थे, जिनके द्वारा प्रत्येक नागरिक को जीवन का कलामय उपभोग उपलब्ध होता था।

(४) मोक्ष—यह राज्य के उद्देश्यों में चरम लक्ष्य था। जीवन के अनेक पक्षों में यह अंतिम और अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। वैसे वर्णाश्रम धर्म का प्राधान्य भारतीय जीवन में सदा से रहा है। इनमें सन्यास आश्रम अंतिम और महत्वपूर्ण रहा है। परन्तु चारों ही आश्रम सही अर्थ और उचित ढंग से आचरण करने पर मोक्षदायक माने गए हैं। गृहस्थाश्रम सर्वोत्कृष्ट माना गया है, परन्तु उसमें त्याग की अपेक्षा अधिक की जाती है। फिर वानप्रस्थ और सन्यास क्रमशः सरल माने गए हैं। इन आश्रमों के द्वारा सबसे अधिक कार्य यह होता था कि वानप्रस्थ के समय व्यक्ति को समाज की निःस्वार्थ सेवा करनी पड़ती थी और सन्यास के समय वह केवल नैतिक सेवा में संलग्न हो जाता था। वर्त्तमान समय की समस्याएँ बेरोजगारी, अधिक आबादी, निवास की कठिनाई, अर्थ-व्यवस्था की असमानता आदि उस समय दृष्टिगत नहीं होती थी। इस प्रकार जीवनकाल में तथा जीवन के बाद भी हर प्रकार से मोक्षदायक व्यवस्था राज्य के उद्देश्यों में सम्मिलित की गई थी। समाज की यह निष्काम सेवा एक वरदान होती है और धर्म उसमें अलौकिकता ला देता है। इस प्रकार भारतीय विचारकों ने राज्य का बहुत ऊँचा आदर्श सामने रखा है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास द्वारा समाज का पूर्ण विकास करते हुए कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना प्रमुख उद्देश्य होता था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इसके ऐसे अचूक साधन थे जो राज्य की सफलता के लिए अनिवार्य भी थे। व्यापक और पर्याप्त भी।

कुछ लेखकों ने वर्णाश्रम धर्म को लेकर प्राचीन भारतीय व्यवस्था की कटु आलोचना की है। उनका विचार है कि इन मान्यताओं के आधार पर ब्राह्मणों को ऊँचा और शूद्रों को हर बात में नीचा बना दिया गया था। शूद्रों को सदैव के लिए ब्राह्मणों का दास मान लिया गया था और हर प्रकार के ऊँचे अधिकारों से वे वंचित रखे गये राज्य ने भी

उसका प्रतिपादन किया। इस विचार की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से श्री अंजरिया ने अपनी पुस्तक 'The nature and Ground of Political Obligation in Hindu State' में की है। डा० अल्टेकर ने यह विचार अस्वीकार किया है।+ उनका मत है कि उपर्युक्त बात उचित नहीं है। प्राचीन भारतीय परम्पराओं तथा शास्त्रादि के अध्ययन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहाँ किसी भी धर्म या व्यवस्था द्वारा किसी दूसरे का पतन या शोषण नहीं किया गया। इसलिए यह मानना कि वर्णाश्रम के द्वारा एक वर्ण ने दूसरे का शोषण किया और यह शोषण राज्य ने मौन स्वीकृति द्वारा मान्य ठहराया, निराधार है। आधुनिक युग की भाँति वह युग व्यवस्थापिकाओं में प्रचार या घोषणाओं द्वारा किसी नियम को मान्यता नहीं देता था। पहले हर परम्परा को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती थी और बाद में राज्य द्वारा उसे अपनाया जाता था। डा० अल्टेकर ने ऐसे अनेक उदाहरण दिए हैं। उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं-(१) अंतर्जातीय विवाह एवं भोज-प्रचलित तो थे परंतु पहले समाज ने स्वीकार किये तत्पश्चात् राज्य ने भी उन्हें उचित माना। (२) विधवा स्त्री को उत्तराधिकार-पहले नहीं था परन्तु आवश्यकतानुसार बाद में स्वीकार किया गया। (३) साथ ही नियोग (Levirate) पहले मान्य था किन्तु बाद में निषिद्ध घोषित किया गया। इस प्रकार समय और स्थिति के अनुसार नियमादि परिवर्त्तनशील रहते थे और राज्य सदैव जागरूक रहता था। आवश्यक नियमों को अपनाना तथा सारहीन अथवा घातक नियमों को निरस्त करना राज्य का ही कार्य था। मध्ययुग में हिन्दू समाज में कुछ संकीर्णताएँ बढ़ीं और उनसे सामाजिक जीवन में भी सीमाएँ और प्रतिबन्ध बढ़े; किन्तु यह सब सामाजिक संकुचित मनोवृत्तियों का फल था, राज्य के प्रयत्नों का फल नहीं। ऐसे उदाहरण भी हैं जहाँ राज्य के प्रयत्न बहुत समय तक समाज में कार्यान्वित नहीं हो सके। शारदा एक्ट उनमें से एक है। नियम बन जाने पर भी जनता ने वर्षों तक उसका पालन नहीं किया। अतः यह सत्य है कि राज्य ने ये असमानताएँ न स्थापित कीं, न धर्म का अनुचित अर्थ लगाया। केवल सामाजिक मनोवृत्तियों के परिणामस्वरूप यह स्थिति बनी। राज्य के उद्देश्य सदैव ऊँचे और जन-हित तथा कल्याण के लिए अग्रसर रहे।

प्राचीन भारतीय राज्यों का स्वभाव—प्राचीन भारतीय राज्यों के उद्देश्यों में धर्म का स्थान होने के कारण अधिकांश यह शंका की जाती है कि ये धर्मराज्य (Theocracy) तो नहीं थे। इस शंका को और अधिक बल इस बात से मिलता है कि इन राज्यों में भी ब्राह्मणों का महत्त्व अधिक था। परन्तु धर्मराज्य की विशेषताएँ दूसरी हैं। धर्मराज्य में धर्म का अध्यक्ष ही राज्य का सम्राट् होता है। जैसे इस्लामी राज्यों में खलीफा, या वेटीकन राज्य में पोप (पादरी) होता है अथवा शासक गिरजाघर के एजेन्ट या सहायक के रूप में काम करता है; जैसे ८वीं और ९वीं सदी में यूरोप में था। ऐसे राज्य में धर्माध्यक्ष, नियमानुसार शासन न चलाने पर शासक को दण्डित कर सकता है। धर्माध्यक्ष की आज्ञाएँ शासक या सम्राट की आज्ञाओं की अपेक्षा अधिक बलवती एवं प्रभावशाली होती हैं।

+ State and Government in Ancient India—Page 45

प्राचीन भारत में ऐसा धर्मराज्य नहीं था । इस विवाद में शंका का आधार यह है कि कुछ स्थानों पर 'पुरोहित' को सम्राट् के दण्ड से परे माना गया है । + कहीं यह मान्यता है कि यदि राजा के पास सुयोग्य ब्राह्मण पुरोहित नहीं है तो देवता और पितर उसके द्वारा किया हुआ तर्पण या उदक् स्वीकार नहीं करेंगे ।× राज्याभिषेक उत्सव में भी ब्राह्मण का महत्व-पूर्ण स्थान था । यह भी मान्यता थी कि जो सम्राट् अपने पुरोहित को आदरपूर्वक प्रसन्न रखता है वह सरलता से अपनी जनता का स्वामी बन जाता है और अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है । ÷ इन उदाहरणों से यह लक्षित होता है कि ब्राह्मणकाल (1:00 B. C.) तक राजा पर पुरोहितों का प्रभाव रहा और इसके द्वारा राज्य पर भी अधिकार बना रहा । बाद में क्षत्रिय और ब्राह्मणों में समझौता हो गया और दोनों एक दूसरे को अपने लिए सहायक बनाने लगे । ग्रेगरी सप्तम ने इसीलिए यह माना कि शासकत्व और धर्माध्यक्षत्व दोनों दैविक हैं और दोनों मानव की दोनों आँखों के समान हैं जो नितान्त आवश्यक हैं । भारतवर्ष में पुरोहित का स्थान तो ऊँचा था ही, उसे नियमादि के संबंध में भी व्यापक अधिकार थे । वर्णाश्रम धर्म भी वह संशोधित कर सकता था । कर तथा अन्य दण्ड से वह मुक्त था । मौर्यकाल में "धर्ममहामात्रा" तथा गुप्तकाल में "विनय स्थितिस्थापक" की नियुक्तियाँ धर्म नियंत्रण तथा पथ-प्रदर्शनिए के लिये ही होती थीं । इससे भारतीय राज्यों को धर्मराज्य समझने का भ्रम हो सकता है । परन्तु यह विचार बहुत बढ़ाकर अतिशयोक्ति कर दिया गया है । वास्तव में शासक ही ब्राह्मण पर शासन चलाता था ।* सम्राट् ब्राह्मण को निष्कासित (Expel) भी कर सकता है । अतः यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि वैदिक काल में सम्राट् या राज्य, ब्राह्मणों के हाथ में थे और इस कारण धर्मराज्य कहे जा सकते हैं । राज्य तो वास्तव में जनता की इच्छा का सामाजिक प्रयोग था । अतः प्राचीन भारत में "धर्मराज्य" नहीं थे, केवल वैसे प्रतीत होते थे, क्योंकि ब्राह्मणों को कुछ विशेष अधिकार जैसे कर या मृत्युदण्ड से मुक्ति आदि प्राप्त थे । फिर भी वास्तविक स्थिति इन सैद्धान्तिक विचारों से दूर थी और ब्राह्मणों का प्रभाव क्रमशः न्यून होता जा रहा था । विशेषकर ई० ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में धर्म का यह प्रभाव और भी कम हो गया । वैदिक कालीन बलिदान स्वयं घृणास्पद बनते गए और राजनीति एक विज्ञान के रूप में विकसित होने लगी । शासक वर्ग ने वेद और उपनिषदों की अपेक्षा राजनीति का अध्ययन आरम्भ किया और क्रमशः धर्म का स्थान गौण बनता गया । ईसाई युग के आरंभ में राज्य का धार्मिक पक्ष कमज़ोर हो गया । सम्राट् या शासक का मुख्य कर्त्तव्य समस्त जनता को समान अधिकार देना माना जाने लगा और धर्म के क्षेत्र में किया जाने वाला कार्य राज्य के

+ गौतम धर्मसूत्र (500 B. C.) "राजा वै सर्वस्येष्ठे ब्राह्मणवर्जम्"

× आत्रेय ब्राह्मण—"न वै अपुरोहितस्य देवा बलिमश्नुवन्ति ।"

÷ ऋग्वेद—"तस्मिन्वशः स्वयमेवानमन्त यस्मिन्ब्रह्मा राजनि पूर्वमेति । 507-9
स इन्द्राजा प्रति जन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थौ अभि वीर्येण ।

* यदा वै राजा कामयते अथ ब्राह्मण जिनाति" III 9-14

अधिकारियों द्वारा होने लगा । राज्य का कोई विशेष धर्म नहीं होता था । उसके लिए सब धर्म समान थे । इसलिए यह स्पष्ट निर्णय किया जाता है कि भारतवर्ष में धर्मराज्य नहीं था ।

कर्त्तव्य (Functions)—प्राचीन भारत में राज्य के उद्देश्यों पर विचार करने के पश्चात्, कर्त्तव्य पर विचार करना शेष रहता है । आधुनिक काल में राज्य के कर्त्तव्य दो भागों में बाँटे जाते हैं–अनिवार्य और ऐच्छिक । अनिवार्य कर्त्तव्य वे हैं जो राज्य का अस्तित्व बनाए रखने के लिए अति आवश्यक हैं; जैसे–सुरक्षा, विदेशी संबंध, शांति-व्यवस्था आदि । ऐच्छिक कर्त्तव्य,वे हैं जिन्हें करने से जनता का अधिक कल्याण हो सकता है, समृद्धि बढ़ सकती है; जैसे–शिक्षा, स्वच्छता, व्यापार संचालन, यातायात के साधन, वनों व खनिज पदार्थों का विकास आदि । प्राचीन भारतीय प्राप्त सामग्री के आधार पर यह कहा जाता है कि दीर्घकाल तक भारतीय राज्य केवल अनिवार्य कार्य ही करते रहे ।+ वैदिक काल के राज्य शांति स्थापना, विदेशी आक्रमणों से नागरिकों की सुरक्षा, नियमों का पालन आदि कार्य करते थे । उसके पश्चात् राज्यों का कार्यक्षेत्र व्यापार बना । महाभारत और अर्थशास्त्र आदि राजनैतिक ग्रन्थों के द्वारा यह बताया जाता है कि वैदिक काल तथा मौर्यकाल के मध्य में ही यह विकास हुआ । इस विकास का क्रम अभी तक स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है ।

उपर्युक्त साधनों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक था । मानव जीवन से सम्बन्धित सभी क्षेत्रों में राज्य का अधिकार था और कर्त्तव्य-पालन किया जाता था । सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन के पक्ष भी राज्यान्तर्गत थे । व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Laissez Faire) की भाँति राज्य को अनिवार्य दोष नहीं माना जाता था, जिसके द्वारा राज्य का क्षेत्र भी अत्यन्त सीमित बनाने का दम्भ किया जाता है । प्राचीन काल के राज्य मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष की व्यवस्था करना चाहते थे । इसीलिए सब धर्मों को समान सुविधाएँ देना, नैतिकता, पवित्रता और सहिष्णुता का वातावरण बनाना, सामाजिक व्यवस्था करना, शिक्षा, कला व विद्वत्ता को प्रोत्साहित करना, विद्यालय, पाठशालाएँ तथा अन्य शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करना आदि राज्य के मुख्य कर्त्तव्य माने गए थे । इस प्रकार प्राचीन भारतीय राज्य 'पुलिस राज्य' (Police State) न होकर एक वास्तविक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) थे । जातक और पुराण भी इसी विचार की पुष्टि करते हैं । इसलिए जनता के लोक व परलोक का हित साधन करना, समस्त मानव मात्र की भलाई का प्रयत्न करना, किसी प्रकार का वर्ग, जाति और धर्मभेद न मानना तत्कालीन राज्य की प्रमुख विशेषताएँ थीं ।

वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए प्राचीन राज्यों के कर्तव्यों को कौटिल्य के मतानुसार हम निम्नांकित भागों में बाँट सकते हैं:—

+ State & Govt. in Ancient India–Altekar–Page 53

(१) आर्थिक कर्त्तव्य (Economic Functions)
(२) सामाजिक कर्त्तव्य (Social Functions)
(३) सांस्कृतिक कर्त्तव्य (Cultural Functions)
(४) शिक्षा सम्बन्धी कर्त्तव्य (Educational Functions)
(५) परोपकारी कर्त्तव्य (Philanthropic Functions)
(६) अन्य कर्त्तव्य (Miscellaneous Functions)

(१) आर्थिक कर्त्तव्य—अर्थशास्त्र राजनैतिक जीवन का आधार माना जाता था। आज भी अर्थव्यवस्था ही राज्य का प्राण समझी जाती है। राजनीति और अर्थव्यवस्था के घनिष्ठ सबंध के कारण ही कौटिल्य ने अपनी राजनीति की पुस्तक का नाम भी अर्थशास्त्र ही रखा था। कौटिल्य के मतानुसार जनता के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन की व्यवस्था कराना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य था। समस्त सम्भव साधनों द्वारा जनता की समृद्धि करना राज्य का उत्तरदायित्व था। राज्य के कृषक समुदाय को समस्त राज्य में समान रूप से निवासित करना चाहिए था। इसलिए अधिक आबादी वाले भागों से उन्हें हटाना तथा कम आबादी वाले भागों में आमन्त्रित करना और आवश्यकतानुसार नए ग्राम स्थापित करना भी राज्य का कर्त्तव्य होता था। इसके अतिरिक्त "अध्यक्ष-प्रचार" नामक पुस्तक में कर्मचारियों के दो प्रकार के कर्त्तव्य बताए गए हैं। प्रथम-राज्य का प्रशासन और द्वितीय-राज्य की ओर से उद्योग व व्यापार की व्यवस्था करना। इस प्रकार राज्य के उद्योग-धन्धों की व्यवस्था और उचित नीति निर्धारित करना राज्य का ही कर्त्तव्य था। कृषि के क्षेत्र में जो अधीक्षक (Superintendent) होता था, वह अन्य कार्यों के साथ राज्य की भूमि (Crown Lands) में खेती करवाने की व्यवस्था भी करता था। इसके लिए राज्य अपने अलग यंत्र और साधन जैसे बैल आदि भी रखता था। अकाल के समय ये ही राज्य भंडार खोल दिए जाते थे, जहाँ प्रतिवर्ष की उपज सुरक्षित रखी जाती थी।

उद्योग (Industries) भी राज्य द्वारा नियंत्रित होते थे। खनिज का स्वामित्व राज्य का ही माना जाता था और उनकी उन्नति करना राज्य का ही कर्त्तव्य था। परंतु उनकी कार्य प्रणाली दूसरे प्रकार की थी। साधारणतः जनता द्वारा उनका उपयोग होता था। कौटिल्य कहता है–'राज्य' जनता को खानों के लिए आज्ञापत्र (Licence) दे देता था किन्तु फिर खानों में नियमविरुद्ध काय करने वालों को बेगार (Forced labour) का दण्ड मिलता था। अधिकांश व्यापार केन्द्र के अधीन था और कुछ पदार्थों के व्यापार में राज्य अपना एकाधिकार रखता था; जैसे नमक आदि। वन का उपयोग भी राज्य स्वयं ही करता था। इसकी व्यवस्था के लिए पूरा प्रबन्ध किया जाता था। व्यापार के क्षेत्र में, मूल्य निर्धारण तथा लाभांश राज्य द्वारा निश्चित किया जाता था। स्थानीय वस्तुओं में निर्धारित मूल्य पर ५ प्रतिशत तथा बाह्य उत्पादित वस्तुओं पर १० प्रतिशत लाभ स्वीकृत किया जाता था। इस व्यवस्था के विरुद्ध मूल्यवृद्धि या लाभवृद्धि करने को अपराध माना जाता था। चाहे वह किंचित्मात्र ही क्यों न हो। इसके लिए ५ से लेकर २०० पण (तत्कालीन मुद्रा)

तक अर्थदण्ड दिया जा सकता था। व्यापारिक क्षेत्र में भी सुरक्षा का भार राज्य का था और व्यापार में किसी भी प्रकार की क्षति राज्य द्वारा पूरी की जाती थी। इस प्रकार राज्य एक बीमा कम्पनी की तरह कार्य करता था। × श्रमिकों की सुरक्षा का भार भी राज्य पर था। उन्हें क्षति पहुंचाने वाले पर १००० पाण तक अर्थदण्ड की व्यवस्था थी। तेल, खाँड आदि का व्यवसाय राज्य के अधीक्षकों के सुपुर्द था तथा झीलों व तालाबों में मछली, नौका, सब्जी आदि का व्यवसाय भी सम्राट् के ही अधीन था। आर्थिक क्षेत्र में राज्य पूर्ण रूप से कर्त्तव्यपालन करता था और कोई सीमा या बन्धन राज्य के अधिकारों पर नहीं था। राज्य की समृद्धि और जनता के जीवन की संतुलित अर्थव्यवस्था रखना मुख्य लक्ष्य था।

(२) सामाजिक कर्त्तव्य—राज्य के सामाजिक जीवन में कई महत्वपूर्ण कार्य सरकार द्वारा किये जाते थे। समाज की व्यवस्था साधारण नियमानुसार होती थी। नियमों का उल्लंघन अपराध माना जाता था। समाज का नैतिक स्तर बनाए रखना भी राज्य का कर्त्तव्य था। इसलिए संतान व माता-पिता के संबंध, पति-पत्नी के संबंध ठीक रहना आवश्यक था। सामाजिक दुर्गुणों पर राज्य नियंत्रण रखता था। शराब घर, वेश्यागृह, जुआघर (Gambling House) तथा अन्य ऐसे स्थानों के अधीक्षण के लिए "नैतिक अधीक्षक" (Superintendents of Morality) रक्खे जाते थे। जुआघरों की जीत का ५ प्रतिशत राज्य को मिलता था। इस प्रकार सामाजिक कर्त्तव्य का क्षेत्र व्यापक था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता सीमित थी। जैसे आधुनिक काल में भी सर्वोच्च प्रजातंत्रात्मक राज्यों में जनहित और समाजकल्याण के लिए हर प्रकार के नियम और प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। वही स्थिति प्राचीन भारत में थी।

(३) सांस्कृतिक कर्त्तव्य—प्राचीन भारत का राज्य संस्कृतिप्रधान संस्था थी। उस समय जनता की संस्कृति को समुन्नत करते रहना भी राज्य का कर्त्तव्य था। इसलिए वर्णाश्रम धर्म तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यों पर राज्य नियंत्रण रखता था। कौटिल्य के मतानुसार राज्य का कर्त्तव्य था कि धर्म पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जावें; जैसे साधू बनने के लिए निश्चित अवस्था और स्थिति निर्धारित की जाय। इसी प्रकार पारिवारिक वातावरण उपयुक्त बनाए रखने के लिए यह आवश्यक रखा जाय कि भाई-बहिन, चाचा-भतीजे, पिता-पुत्र परस्पर एक दूसरे को धोखा न दें, न झूठ बोलें। स्त्रियों की सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध करना राज्य का कर्त्तव्य था। महिलामात्र का सम्मान करना व प्रतिष्ठा की रक्षा का भार राज्य पर माना गया था। किशोर बालिकाओं की सुरक्षा, प्रेमियों के संबंध, संबंधविच्छेद या विवाह-आदि की व्यवस्था भी राज्य द्वारा की जाती थी। जनता में सांस्कृतिक चेतना बनाए रखने के लिए सब प्रकार की कलाओं का विकास हो, यह ध्यान रखा जाता था। नृत्य कला, संगीत कला, नाट्य कला आदि इसीलिए बहुत उन्नत थी। मनोरंजन तथा विनोद आदि की व्यवस्था भी राज्य करता था। वेश्यावृत्ति की प्रथा यद्यपि बुरी मानी

× "State thus played the role of a modern Insurance Company".

जाती है परन्तु प्राचीन भारत में यह भी राज्य द्वारा पूर्ण रूप से नियंत्रित थी। इस प्रकार राज्य सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने कर्त्तव्यपालन में सच्चे थे।

(४) **शिक्षा संबंधी कर्त्तव्य**—शिक्षा के क्षेत्र में राज्य सदैव से उदार रहता आया है। शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए बड़ी बड़ी शिक्षा संस्थाओं और अकादमियों की स्थापना की जाती थी। उच्चकोटि के विद्वानों और कलाकारों को राज्य द्वारा संरक्षण दिया जाता था। अच्छे साहित्य, काव्य अथवा शास्त्रों की रचनाएँ पुरस्कृत की जाती थीं। गुरु का स्थान सर्वत्र ऊँचा और आदरणीय माना जाता था। इस प्रकार अत्यन्त उदार वृत्ति से शिक्षा संबंधी कार्य करते हुए भी तत्कालीन राज्य इन शिक्षण संस्थाओं पर अपना नियन्त्रण नहीं रखता था। आजकल भी भाँति शिक्षा संचालक और उसके अधीनस्थ कर्मचारियों के समूह द्वारा राज्य इन संस्थाओं को नियंत्रण में नहीं रखता था।+

(५) **परोपकारी कर्त्तव्य**—राज्य की ओर से परोपकार के क्षेत्र में कई कार्य किये जाते थे। विश्रामगृहों की स्थापना, सदाव्रत की व्यवस्था, चिकित्सालय खोलना, प्राकृतिक संकट के समय सहायता ×, अनाथालय खोलना, गर्भवती स्त्रियों के लिए सहायता, वृद्ध व असहायों की व्यवस्था तथा दुखी और पीड़ित लोगों की सहायता के लिए व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य होता था। जनता की धार्मिक संस्थाओं को सहायता देना तथा धर्म की प्रवृत्तियों का प्रोत्साहित करना भी राज्य का कर्त्तव्य था। परन्तु सब धर्म समान समझे जाते थे।

(६) **अन्य कर्त्तव्य**—उपर्युक्त कर्त्तव्यों के अतिरिक्त मुख्य प्रशासनीय कर्त्तव्य प्रधान थे। जहां व्यवस्थापिका और कार्यपालिका और न्यायसंबंधी कर्त्तव्य राज्य हर प्रकार ध्यान से करता था और इन कर्तव्यों का पालन ही राज्य को सफल और असफल बनाता था। इन कार्यों का सम्पादन राज्य स्वयं न करके अपने अधीनस्थ अनेक अंगों द्वारा संचालित करवाता था। जिनका वर्णन आगे यथोचित स्थान पर किया जायगा (अध्याय-प्रशासन)।

राज्य के ऊपरिवर्णित कर्त्तव्यों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य का क्षेत्र व्यापक था। परन्तु फिर भी विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त अपनाया गया था। स्थानीय संस्थाएँ; जैसे पंचायत, श्रेणी, पूग आदि को अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वाधीनताएँ प्राप्त थीं। इन संस्थाओं के सहयोग द्वारा ही राज्य केवल वे कर्त्तव्य करता था जो समाज के लिए आवश्यक तथा कल्याणकारी थे। व्यक्ति की स्वतंत्रता भी पूर्ण रूप से सुरक्षित थी। डा० अल्टेकर का मत है कि प्राचीन भारत में राज्य का क्षेत्र इसलिए व्यापक था कि जनता, राज्य द्वारा

+ डा० अल्टेकर—State & Govt. in Ancient India-Page-55

× संकट कई प्रकार के माने गए हैं; जैसे-महामारी, बाढ़, टिड्डी, अकाल, भूकम्प, वर्षाधिक्य, अग्नि आदि।

अपने हितों की सुरक्षा में अधिक विश्वास करती थी, व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं के प्रति राज्य की ओर से उसे कोई चिन्ता नहीं थी।+

आधुनिक काल में कुछ भारतीय विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन भारत में "राज्य-समाजवाद" अथवा (State Socialism) था, जहाँ उत्पादन के साधन तथा वितरण राज्याधीन था। परन्तु यह विचार उचित नहीं है। प्राचीन भारत में सीमित व्यवसायों में राष्ट्रीयकरण के प्रयोग तो किये गए थे और वितरण में भी सिद्धान्त रूप में समानता को उचित माना था। किन्तु केवल इसी आधार पर पूरी व्यवस्था को "राज्य-समाजवाद बताना तो सत्य से दूर हो जाता है। डा० बेनीप्रसाद के मतानुसार" हिन्दू राज्य केवल सांस्कृतिक राज्य ही नहीं था वरन् पूर्ण रूप से व्यापक नैतिक और आध्यात्मिक समुदाय था। सबसे अधिक गौरव का विषय तो यह था कि धार्मिक तत्परता के होते हुए भी, जिसके कारण यह अनेक अवसरों पर प्रभावित हुआ, साधारणतया यह सब प्रकार के धार्मिक विश्वासों के प्रति सहिष्णु था।÷ श्री वन्द्योपाध्याय के मतानुसार अर्थशास्त्र में वर्णित सरकार एक विशेष प्रकार का प्रशासनीय पितृवाद है जो वर्ग संबंध निर्धारित करता है और अपने साधनों का उपयोग समाज के कल्याण के लिए करता है।* इस प्रकार राज्य के कर्त्तव्यों का अध्ययन करते हुए यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय राज्य एक आदर्श कल्याणकारी राज्य था।

सन् १९५५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दल ने जो समाजवादी सामाजिक योजना का प्रस्ताव स्वीकार किया, वह हमारी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ही आधारित है। प्राचीन राजनैतिक साहित्य में कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक अनुपम और अधिकृत ग्रंथ है। उसमें वर्णित प्रशासनीय आयोजन व्यावहारिकता पर आधारित है, केवल सैद्धान्तिक नहीं। इसलिए हमारी राष्ट्रीय सरकार द्वारा अपनायी नीति व योजना, पाश्चात्य देशों से ली हुई नहीं बताई जा सकती, बल्कि जाज्वल्यमान ऐतिहासिक परम्पराओं से प्राप्त की हुई सिद्ध होती है। भारत के विख्यात इतिहासज्ञ और कूटनीतिविशारद सरदार पनिक्कर ने इस संबंध में कहा है कि भारत ने अपने राजनैतिक विचार और सिद्धान्त अपने देश की परम्पराओं से उत्तराधिकार में प्राप्त किए जो उसी प्रकार मौलिक हैं जैसे पश्चिम का कोई भी मौलिक विचार, और समस्त मूलभूत प्रश्नों और समस्याओं का विवेचन और विचार-विमर्श उसी

\+ डा० अल्टेकर—State & Govt. in Ancient India—Page. 55.

÷ Dr. Beni Prasad-State in Ancient India. "Hindu state was not merely a culture state but an all pervasive moral and spiritual association. The glory of the situation was that inspite of the missionary zeal which moved its spirits at several epochs, it was generally tolerant of all forms of religious belief."

* N. C. Bandyopadhyaya—"All that we can do is to describe the Arthasastra government as a peculiar type of administrative paternalism which regulated the relation of classes, and spent its resources for the welfare of the community."

स्वतंत्रता, निर्भयता तथा गहराई से किया जाता है जैसे पश्चिम में। इसके अतिरिक्त राज्य के प्रशासनीय और आर्थिक कर्त्तव्य पर इस प्रकार विशेष बल दिया गया है, जैसा यूरोप के १९वीं सदी के पूर्व के लेखकों को ज्ञान भी नहीं था। + अतः हमारा स्वतंत्र किशोर भारत गणराज्य वृद्ध यूरोप प्रजातंत्र राज्यों से किसी प्रकार कम नहीं है।

प्रश्न

1. "The state in ancient India was regarded as the centre of society and the chief instrument of its welfare." Explain and amplify the above statement.
2. *Discuss the functions of the state as derived from the Arthashastra.*

\+ Panikkar—"India has inherited a tradition in political thought which is at least as original as anything in the West, which discusses freely, frankly and with deep insight all the fundamental problems relating to political communities and further emphasizes the administrative & economic functions of a state in a manner generally unknown to European writers before the 19th century.

आठवाँ अध्याय

सम्राट् का पद

(Kingship)

प्रस्तावना—यद्यपि प्राचीन भारत में राज्य के अनेक रूप विकसित होते रहे हैं, तथापि राजतंत्र या नृपतंत्र (Monarchy) का बहुत अधिक प्रचलित रूप रहा है। नृप या सम्राट् के संबंध में बहुत ऊँचे ऊँचे आदर्श वर्णित हैं। अतः सम्राट् का पद क्या था, किस प्रकार इसका उपयोग होता था, कौन कौन से कार्य इस पद से संबंधित थे, आदि बड़े रोचक प्रश्न हैं, जिनका उत्तर प्राचीन भारतीय ग्रंथों में पर्याप्त संतोषजनक ढंग से मिलता हैं। उन्हीं का अध्ययन इस अध्याय में किया जायगा।

विकास—सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्राट् के पद की रचना किस प्रकार हुई? यद्यपि राज्यों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कुछ सिद्धान्तों का अध्ययन हम कर चुके हैं; परन्तु सम्राट् के पद की रचना का प्रश्न फिर भी अलग से लिया जा सकता है। वैदिक साहित्य में यह रचना तीन प्रकार से बताई गई है। एक तो यह कि देवता और असुरों के बीच निरन्तर होने वाले युद्धों में देवता ही सदैव पराजित होते रहते थे। इस पराजय का कारण, उन्होंने सम्राट् या नेतृत्व का अभाव निश्चित किया और सोम चन्द्रमा) को अपना अध्यक्ष (King) बनाया। दूसरे स्थान पर यह प्रसंग मिलता है कि देवताओं ने इन्द्र को अपना सम्राट् बनाया; क्योंकि वह सबमें अधिक योग्य और युवक था। तीसरे स्थान पर वरुण की सम्राट् बनने की अभिलाषा का प्रसंग मिलता है जो प्रजापति से गुरुमंत्र लेकर देवताओं का मान्य सम्राट् बना। उपर्युक्त प्रसंगों से यह प्रकट होता है कि सम्राट का पद सैनिक नेतृत्व की आवश्यकता के कारण अस्तित्व में आया। इसीलिए राजा को सैनिक अध्यक्ष माना गया। शक्ति के आधार पर शासन होने के कारण ही सम्राट् स्वयं भी शक्तिशाली आदर्श पुरुष होता था और योग्य संतान होने पर वही पद उत्तराधिकार द्वारा भी हस्तांतरित होता था। प्राचीनकाल में राज्याभिषेक या वाजपेय यज्ञ के बाद रथ की दौड़ होती थी और उसमें सम्राट् ही प्रथम आता था–यह सम्राट् के लिए प्रतीकात्मक ही था। कुछ विचारकों का मत है कि वैदिक काल में भारतीय समाज पितृप्रधान था और इसी का विकसित रूप अर्थात् कुलों के योग से वंश और वंशों के योग से जाति (Tribe) बन

कर, राज्य बन गया जहाँ कुलपति और जनपति ही अध्यक्ष होते थे । वे भी रथ दौड़ आदि में भाग लेते थे और इसी का अंतिम रूप अध्यक्ष, सम्राट् या राजा कहलाया । वैदिक साहित्य धार्मिकता लिये हुए है किन्तु फिर भी सम्राट् का पद धर्म से संबंधित नहीं बताया गया है । वैदिक काल में जाति प्रथा पुष्ट नहीं हुई थी, इसलिए तत्कालीन राजाओं की जाति के संबंध में कोई प्रसंग नहीं है । बाद में जब जातियाँ पूर्ण विकसित व व्यवस्थित हो गई तब राजा क्षत्रिय जाति के ही होने लगे जो सैनिक कौशल और युद्धविद्या के विशारद होते थे । बाद में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र तथा अनार्य भी राजा बनने लगे । सीथियन, पारथियन्स, हूण आदि के राज्य अनार्य राज्यों के प्रमाण हैं । राजा शब्द धीरे धीरे सभी शासकों के लिए प्रयोग में आने लगा ।

सम्राट् की नियुक्ति के प्रकार—इस विषय के लेखकों में सम्राट् की नियुक्ति के विषय में गहरा मतभेद है । यह पद निर्वाचन द्वारा नियुक्त होता था अथवा उत्तराधिकार द्वारा और किस प्रकार के नियमों द्वारा ये प्रकार कार्यान्वित होते थे, इस पर लोगों के विचार भिन्न भिन्न हैं । फिर भी प्राप्त प्रसंगों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि कुछ स्थानों पर यह पद निर्वाचन द्वारा ही निश्चित किया जाता था । प्रारंभिक वैदिक काल में निर्वाचन प्रथा प्रचलित थी । ऋग्वेद में यह प्रसंग आता है कि "जनता सम्राट को चुनती थी ।" + किन्तु डा० अल्टेकर का मत है कि यद्यपि यह प्रसंग स्पष्ट वर्णन करता है कि जनता सम्राट् का निर्वाचन करती है किन्तु फिर भी इसकी महत्ता इसलिए कम हो जाती है कि निर्वाचक जनता इस अवसर पर भयभीत बताई गई है । यदि सम्राट् जनता के मत द्वारा निर्वाचित होता था तो जनता को सम्राट् से डरने की क्या आवश्यकता थी । × इस प्रकार यह सम्राट के निर्वाचन को एक औपचारिकता का रूप ही प्रदर्शित करता है । दूसरा प्रसंग अथर्ववेद में है जिसका तात्पर्य है कि राज्याभिषेक के योग्य व्यक्ति जनता द्वारा निर्वाचित होना चाहिए ।÷ तीसरा प्रसंग शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार है कि शासक वही बन सकता है, जिसका नेतृत्व दूसरे सम्राटों द्वारा स्वीकार कर लिया जाय ।* अर्थात्—शासक का निर्वाचन एक प्रथा थी । यह संभव है कि समय और युग के अनुसार इसका महत्व न्यूनाधिक होता रहा हो । निर्वाचक मण्डल भी परिवर्त्तनशील रहा है । कभी संपूर्ण जनता और कभी चुने हुए कुछ सामन्त वर्ग के लोग, तो कभी कुछ सामन्त और जनता के मुख्य प्रतिनिधि लोग इसमें भाग लेते रहे हैं । कालान्तर में यह निर्वाचन एक औपचारिकता मात्र रह गई होगी जिसमें मतदाता शासक से प्रभावित होने के कारण भय का अनुभव करते दिखाए गए हैं । यह निर्वाचन कई स्थानों पर शुद्ध रूप में भी रहा होगा, परन्तु एक अपवाद के रूप में; साधारण लोकप्रिय प्रथा के रूप में नहीं । प्रारंभिक वैदिक काल में ही यह प्रथा एक प्रकार से पुरानी पड़

+ ता ई विशो न राजानां वृणाना वीभत्सवो अप वृत्रादतिष्ठन् । X 124. 8.

× State & Government in Ancient India-Foot Note-Page 75-Dr. Altekar

÷ त्वां विशो वृणतां राज्याय । III 4. 2.

* यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न । शतपथ ब्राह्मण, IX. 3. 4 5.

गई थी। फिर भी सम्राट को निष्कासित करना, अपदस्थ करना अथवा निष्कासित सम्राट को पुनः निर्वाचित करना—ये जनता के मान्य अधिकार थे और जनता या जनता की प्रतिनिधि सभाएं पूर्ण रूप से इनका प्रयोग करती थीं। एक प्रसंग भी है जहाँ राजतंत्र या सम्राट् का पद उत्तराधिकार के द्वारा प्राप्त होता था। पिता के पश्चात् पुत्र को ही राज्य का सम्राज्ञीय पद प्राप्त होता था। पुरु राजाओं में चार-पाँच सदियों तक यह प्रथा चली और लगभग चार सदी तक त्रित्सस राजाओं के यहाँ भी यही प्रथा रही। आत्रेय ब्राह्मण का यह प्रसंग कि "राजानं राजपुत्रं" अर्थात् नया राजा स्वयं राजा का ही पुत्र था। इस प्रकार सम्राट या राजा का पद प्रारंभ में निर्वाचित और उसके पश्चात् उत्तराधिकार द्वारा निर्धारित होता रहा है। डा० आर० सी० मजूमदार और डा० जायसवाल ने यह स्वीकार किया है कि राजा का पद प्रधान रूप से वैदिक काल में तो निर्वाचित ही होता था; परन्तु डा० अल्टेकर इस विचार से सहमत नहीं है। + उत्तराधिकार की प्रथा भी निश्चित नियमों द्वारा संचालित होती थी। साधारणतया ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार मान्य होता था और इसमें भी जनता की स्पष्ट या मौन स्वीकृति आवश्यक होती थी। सम्राट् प्रतीप और ययाति का उदाहरण स्पष्ट है। उन दोनों ने अपने छोटे पुत्रों क्रमशः शान्तनु और पुरु को राज्याधिकार देने के विचार से मुकुट पहनाना चाहा और उनसे बड़े पुत्रों का अधिकार रद्द कर दिया। तब जनता ने राजप्रासाद में एकत्र होकर इस विषय में प्रश्न किया कि ऐसा क्यों हो रहा है? राजा प्रतीप ने उत्तर दिया कि शान्तनु के बड़े भाई कोढ़ के रोग से पीड़ित हैं, इसलिए उन्हें सम्राट् का पद नहीं दिया जा सकता था। ययाति ने उत्तर दिया कि मेरे अन्य समस्त पुत्रों ने अपनी युवावस्था को मेरी वृद्धावस्था से परिवर्तित करना अस्वीकार कर दिया है, इसलिए मैं उन्हें सम्राट् का पद नहीं देना चाहता। इस प्रकार संतोषजनक उत्तर सुनकर जनता संतुष्ट हो गई। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जनता के कुछ अधिकार तो थे परन्तु वे अधिकांश केवल औपचारिक रूप में थे और सम्राट् के पद के लिए साधारणतः ज्येष्ठता का नियम (Law of Primogeniture) पालन होता था। इक्ष्वाकु राजाओं के परिवार का वंशवृक्ष भी यह सिद्ध करता है कि उत्तराधिकार इसी नियम द्वारा संचालित होता था एवं जनता को निर्वाचन का कोई अधिकार नहीं था। डा० मजूमदार ने यह विचार व्यक्त किया है कि ईसा के १३० वर्ष बाद रुद्रदमन, ईसा के पश्चात् ६०६ में हर्षवर्द्धन तथा× ई० प० ७५० में गोपाल÷ को जनता के चुनाव द्वारा ही राजा का पद प्राप्त हुआ था। डा० अल्टेकर ने भी यह स्वीकार किया है कि रुद्र दमन और गोपाल को जनता ने ही निर्वाचित किया था। परन्तु इस वर्णन की गंभीरता में उनका विश्वास नहीं है; क्योंकि जूनागढ़ के शिलालेख में यह भी अंकित है कि रुद्रदमन अपने पराक्रम के बल

\+ State & Govt. in Ancient India–Dr. Altekar–Page 76 [Dr. R.C. Majumdar's book–corporate & Dr. Jayaswal's–Hindu Polity deserves study in this connection]

× Corporate life–Majumdar R. C. (Page 112)

÷ Gopala—was the founder of Pal Dynasty in Bengal.

पर सम्राट् बना।+ यदि कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था तो सम्राट् के उच्च अधिकारी, मंत्रिगण आदि उसी सम्राट् के संबंधियों में से किसी योग्य व्यक्ति को इस पद के लिए निर्वाचित करते थे। परन्तु ६०० वर्ष ईसा के पश्चात् से तो उत्तराधिकार का सिद्धान्त ही कार्यान्वित होता रहा और १२वीं सदी के इतिहासकारों को तो सम्राट् का पद निर्वाचित होने की बात बड़ी आश्चर्यजनक अनुभव हुई।× उत्तराधिकार के संबंध में कुछ और भी स्पष्ट और स्वीकृत परिभाषाएं थीं। ज्येष्ठ पुत्र के सम्राट् बन जाने के बाद दूसरे भाइयों को भी गवर्नर आदि के पदों पर उसी जगह नियुक्त कर दिया जाता था। जातक ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। अन्धता या वधिरता के कारण यदि ज्येष्ठ पुत्र अयोग्य होता तो उसे उत्तराधिकार के योग्य नहीं माना जाता था। धृतराष्ट्र तथा देवापी इसी नियम के अंतर्गत राज्याधिकार से वंचित रहे थे। कभी इन्हीं कारणों से राज्य के भीतर भाई भाई में संघर्ष भी हो जाया करते थे, जिनका वर्णन लोकसाहित्य तथा कहानियों में बहुतायत से मिलता है।

उत्तराधिकारी के प्रशिक्षण का भी विशेष ध्यान रखा जाता था। तक्षशिला आदि की भाँति विख्यात शिक्षाकेन्द्रों में, साधारण लोगों के साथ उसे अध्ययन करना पड़ता था। प्रारंभ में दर्शन और वेदों का विशेष अध्ययन किया जाता था; ÷ परन्तु समय के साथ अर्थशास्त्र और राजनीति ही शिक्षण के मुख्य विषय रह गए थे।* इन विषयों का अध्ययन इतना गम्भीर और प्रशस्त होता था कि अन्य शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। महाभारत में तो यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि समाज की व्यवस्था और उन्नति पूर्ण रूप से कुशल प्रशासन पर निर्भर करती है। + इसलिए राजा का प्रशिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। राजा की शिक्षा सैद्धान्तिक होने के साथ ही व्यावहारिक भी होती थी जिसमें प्रशासनीय, सैनिक व युद्धकौशल सम्बन्धी शिक्षा मुख्य थी। घुड़सवारी, हस्ति-संचालन तथा धनुर्विद्या की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। वह शिक्षण प्राप्त कर लेने तथा वयस्क हो जाने पर राजकुमार की नियमानुसार प्रशासक (Heir-apparent) के रूप में नियुक्ति कर दी जाती थी, जहाँ वह पिता की सम्मति से शासन चलाता था।

+ Dr. Altekar-State & Govt. in Ancient India-Page 78-Foot note—
Junagarh Inscription-"स्वयमधिगतमहाक्षत्रप-नाम्ना रुद्रदाम्ना"

× राजतरंगिणी-VII-773. FF.

÷ अर्थशास्त्र Chap. 2. मनुस्मृति VII. 43.

* कामन्दकीय नीतिसार-II.

+ महाभारत ६३, २६, २९-"सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रतिष्ठाः। सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः।

उत्तराधिकार के नियम—यदि उत्तराधिकार के समय राजकुमार अल्पायु (Minor) होता था तो प्रशासन, संरक्षक-मण्डल द्वारा (Council of Regency) संचालित होता था। साधारणतया स्वर्गीय सम्राट की पत्नी इस मण्डल की प्रधान होती थी। जातक चतुर्थ के वर्णनानुसार जब काशीनरेश साधु बन गए तो वहाँ की जनता ने उनकी पत्नी से राजकाज सँभालने की प्रार्थना की। + इसी प्रकार कौशाम्बी के सम्राट उदयन के बन्दी हो जाने पर, राज्य का शासन-प्रबन्ध उसकी माता ने सँभाला था। ऐसे भारतवर्ष में अनेक उदाहरण हैं। ईसा से १५० वर्ष पूर्व नयनिका तथा ३८० ई० में प्रभावती गुप्त ने अपने पुत्रों की अल्पायु के समय बड़े विस्तृत राज्यों का शासनप्रबन्ध पूर्ण सफलता के साथ संचालित किया।

महाभारत के अनुसार, हिन्दू नियम इस बात की आज्ञा नहीं देता कि सम्राट की इकलौती पुत्री सम्राज्ञी के रूप में उत्तराधिकार प्राप्त करे। केवल उस स्थिति में, जब कि सम्राट युद्ध में काम आए हों और उत्तराधिकार के लिए कोई पुत्र न हो, तब पुत्री का भी राज्याभिषेक हो सकता था। × परन्तु यह सामान्य नियम नहीं था। केवल विशेष परिस्थितियों में ही इस नियम की सहायता ली जाती थी। प्राकृतिक मर्यादाओं के कारण महिला वर्ग शासन के लिए अधिक उपयुक्त नहीं माना जाता था। कन्याओं के उत्तराधिकार के अवसर पर अधिकांश उनके पति ही शासन के प्रति उत्तरदायी बन जाते थे। परन्तु वह कन्या अपने उत्तराधिकार के कारण स्वाधिकारिणी सम्राज्ञी (Regnant queen) होती थी। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्त प्रथम तथा लिच्छवी सम्राज्ञी कुमारी देवी की संयुक्त मुद्रा से यह प्रकट होता है—कुमारी देवी अपने ही उत्तराधिकार के बल पर सम्राज्ञी बनी रही। किन्तु यह अपवाद माना जा सकता है। साधारणतया उत्तराधिकारिणी पुत्री अपने पतिदेव को ही राज्य का कार्य-भार सँभलाकर स्वयं उसकी रानी कहलाती थी। डा० अल्टेकर के मतानुसार दक्षिण भारत में विशेषकर चालुक्य तथा राष्ट्रकूटों के समय में राजघरानों की कुमारियाँ महत्वपूर्ण प्रशासनीय पदों पर नियुक्त की जाती थीं। अमोघवराह की पुत्री इर्रागंग की धर्मपत्नी रेवकानिम्द्री सन् ८५० ई० में इदातोर नामक महत्वपूर्ण जिले की राज्यपाल थी तथा जयसिंह तृतीय की अग्रजा, अक्कादेवी सन् १०२२ में किशुकुडा जिले का शासन करती थी। परंतु उत्तर भारत में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते। ÷

इस प्रकार यह निर्णय किया जा सकता है कि प्राचीन हिन्दू नियम उत्तराधिकार के संबंध में आदर्श रूप में थे। न अधिक कठोर थे और न अधिक उदार। कन्याओं को उत्तराधिकार से वंचित भी नहीं किया गया था तो उन्हें पूर्ण रूप से उत्तराधिकारी स्वीकार भी नहीं किया गया था, जिससे वे अपने पिता के राज्य में षडयन्त्र करने के लिए सोचने लगे।

+ जातक IV-Page 105, 487.

× कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय। महाभारत १२/३२,३३//

÷ State & Govt. in Ancient India-Page. 81, 82. Dr. Altekar

राजकुमारियों की सैनिक, प्रशासनिक शिक्षा की भी व्यवस्था होती थी, जिससे वे अवसर आने पर केवल रमणी ही न सिद्ध हों, बल्कि योग्य प्रशासक के रूप में आगे बढ़कर राज्य का कार्यसंचालन भी कर सकें।

सम्राट के पद का महत्त्व—शांति पर्व के अनुसार यह आज्ञा दी गई है कि इस संसार में जो समृद्धि चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम स्वकी रक्षा के हेतु सम्राट का चुनाव कर उसको मुकुट धारण करा देना चाहिए अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति का जीवन और सम्पत्ति सदैव ही संकट में रहेगी। बलवान् निर्बल का भक्षण करेंगे; विवाह सम्बन्ध आदि के नियम शिथिल हो जायंगे; कृषि व व्यापार अस्तव्यस्त हो जायंगे; नैतिकता नष्ट हो जायगी; वेद लुप्त हो जायंगे; अन्याय, अकाल और दुराचारिता बढ़ जायगी; इसलिए प्रथम सम्राट का चुनाव करें, फिर धर्मपत्नी का चुनाव करें और उसके पश्चात् सम्पत्ति अर्जित करें। इस प्रकार सम्पत्ति और पारिवारिक सुख के पहले सम्राट का स्थान निर्धारित किया गया था। सम्राज्ञीय कार्य वास्तव में दैवी कार्य था। अन्य कार्य सम्राट स्वयं करता था। इसलिए सम्राट का महत्त्व सदैव बना रहा। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों में, लॉक, जॉन स्टुअर्ट मिल तथा गिडिंग्स आदि के मतानुसार सम्राट का प्राधान्य इसलिए माना है कि वह मानवमात्र का हित साधन करता है। अरस्तू ने कहा था कि राज्य व राजा की आवश्यकता इसलिए है कि जीवन पूर्ण व आत्मनिर्भर बन सके। + इसलिए भारतवर्ष में सम्राट को साधारण सांसारिक व्यक्ति नहीं माना जाता था। वह मानव के रूप में देवता समझा जाता था जो अपने पुण्य क्षीण हो जाने के कारण पृथ्वी पर अवतरित होता है। प्राचीन हिन्दू विचार में सम्राट अनेक रूप वाला होता था। आवश्यकतानुसार वह धर्म, यम, इन्द्र आदि के रूप में जनता के सामने आता था। अच्छे कार्य करने वालों को पुरस्कार तथा बुरे काम करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था यही करता था। महाभारत में इसीलिए सम्राट को जनता का हृदय, जनता की शरण, जनता का गौरव तथा जनता के हर्ष का प्रतीक कहा गया है × तथा उसकी आज्ञा मानने वालों के लिए इस लोक का सुख और दूसरे लोक के सुख की अभिलाषा पूर्ण होना, सम्भव माना जाता था।

इसके अतिरिक्त सम्राट् का महत्व इसलिए भी माना जाता था कि वह युग-निर्माता था। जब वह पूर्ण रूप से 'दण्ड' अर्थात् राजनीतिक सिद्धान्तों द्वारा शासन चलाता है तो सर्वश्रेष्ठ युग सतयुग (कृतयुग भी कहते हैं) आरम्भ होता है और सर्वत्र पवित्रता और ईमानदारी का प्राधान्य होता है। जब सम्राट् चारों उद्देश्यों (धर्म, अर्थ काम, मोक्ष) में से केवल तीन का पालन कर पाता है तो त्रेतायुग आरम्भ होता है। जब केवल दो उद्देश्यों का पालन होता है तो द्वापर युग होता है तथा जहां विज्ञान का प्रभाव होने पर मानवता से दूर होकर अत्याचार आरम्भ होते हैं, उसे कलियुग कहते हैं। अतः सम्राट् या राजा को

+ Aristotle said-"a perfect and self-sufficing life.

× "The King is the heart of people; he is their great refuge, he is their glory; and he is their highest happiness." महाभारत—शांति पर्व

युग-प्रवर्तक अथवा युग-निर्माता कहा जाता था। आज भी जहाँ सम्राट हैं, वहाँ आधुनिकतम फैशन तथा अन्य अनुकरणीय बातों के लिए सम्राट् को ही मुख्य आदर्श माना जाता है। तात्पर्य यह कि सम्राट् के पद का सामाजिक तथा राजनैतिक महत्व अत्यधिक माना गया था।

सम्राट् की स्थिति (Position of the King)—सम्राट् के पद की स्थिति विभिन्न युगों में परिवर्तनशील रही है। पूर्व ऐतिहासिक काल में सम्राट् अपनी परामर्श-दात्री परिषद् का केवल एक वरिष्ठ सदस्य माना जाता था और उसको निर्वाचन द्वारा यह स्थान मिलता था। प्रशासनीय कार्यों में अधिकांशतः लोकप्रिय मण्डल या परिषद् का उत्तर-दायित्व और सम्बन्ध रहता था। 'इसलिए सम्राट् का पद स्थायी नहीं था। वर्तमान काल में अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा मुख्य मंत्री या महाभियोग के द्वारा राज्यों के अध्यक्षों को हटाया जा सकता है, उसी प्रकार उस समय भी सम्राट को कुछ आधारों पर पदच्युत किया जा सकता था। कर आदि जनता विशेष अवसरों पर देती थी, नियमित रूप से नहीं। इस प्रकार प्रारम्भिक काल में सम्राट् का स्थान अरक्षित, अनिश्चित तथा मर्यादित होता था और सुव्यवस्थित शासन प्रबन्ध के लिए उसे अन्य सहयोगियों पर निर्भर रहना पड़ता था।

पूर्व तथा प्रारम्भिक वैदिक काल में सम्राट् की स्थिति कुछ दृढ़ बन गई थी। राज्यों का आकार बढ़ने के कारण उत्तरदायित्व तो बढ़ा ही, साथ ही सहयोगी एवं समितियों के अधिकार सीमित बनते गए। सम्राट् की इच्छानुसार प्रशासनीय निर्णय होने लगे। इसी समय में सम्राटों की स्थिति सुधरी और शक्तियाँ बढ़ गईं। ऋग्वेद में कई प्रकार के सम्राटों का प्रसंग आता है–जैसे स्वरत, एकरत, अधिराज, समरत इत्यादि। ये प्रकार निश्चित रूप से उनकी स्थिति और शक्तियों के अन्तर के आधार पर ही रहे होंगे। शुद्ध वैदिक काल में सम्राट की स्थिति और भी अच्छी हो गई। यह पद पूर्ण ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा और वैभव से युक्त हो गया। व्यक्तिगत स्वामित्व का सिद्धान्त लागू होने लगा। भूमि, सम्पत्ति, कोष आदि व्यक्तिगत वैभव के लक्षण स्वीकार किए गए। अथर्ववेद के अनुसार सम्पत्ति का स्वामी, जनता का अध्यक्ष और योद्धाओं का मुख्य नायक, सम्राट ही होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब सम्राट की समृद्धि के लिए प्रार्थना करते थे, कर देते थे और हर प्रकार के सहयोग के लिए तत्पर रहते थे। सम्राट के अधिकार क्रमशः बहुत विस्तृत, व्यापक और बलशाली बन गए इसलिए उसके कोप से जनता भयभीत रहने लगी। × इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में सम्राट समस्त शासन का अधिष्ठाता था, राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था, न्याय-परिषद् उसकी इच्छानुसार संचालित होती थी और सम्राट का पद अत्यन्त वैभवपूर्ण, समृद्धिशाली एवं जनता के एकमात्र रक्षक का स्थान बन गया था।

सम्राट और देवत्व:—प्रारम्भ में भारतवर्ष मे सम्राट का पद शुद्ध लौकिक संस्था (Secular institution) के रूप में माना गया था। ऋग्वेद में केवल राजा पुरुकुत्स को

× अन्यत्र राजामभियातु मन्युः ॥ अथर्ववेद VI-40,2

केवल एक स्थान पर अद्ध देव (Semi-divine) कहा गया है और इसी प्रकार अथर्व-वेद में राजा परीक्षित् को मानवों के मध्य देवता बताया गया है। × परन्तु ये प्रसंग और वर्णन अपवाद हैं। सम्राट के प्रशंसक उसे ऊँचा उठाने के लिए अथवा अपने लिए सम्राट की कृपा प्राप्त करने लिए, उसके पद में कल्पना से देवत्व का प्रवेश कर लेते होंगे। ब्राह्मण-काल में यह देवत्व अधिक प्रभावशाली हुआ। यह समय धर्म के विकास तथा धर्मपरायणता का माना जाता है। इसलिए सम्राट भी, जो जनता की रक्षा करता था, समृद्धि लाता था, युद्ध में विजय प्राप्त करता था, संकट निवारण करता था, वह देवत्व से संयुक्त माना जाने लगा और उसके कार्यों की देवताओं के कार्यों से तुलना होने लगी। राज्याभिषेक के समय सम्राट को देवत्व प्राप्त कराने के हेतु अनेक प्रकार के यज्ञों की प्रथाएँ चलीं तथा देवताओं को प्रसन्न करके उनकी कृपा के लिए प्रार्थनाएँ की जाने लगीं। वास्तव में यह देवत्व ब्राह्मणों से आरंभ होता है जो स्वय अपने आपको पृथ्वी के देवता (भूदेव) कहते थे। उनका देवत्व राजा की श्रद्धा व प्रसन्नता पर निर्भर करता था। इसलिए वही देवत्व वे सम्राट के लिए भी स्वीकार करने लगे। इस प्रकार उत्तर-वैदिक काल की सब परिस्थितियाँ सम्राट को देवत्व देने के लिए अनुकूल बन गईं और सम्राट का पद दैविक माना गया। ईसा की पहली सदी के आरंभ में कुशन वंश की स्थापना ने सम्राट का देवत्व और भी स्पष्ट रूप से स्वीकृत और स्थायी बना दिया। सम्राट देवपुत्र कहलाने लगे। सम्राटों द्वारा अपने पूर्वजों के मंदिर बनाए गए और उनकी पूजा आरंभ हो गई। भारत स्वतंत्र होने के पूर्व तक देशी राज्यों में राजा देवता का प्रतीक समझा जाता था और जिस ओर वह जाता था वहाँ उसके दर्शनों के लिए अपार जनता एकत्रित होती थी। समर्थ नागरिक भेंट भी (नजर) करते थे। कुछ स्मृतियाँ और पुराण भी राजा के देवत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनमें मनुस्मृति, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत आदि मुख्य हैं। भागवत में तो राजा वेण के शरीर पर, विष्णु की भाँति शंख, चक्र, गदा, पद्म की कल्पना भी कर ली गई है। परन्तु यह वास्तविकता से दूर की कल्पना है। कुछ स्मृतिकारों ने सम्राट के पद को, देव-ताओं के पद की भाँति मानकर केवल कार्य-समानता (Functional resemblance) की ओर ध्यान आकर्षित किया है। जैसे सम्राट, सूर्य की भाँति पालक, अग्नि की भाँति घातक, कुबेर की भाँति समृद्धिदाता है। महाभारत, शुक्रनीति, नारदस्मृति आदि इस संबंध में मुख्य हैं। इन विचारकों का दृष्टिकोण बहुत महत्व का है। इन ग्रंथों से यह सिद्ध होता है कि सम्राट स्वयं देवता नहीं है पर सम्राट का पद देवत्व से युक्त है; क्योंकि उसके कार्य उसी प्रकार के हैं; जैसे देवताओं के। अतः हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सम्राट के देवत्व का सिद्धान्त जो ईसा की प्रथम दस शताब्दियों तक भारतवर्ष में बहुत लोकप्रिय रहा, वैदिक काल में उसका अस्तित्व ही नहीं था।

सम्राट के देवत्व की तुलना पाश्चात्य देशों के सिद्धान्तों से भी की जाती है। रोम के सम्राटों को देवता माना जाता था। उनकी मृत्यु के बाद उनके मंदिर बनाए गए और

× "यो देवो मर्त्ये अधि"

पूजा आरंभ हुई। ईसाई धर्म के अनुसार पादरी में वास्तविक देवत्व स्वीकार किया गया था और यह मान्यता थी कि राज्याभिषेक के समय पादरी यह देवत्व सम्राट को भी हस्तांतरित कर सकता है। किन्तु बाद में राज्य और गिर्जा के संघर्षों ने राजा और पादरी दोनों के देवत्व को केवल कल्पना सिद्ध कर दिया। भारतवर्ष में जो सिद्धान्त थे उनके द्वारा देवत्व केवल अच्छे सम्राटों को ही दिया जाता था, नीच व अत्याचारी राजाओं को राक्षस मान कर समाप्त कर दिया जाता था। राजा वेण की कथा इस संबंध में बहुत उपयुक्त है। मिस्र तथा बेबीलोन, असीरिया आदि की सभ्यताओं में भी सम्राट के देवत्व को स्वीकार किया गया है। परन्तु १०वीं सदी के पश्चात् सम्राटों का देवत्व क्षीण होने लगा और सर्वत्र उनका विरोध आरंभ हो गया। इस प्रकार सम्राट और देवत्व का सिद्धान्त अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में मध्य युग में आया, किन्तु ऐसे मर्यादित रूप में जो अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता और बाद में पूर्ण लोकमय बन गया।

सम्राट के कर्त्तव्य (Functions of the King)—प्राचीन भारतवर्ष में सम्राट के अनेक कर्त्तव्य माने गए थे।

(१) **सुरक्षा** का उन सबमें प्रमुख स्थान है। महाभारत के अनुसार यदि सम्राट सरल स्वभाव का बन जाता है तो प्रत्येक व्यक्ति उसकी अवहेलना करने लगता है, यदि निष्ठुर बन जाता है तो जनता कष्ट पाती है। इसलिए उसे दोनों प्रकार का स्वभाव रखना चाहिए। सूर्य की भाँति न तो अधिक शीतल रहे और न अधिक गरम। जनता की रक्षा करते हुए यदि सम्राट् संकट में भी पड़ जाता है तो यश प्राप्त करता है और कर्तव्यपरायणता के द्वारा वह अपना पारलौकिक जीवन बनाता है। यदि एक दिन भी सम्राट सुरक्षा के कार्य में भयशिथिल हो जाता है तो इतना पाप लगता है कि १००० वर्ष तक भी नरक से छुटकारा नहीं मिलता। साथ ही कर्त्तव्य पालन करने वाले सम्राट को ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम तथा वानप्रस्थाश्रम का सारा फल स्वतः मिल जाता है। यदि सम्राट सुरक्षा नहीं करता तो वह बिना दूध की गाय, या वन्ध्या पत्नी की भाँति होता है। महाभारत में ऐसे सम्राटों की उपमाएं बहुत सुन्दर रूप में दी गई हैं। जो सम्राट प्रजा की रक्षा न कर सके अथवा ब्राह्मण जिसे वेदों का ज्ञान न हो, वे काष्ठ के हाथी, चर्म के हिरण, सम्पत्तिहीन पुरुष, शिखण्डी पुरुष, या वन्ध्या भूमि की भाँति होते हैं। दूसरा प्रसंग चेतावनी के रूप में है कि इन ६ प्रकार के पुरुषों का साथ ऐसे ही छोड़ देना चाहिए, जैसे समुद्र के बीच फूटी नौका का:—(१) मौन दार्शनिक, (२) निरक्षर (पंडित) पुरोहित, (३) रक्षा न कर सकने वाला सम्राट, (४) अप्रियभाषक पत्नी, (५) गाँव में घूमने वाला गड़रिया और (६) सन्यास ग्रहण करने वाला नाई। अर्थात् जनता की सुरक्षा का कर्तव्य सम्राट के लिए सर्वप्रथम तथा अत्यन्त महत्व का था।

(२) **सदाचार की वृद्धिः**—सम्राट का दूसरा मुख्य कर्त्तव्य है शासन का इस प्रकार संचालन जिससे सदाचार की वृद्धि हो। सदाचार को बढ़ाने वाला शासन सम्राट को देवत्व के पद पर पहुँचा देता है; क्योंकि समस्त जनता सदाचार पसन्द करती है और सदाचार सम्राट के शासन पर निर्भर करता है। इसलिए वास्तविक सम्राट वही माना गया था जो

न्यायप्रिय तथा धर्मानुकूल शासनकर्ता हो। इसके विपरीत शासन कभी सफल नहीं हो सकता और न अधिक समय चल सकता है। इसलिए धर्मप्रधान शासन अनिवार्य होता था। ब्राह्मणों द्वारा इसीलिए धर्म निर्धारित किया जाता था कि जिससे समस्त प्राणी निर्भयता से रहते हुए अपना विकास और उन्नति करें। राजा को इसीलिए हमारे धर्मग्रंथ धर्मानुकूल शासन चलाने की आज्ञाएँ देते हैं। इसके विपरीत शासन में सम्पत्ति का नाश, व्यवस्था में गड़बड़ तथा सर्वत्र भय व्याप्त हो जाता है। सम्राट को सारे राज्य का रचयिता और नाशक कहा जाता था। यदि धर्म के अनुसार शासन करता था तो स्वाभाविक रूप से रचयिता हो जाता था और विपरीत शासन चलाने पर नाशक सिद्ध होता था।

(३) जनता का सामान्य हित—सम्राट का पद एक न्यास (Trust) की भाँति समझा जाता था, इसलिए समस्त जनता का सामान्य हित करना सम्राट का अनिवार्य कर्त्तव्य समझा जाता था। महाभारत में यह कहा है कि सम्राट और जनता का वही सम्बन्ध होना चाहिए जो एक माता का अपने पुत्र के साथ होता है। इसलिए सम्राट् को सदैव अपनी प्रजा के सुख और भलाई का ध्यान रहना चाहिए। सम्राट का पद सुमन-शय्या नहीं थी वरन् कर्त्तव्यों के बोझ के कारण एक कठोर और काँटों का मुकुट था। इस कर्त्तव्य के अन्तर्गत सम्राट से अपेक्षा की जाती थी कि वह मदिरालय, वेश्यालय, द्यूत-गृह, नाट्यशालाएँ तथा इस प्रकार के अन्य स्थानों पर नियंत्रण रक्खे। राज्य को निवास-योग्य स्थल बनाने के लिए सब प्रकार के आवश्यक कार्य करना उसका उत्तरदायित्व माना गया था। जैसे कृषियोग्य भूमि प्राप्त करना और उसे उपजाऊ बनाने का प्रयत्न, कृषि को पूरी तरह से वर्षा पर निर्भर न रखना, झील व तालाबों का निर्माण, अग्नि, सर्प आदि के संकट निवारण के लिए उचित व्यवस्था, जनता में आरोग्यता बनाये रखने के साधन, सड़कों व राज-पथों का निर्माण, उचित स्थानों पर दूकानें तथा प्याउओं की व्यवस्था करना, चोर-डाकुओं का निवारण आदि मुख्य कर्त्तव्य थे। आधुनिक काल में जो लोक-कल्याण-कारी राज्य (Welfare State) का नारा लगाया जाता है प्राचीन भारत में वही आदर्श सम्राट के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में स्वीकार किया गया था। क्षुधा, रोग, निरक्षरता, निर्धनता और बेरोजगारी ये पाँच मानव समाज के मुख्य शत्रु माने जाते हैं। प्राचीन भारतीय सम्राट् इन्हें दूर करने के लिए कटिबद्ध रहता था। वह जनता के पिता की भाँति सर्व-कष्ट निवारण हेतु तत्पर रहता था।

(४) प्रशासनीय अर्थ-व्यवस्था—प्रत्येक राज्य के शासन की नींव वहाँ की अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर करती है। प्राचीन भारत में भी अर्थ व्यवस्था दृढ़ आर्थिक सिद्धान्तों पर स्थापित की गई थी। सम्राट् का यह अधिकार था कि वह उपज का छठा भाग, अपराधियों पर आर्थिक दण्ड तथा व्यापारियों से उनके लाभ का निश्चित भाग, धर्मग्रन्थों में बताए नियमों के अनुसार लेकर अपना कोष पूर्ण करे। यह राजा को जनता की रक्षा करने के फलस्वरूप मिलता था। इसलिए कर-सिद्धान्त पूर्ण रूप से उचित ठहरता था। सम्राट् को अन्य भारी कर लगाने की आवश्यकता नहीं रहती थी। कर प्राप्त करने के लिए महाभारत में बड़ी सुन्दर उपमाएँ और उक्तियाँ कही गई हैं कि, सम्राट् को मधुमक्खी की

तरह द्रव्य एकत्र करना चाहिए, धेनुदोहन की भाँति मर्यादित प्रयत्न होना चाहिए; किन्तु मूषक की भाँति अहितकर व्यवहार नहीं करना चाहिए, समय, स्थान व मात्रा बड़ी बुद्धिमानी से निर्धारित करनी चाहिए आदि अनेक सिद्धान्त हैं। इनका विशद वर्णन हम आगे कर-सिद्धान्त के अध्याय में करेंगे।

(५) **व्यक्तिगत जीवन का नियमन**—राज्य की व्यवस्था उचित रूप से चलाने के लिए सम्राट् के जीवन में संयम व नियम आवश्यक माने गये थे और ये भी सम्राट् के कर्त्तव्य में सम्मिलित थे। कौटिल्य ने तो सम्राट् के कर्त्तव्यों के साथ ही उसके व्यक्तिगत दैनिक जीवनक्रम भी निश्चित कर दिये हैं।

दिन

६.०० बजे प्रातः से ७.३० प्रातः —आय और व्यय का निरीक्षण
७.३० बजे प्रातः से ९.०० प्रातः —जनता व नागरिकों के कार्य
९.०० बजे प्रातः से १०.३० प्रातः —स्नान, संध्या व भोजन
१०.३० बजे प्रातः से १२.०० मध्यान्ह—राज्य के कर्मचारियों के कार्य
१२.०० बजे मध्यान्ह से १.३० अपरान्ह—मंत्रियों तथा विश्वासपात्र व्यक्तियों से भेंट
१.३० बजे अपरान्ह से ३.०० अपरान्ह—विश्राम तथा विनोद
३.०० बजे अपरान्ह से ४.३० अपरान्ह—सेना का निरीक्षण
४.३० बजे अपरान्ह से ६.०० सायं —शत्रु स्थिति तथा सैनिक कार्यवाहियों से सम्बन्धित कार्य

रात्रि

६.०० सायं से ७.३० रात्रि—गुप्तचर तथा अन्य गुप्त सूचना अधिकारियों से भेंट
७.३० सायं से ९.०० रात्रि—स्नान, भोजन, (वन्दना) संध्या
९.०० सायं से १.३० प्रातः—संगीत व शयन.
१.३० प्रातः से ३.०० प्रातः—पुनः संगीत तथा भविष्य का विचार
३.०० प्रातः से ४.३० प्रातः—राज्य के अन्य विचारणीय प्रश्न व कार्य
४.३० प्रातः से ६.०० प्रातः—पुरोहित या कुलपण्डित से आशीर्वाद।

इस क्रम से सम्राट् का जीवन यंत्रवत् चलता था। संयम और समस्त कार्यों का निरीक्षण इस प्रणाली से सरलता से हो जाता था। इसके अतिरिक्त सम्राट कुछ अन्य कार्य भी करता था।

(६) **अन्य कार्य**—उपर्युक्त कर्त्तव्यों के अतिरिक्त कुछ विशेष कार्य थे, जिन्हें सम्राट व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के कार्य समझता था। जैसे मंदिर, नास्तिक, महिलाएँ, चौपाए, तीर्थस्थान, युवक, वृद्धा, रुग्ण तथा निस्सहाय से सम्बन्धित कार्य इस श्रेणी में आते थे। इनसे अधिक महत्व का कार्य था—

न्याय-सम्पादन—सामाजिक प्रतिष्ठा तथा अन्य तत्वों को महत्व दिए बिना निष्पक्ष न्याय करना, सम्राट् का महत्वपूर्ण कर्त्तव्य माना गया था। जनता को प्रसन्न व

सुखी बनाए रखने के लिए निष्पक्ष न्याय अनिवार्य माना गया था। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार सभी प्रकार के कर्त्तव्य सम्राट् से अपेक्षित किये जाते थे जो समय और स्थिति से उत्पन्न हो जायँ।

सम्राट् के गुण—कौटिल्य के मतानुसार सम्राट् में कुछ आवश्यक गुण होने चाहिये, जिनके बल पर वह उपयुक्त कठिन कर्त्तव्यों का पालन कर सके। अर्थशास्त्र के अनुसार सम्राट् में निम्नांकित गुणों की अपेक्षा की गई है:—

(१) उच्च कुल में उत्पन्न होना, बुद्धि, शौर्य, करुणा, सहृदयता, अनुभवी व्यक्तियों से परामर्श करना, कृतज्ञता की भावना, उदारता, शक्तिमत्ता, अनुशासन, दृढ़ निश्चय आदि;

(२) चतुराई व बुद्धि से सम्बन्धित ऐसे गुण—जैसे जिज्ञासा, स्मृति, ज्ञान, पर्यवेक्षण, विशेष प्रतिभा तथा सत्य के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा आदि;

(३) कर्त्तव्यशीलता के गुण—जैसे साहस, गर्व, स्फूर्ति और कौशल आदि;

(४) व्यक्तित्व के गुण—जैसे प्रज्ञा या चातुरी, प्रखर स्मरणशक्ति, विलक्षण बुद्धि, आत्मनियंत्रण, अन्यान्य कलाओं पर प्रभुत्व, निष्पक्ष न्याय, दूरदर्शिता, विरोधी की कमजोरियाँ समझ लेने की योग्यता, भावनाओं पर नियंत्रण, आवेश से मुक्त रहना, लोभ, घमण्ड, आलस्य, उतावली तथा निर्दयता से दूर रहना आदि।

उपर्युक्त गुण एक आदर्श सम्राट् के लिए आवश्यक हैं। परन्तु सभी गुणों को प्रत्येक सम्राट् में खोज करना भूल या दुराशामात्र ही हो सकती है। फिर भी सधारणतः सम्राट् में अधिकांश गुण होते थे। कुछ तो परिस्थितियों के कारण और कुछ जन्म से ही सम्राट् को प्राप्त हो जाते थे।

सम्राट पर प्रतिबन्ध—प्राचीन भारत में जनता का हित प्रधान लक्ष्य माना गया था। इसलिए सम्राट पर अनेक कर्त्तव्यों का भार रख देने पर भी मर्यादाएँ रखली गई थीं, जिससे कभी कोई सम्राट यह कल्पना न करने लगे कि वह सर्वेसर्वा अथवा निरंकुश है। धर्मग्रंथों के अनुसार यदि सम्राट अपनी जनता या प्रजा को पापवृत्ति से नहीं रोकता है तो पाप का चौथा भाग सम्राट को भी मिलता है। यदि निष्पक्ष न्याय नहीं करता तो उसका यश और परलोक नष्ट हो जाता है। इस प्रकार की मान्यताओं के आधार पर सम्राट पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए थे, जिनमें अधिकांश धार्मिक तथा नैतिक थे और शेष संवैधानिक और व्यावहारिक।

महाभारत में तथा नारद-स्मृति में निरंकुश राजतंत्र को प्रतिपादित किया गया है। चाहे सम्राट किसी भी प्रकार पतित या अयोग्य हो उसे हटाने या घृणा करने का अधिकार जनता का नहीं माना गया है। परन्तु साथ ही वहाँ आदर्श सम्राट की रूपरेखा में समस्त प्रतिबन्ध भी आ गए हैं। आदर्श सम्राट वह है जिसका जीवन जनता की सेवा और हित के लिए समर्पित है। जो एक ट्रस्टी की भाँति कार्य करता है। उसे जनता के सेवक के रूप में

सेवा करनी चाहिए। अत्याचारी, दुश्चरित्र सम्राट के शासन से जनता को बचाने के लिए अनेक साधन स्वीकार किए गए थे जो महाभारत के अनुसार निम्न प्रकार हैं:—

(१) जो सम्राट अपने सदाचार व सुरक्षा के कर्त्तव्य को भूल जाता है वह जनता से **आज्ञापालन कराने के अधिकार से च्युत हो जाता है**। महाभारत में अत्याचार से मुक्त होने का प्रजा का अधिकार स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। ऐसा अत्याचारी सम्राट जो दुष्टों की सलाह पर चलकर सदाचार और सुव्यवस्था को नष्ट करता है, वह **सपरिवार प्रजा द्वारा नष्ट कर दिये जाने के योग्य है**। राजा वेण की कथा इसका स्पष्ट उदाहरण है। कुछ लेखकों का विचार है कि प्राचीन भारत में "विद्रोह का अधिकार" स्पष्ट नहीं माना है, यह सत्य नहीं है। अत्याचारी सम्राट को पदच्युत करने अथवा मौत के घाट उतारने का अधिकार इससे अधिक और किस स्पष्टता से स्वीकार किया जा सकता है। कुछ अन्य लेखक इसे संवैधानिक अधिकार भी नहीं मानना चाहते हैं। वे इसे असंवैधानिक उपाय मानते हैं। परन्तु वास्तव में यह सर्वमान्य नियम था। इसकी परीक्षा यही थी कि अत्याचारी सम्राट का विरोध खुले रूप से होना चाहिए था। उस समय में शांतिमय साधन भी काम में आते थे; पुरोहित, मंत्रिगण तथा अन्य अनुभवी व्यक्ति अपने प्रभाव से अत्याचारी सम्राट को उचित मार्ग पर लाने का यत्न करते थे और इस प्रयत्न के असफल होने पर जनता विद्रोह करके सम्राट का वध कर देती थी। कुछ विद्वानों के मतानुसार केवल विद्रोह ही एकमात्र उपाय था, यह सत्य नहीं जान पड़ता। यह भी संभावना की जाती है कि यदि विद्रोह असफल हो जाता तो अत्याचारी और अधिक पीड़ा पहुँचा सकता था। परन्तु यह शंका भी निर्मूल है। समस्त जनता के विद्रोह को दबाने के लिए, जैसे उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के भारत के स्वतंत्रता-संग्रामों को कुचलने के लिए इंगलैंड और विदेशों से सेना और पुलिस बुलाई जाना संभव नहीं था; इसी प्रकार एक अत्याचारी सम्राट की समाप्ति के बाद यदि पुनः कोई अत्याचारी सम्राट बन जाता था, तो वहीं उसे मौत के घाट उतारना उसका उपचार था। भागवत में वेण की कथा में यह प्रसंग स्पष्ट ही कर दिया गया है। वेण के बाद जब एक श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, नाटा कद तथा अत्याचारी शासक उत्पन्न हुआ तो ऋषियों ने उसे भी मार दिया। अतः जनता का विद्रोह-अधिकार स्पष्ट और विस्तृत था, जो सम्राट के लिए सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतिबन्ध था।

(२) धार्मिक व आध्यात्मिक प्रतिबन्ध और भी अधिक प्रभावशाली थे। प्राचीन भारतीय लेखकों ने धर्म का प्रयोग बहुत बुद्धिमानी से सब क्षेत्रों में किया है। सम्राट के कर्त्तव्य-पालन न करने पर उसे नरक का भय दिखाया गया था और यह बहुत शक्तिशाली प्रतिबन्ध सिद्ध हुआ है। अनुचित कर लगाने पर, सम्राट स्वयं दण्ड रूप में, उस राशि से तीस गुनी राशि वरुण को भेंट चढ़ाता था इत्यादि अनेक प्रतिबन्ध स्वीकार किये गए थे। सम्राट के अत्याचार के विरुद्ध समस्त समाज भी सत्याग्रह करता था (Passive-resistence)। इसका ढंग यह था कि बिना भोजन किए हुए, मौसम की चिन्ता न करते हुए किसी महत्वपूर्ण जनस्थल (Public Place) पर उस समय तक जम जाते थे, जब तक राजा

उनकी माँग स्वीकार न करे। इसके अतिरिक्त अधिक अत्याचारी राजा के राज्य को जनता छोड़कर चली जाती थी ताकि राजा अकेला रहकर सुधर जाय। प्राचीन भारत में बुद्धिमान् नागरिकों का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि जब राजा न सुधरे तो उन्हें वह स्थान छोड़ देना चाहिए। यह नैतिक प्रतिबन्ध था।

(३) **देशधर्म**—सम्राट की निरंकुशता पर परम्पराओं का प्रतिबन्ध भी स्वीकार किया गया था। समाज की परम्पराओं को किसी भी देश-काल में सरलता से नहीं भुलाया जा सकता। शुक्रनीतिसार के अनुसार परम्परा या देशधर्म वह प्रथा है जो चाहे वेदों पर आधारित न हो परन्तु जिसका पालन जनता द्वारा विभिन्न समय में सदैव किया गया है। इसलिए स्थानीय परम्पराएँ और देशधर्म का खण्डन या उल्लंघन हमेशा बहुत भयंकर होता है। यह सम्राट की शक्तियों पर एक सफल प्रतिबन्ध था।

(४) **नियम (धर्म)**—प्राचीन हिन्दू दर्शन में धर्म या नियम का स्थान बहुत ऊँचा और पवित्र माना गया है। नियम सम्राटों का सम्राट × है तथा सब प्राणिमात्र की रक्षा करता है। धर्म या नियम से ऊपर कोई नहीं है, धर्म सर्वोपरि है। यह मान्यता विद्यमान थी—जो सम्राट पर बहुत बड़े नियंत्रण का काम करती थी।

(५) **अन्य विशेष प्रतिबन्ध**—केवल नरक, नियम, धर्म और जनमत ऐसे प्रतिबन्ध नहीं थे जिनसे एक अत्याचारी शासक ठीक रास्ते पर आ जाय। इसलिए कुछ दूसरे प्रतिबन्ध जो विशेष स्थितियों में काम में आते थे, उनका अध्ययन भी किया जा सकता है। सर्वप्रथम ऐसे अत्याचारी के विरुद्ध उसी के परिवार में षड्यंत्रकारी पैदा होकर उसे समाप्त कर सकते थे, ताकि जन-विद्रोह की आवश्यकता ही न हो और दूसरा व्यक्ति सम्राट के पद के लिए खड़ा हो सकता था अथवा पड़ौसी राज्य के सम्राट द्वारा ऐसे राज्य पर आक्रमण का भय भी एक प्रतिबन्ध होता था या बलशाली पड़ोसी के सीमाविस्तार की आकांक्षा को सीमित बनाए रखने के लिए शासक कभी अत्याचारी नहीं हो सकता था, बल्कि जनता की सेवा द्वारा सम्पूर्ण प्रजा को संतुष्ट रखने की चेष्टा करता था। इसके अतिरिक्त साधु और सन्यासी भी उस समय के राजनैतिक जीवन में महत्वपूर्ण तत्व माने जाते थे। शिवाजी का पथ-प्रदर्शन गुरु रामदास तथा चन्द्रगुप्त का पथप्रदर्शन चाणक्य द्वारा किया जाना सर्वविदित है। ये लोग निष्पक्ष तथा स्पष्टवक्ता होते थे तथा शुद्धबुद्धि होने के कारण इनकी आज्ञाएँ शाप और वरदान के रूप में मानी जाती थीं। इनसे भी सम्राट प्रतिबन्धित रहते थे। जनमत का प्रभाव भी सम्राट पर अधिक पड़ता था। रामचन्द्रजी ने अपनी पत्नी सीता को केवल जनमत के आधार पर छोड़ दिया, अन्यथा उन्हें स्वयं सीताजी पर अपार विश्वास था और वे अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण भी हो चुकी थीं। अर्थात् राज्य के क्षेत्र में सम्राट के व्यक्तिगत विचार उतना महत्व नहीं रखते थे जितना लोकमत। सम्राट की शपथ-जो वह राज्याभिषेक के समय ग्रहण करता था, सदैव सचेतक के रूप में उस पर प्रतिबन्ध का कार्य करती थी और इतिहास में ऐसे अनेक उदा-

× महाभारत—"King of kings"

हरण हैं, जब विभिन्न सम्राट अपनी शपथ के सहारे पथभ्रष्ट होने से बचे हैं। राजाओं के पदच्युत करने के उदाहरण इतिहास में बहुत हैं। वेण (महाभारत) मगधनरेश नागदशक (महावंश), राजा पालक (मृच्छकटिक), रामगुप्त (देवीचन्द्रगुप्तम्) × तथा मौर्य सम्राट बृहद्रथ + ऐसे ही राजा हैं।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय सम्राट के पद की जितनी प्रशस्ति लिखी जाय, वह कम है। वह एक ट्रस्ट (न्यास) समझा जाता था। जनता के सेवक का पद माना जाता था। कभी निर्वाचित और कभी उत्तराधिकार द्वारा यह पद प्राप्त होता था। अनेक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य इस पद के साथ थे और उनके साथ अधिकांश नैतिक तथा कुछ व्यावहारिक प्रतिबन्धों द्वारा इस पद की पवित्रता और सुरक्षा स्वीकार की गई थी। प्राचीन भारतीय राजनीति की इन सुदृढ़ परम्पराओं से राजतंत्र (Monarchy) के अंतर्गत ही उसके व्यावहारिक प्रजातंत्रात्मक रूप का स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है और यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास उस राजनैतिक पद्धति का सुन्दर चित्र है, जहाँ शासक अपना व्यक्तित्व जनता के साथ, और अपने सुख तथा हित जनता के सुख व हित के साथ सम्मिलित कर लेते थे ÷ तथा प्राणिमात्र का हित करना उनके जीवन का चरम लक्ष्य होता था।*

प्रश्न

1. Discuss the powers & functions of a Hindu King & show that though in theory he was autocret, in practice he was a constitutional head of the state.

2. Was hindu monarchy theocracy ? Dicuss.

3. Trace the evolution of monarchy in ancient India & show how the power of monarch was kept in proper check.

4. Examine the position of the King & his relationship to the Purohita in the age of the Rigveda.

× देवीचन्द्रगुप्तम्-विशाखदत्त रचित नाटक है जो अप्राप्य है, किंतु इसके कुछ अंश नाट्य दर्पण ग्रंथ में उद्धृत हैं जिसके प्रणेता रामचन्द्र और गुणचन्द्र हैं।

+ बाण ने बृहद्रथ को पदच्युत किए जाने का कारण उसका "प्रतिज्ञा-दुर्बल' होना माना है।

÷ प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च हिते हितम्। नात्म प्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ अर्थशास्त्र १/१९/२६

* सर्वलोकहितेन (अशोक-शिलाभिलेख ६) (सर्वभूतहिते रताः-गीता।

नवाँ अध्याय

अभिषेकोत्सव

(Coronation Ceremony)

प्रस्तावना—प्राचीन भारत की अनेक परम्पराओं और संस्थाओं में अभिषेकोत्सव का एक प्रधान एवं महत्वपूर्ण स्थान है। अन्य संस्थाएं चाहे रही हों अथवा नहीं किन्तु इस अभिषेकोत्सव के सम्बन्ध में तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह परम्परा, भारतवर्ष के स्वतंत्र होने की तिथि तक और उसके पश्चात् भी राज्यों के एकीकरण तक, भारत के प्राचीन देशी राज्यों में बराबर चलती रही। राजघरानों में तो शायद आज भी इस परम्परा का पालन होता है। किन्तु महत्व की दृष्टि से अब इस परम्परा की कोई प्रधानता नहीं। यों तो हम यह भी कह सकते हैं कि आधुनिक काल में नवोदित प्रजातंत्र राज्यों में जो शपथ ग्रहण का नियम है यह निश्चित रूप से अभिषेकोत्सव का ही अवशेष एवं परिवर्तित रूप है। इस प्रकार वैदिक काल से प्रारम्भ होने वाले इस उत्सव की महत्ता क्या थी, किस प्रकार इसे सम्पन्न किया जाता था, इसके प्रभाव क्या होते थे और जीवन भर इसका क्या महत्व रहता था, प्राचीन भारत की राजनीति का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए, यह सचमुच एक रोचक विषय है। वास्तव में ब्राह्मण साहित्य के युग में यह अभिषेकोत्सव बहुत विशाल (Elaborate), परम्परामय (Ritualistic) तथा तकनीकी (Technical) बन गया था और एक निश्चित धार्मिक उत्सव तथा पद्धति के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। राजघरानों के लिए इस पद्धति को मान्यता दे दी गई थी। उसी समय से प्रत्येक हिन्दू राजा और सम्राट् ने निरन्तर इसका पालन किया है। नए राजा को अपने पद का पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए अभिषेकोत्सव अनिवार्य माना गया था। इस उत्सव के बिना कोई व्यक्ति सम्राट् नहीं बन सकता था। हमारा सम्बन्ध अधिकांश इस उत्सव की संवैधानिक महत्ता से है-केवल रीति-रिवाज और अभिषेकोत्सव की परम्परा से नहीं। परन्तु अध्ययन थोड़ा बहुत सभी परम्पराओं का करना अनिवार्य हो जाता है।

अभिषेकोत्सव का वर्णन—वेदों में समाज के अध्यक्षों के अभिषेक के लिए तीन उत्सवों का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम **राजसूय** अर्थात् सम्राट् का कार्य प्रारम्भ (Inauguration of a King)। दूसरा वाजपेय अर्थात् राजा का वास्तविक संस्कार

(Consecrating of a King) और तीसरा सर्वमेध अर्थात् विश्वराज्य के लिए 'बलिदान) यज्ञ करना। × इनमें से दूसरा तो राजनैतिक क्षेत्र का उत्सव नहीं था, केवल खेलों आदि के उद्घाटन में प्रयोग में आता था और यही बाद में राजघरानों और धार्मिक उत्सवों में भी अपना लिया गया था। तीसरा सर्वमेध तो एक विशेष उत्सव था, इसे सम्राट् करता था जो पहले से ही शासक होता था। किन्तु प्रथम "राजसूय" अभिषेक की वास्तविक परम्परा थी। शततथ ब्राह्मण में उल्लेख है-"राज्ञ एव राजसूयम्" अर्थात् राजा के लिए वास्तविक परम्परा 'राजसूय' की है। इसी के द्वारा वह सम्राट् बनता है। आगे जाकर "वाजपेय" को 'राजसूय" के पहले की परम्परा माना जाने लगा था। "राजसूय" को भी मुख्य तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है--(१) प्रारम्भिक-यज्ञ (Preliminary Sacrifices), (२) अभिषेकनीय (Sprinkling or Anointing) एवं (३) उत्तर-अभिषेकनीय परम्पराएँ (Post-anointing Ceremonies)। इन तीनों में मध्य भाग अर्थात् अभिषेकनीय सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसी उत्सव के पश्चात् वह व्यक्ति सम्राट् कहलाता था, इससे पूर्व वह साधारण नागरिक रहता था।

(१) प्रारंभिक यज्ञ के अंतर्गत ग्यारह भेंटें (एकादश रत्नानि) राज्य के विभिन्न ग्यारह प्रधान अधिकारियों को दी जाती थीं। ये लोग सेनानी, पुरोहित, महिषी (Queen), सूत (Court Minstrel) ग्रामणी, क्षत्री (The Chamberlain) संग्रहीत्री या संनिधात्री (Master of the Treasury), भागदुघा (Collector of Revenue) समाहर्त्रि, अक्षवाप (Controller of Gambling), गोविकर्तृ (Master of forest or Distroyer of Beast) और पालागला (The Courier) इन्हें 'रत्निन' कहा जाता था। इनमें से प्रत्येक राज्य के लिए महत्वपूर्ण सेवाएँ अर्पित करता था। पालागला (The Courier) शूद्र जाति का होता था। अंतिम दोनों के नाम मैत्रायणी संहिता में तक्षा (Carpenter) और रथकार (Chari of-builder) बताए गए हैं। + वास्तव में प्राचीन काल में "पलाश-मणि" भेंट की जाती थी और ये 'रत्निन' इसी मणि से संबंधित थे। ये लोग "राजकृतः" (King-makers) भी कहलाते थे। राज्य के स्तम्भ होते थे और सम्राट इन पर विश्वास करता था। इसीलिए इस श्रेणी में वे सब लोग थे जिनका सहयोग कुशल व्यवस्था और चतुर प्रशासन के लिए अनिवार्य माना जाता था। यजुर्वेद की संहिता के अनुसार रथकार और तक्षा भी रत्निन में सम्मिलित किए जा सकते हैं, क्योंकि उनकी स्वामिभक्ति पर राजा की सुरक्षा और यात्रा की निरापदता निर्भर करती थी। जितना बड़ा राज्य---उतना ही विभिन्न कार्यक्षेत्र का विस्तार। इन रत्निन के चुनाव में संभवतः वर्ग और जातियों का ध्यान रखा जाता था। शूद्र जाति के प्रतिनिधि से लेकर उच्चकुलीन पुरोहित तक इसी श्रेणी में थे। इन्हें रामायण में भी 'राजकर्त्तारः' कहा गया है। जैसे आधुनिक समय में केबिनेट सदस्यों का महत्व होता है उसी प्रकार प्राचीन काल में राजतंत्र होते हुए भी

× शतपथ ब्राह्मण, अध्याय १३।

+ M. S. II. 6. 5. As quoted by Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page 203.

ये "रत्निन" वास्तव में (King-makers) राजकृत: थे जो राजा को अपने पद पर सुशोभित रखने में कुशल होते थे और सम्पूर्ण शासन में पूर्ण सहयोग देकर सफल बनाते थे।

डॉ० जायसवाल का मत है कि ये 'रत्निन' मौलिक रूप से समिति के अंग थे और सम्राट के पूर्व भी स्वतंत्र रूप से विद्यमान थे। यही कारण है कि बाद में भी इनका स्थान "सम्राट--रचयिता के रूप में माना जाता रहा। इनके महत्व के कारण ही इन्हें प्रत्येक अभि-षेकोत्सव के पूर्व सम्राट द्वारा सम्मानित किया जाता था। यही नहीं, सम्राट के अभिषेकोत्सव के अंतर्गत समस्त संबंधित महत्वपूर्ण संस्थाओं और व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त किया जाता था और सम्राट अत्यन्त नम्रतापूर्वक प्रशासन के उत्तरदायित्व को जीवन पर्यन्त वहन करने के लिए स्वीकार करता था। धरती माँ की "अनुमति" भी प्राप्त की जाती थी। ÷ इसके बाद सोम और रुद्र को पेय चढ़ाया जाता था, जिसका अर्थ था कि दैविक शक्ति भी सहायक बनी रहे।

(२) अभिषेकनीय (Sprinkling Ceremony)—उत्सव का यह भाग उस समय आरंभ होता था जब प्रारंभिक यज्ञ समाप्त हो जाते थे और देवताओं से आशीर्वाद लेने के लिए कार्य आरंभ होता था। देवताओं से कुछ शक्तियों और गुणों की याचना की जाती थी जिससे सम्राट पूर्ण रूपेण योग्य और कुशल बन जाय। सविता (सूर्य्य) से शक्ति, सोम से वनों की रक्षा, गुरु से वाणी, इन्दु से शासन, रुद्र से पशुरक्षा, मित्र से सत्य तथा वरुण से विधि की सुरक्षा के लिए प्रार्थना की जाती थी। तत्पश्चात् अनेक जल-स्थानों से एकत्रित जल द्वारा अभिषेक किया जाता है। समुद्र, झील, तालाब, कुओं, पुष्करिणी आदि सभी स्थानों से इसलिए जल एकत्रित किया जाता था कि जल स्वतंत्र हैं, राष्ट्र को जीवन देने वाले हैं। इनकी कृपा भी भावी सम्राट के लिए अपेक्षित है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है "स्वराजस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमनुष्मै दत्त" अर्थात् अपने स्वभाव के अनुसार मुझे भी स्वतंत्र राष्ट्र प्रदान करें। इसमें यह भी भावना है कि सब स्थानों का महत्व मानते हुए उनकी महत्ता बताई है और उनके सहयोग की प्रार्थना की है। इसके बाद अभिषेक का दूसरा भाग आरम्भ होता था जब सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व सम्राट् के ललाट पर पुरोहित द्वारा तिलक किया जाता था और वह बिछी हुई केहरिछाला पर खड़ा हो जाता था। यहाँ चार व्यक्ति—ब्राह्मण, कुलबन्धु, राजन्य और वैश्य उसका अभिषेक करते थे। इन चारों व्यक्तियों को चारों वर्णों का प्रतिनिधि बताया गया है। तात्पर्य यह कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चारों प्रकार के प्रतिनिधि अभिषेकोत्सव में भाग लेते थे। बाद के ग्रन्थों में तो शूद्र की उपस्थिति सदैव स्वीकार की गई है। तत्पचात् सम्राट् पवित्र वस्त्र, और मुकुट (किरीट) धारण करता था और पुरोहित उसे एक दृढ़ धनुष एवं तीन बाण यह कामना करता हुआ प्रदान करता था—"रक्षा करो" और फिर अनेक प्रकार से देवताओं के नाम आदि

÷ शतपथ ब्राह्मण में अनुमति प्राप्त करने का सुन्दर वर्णन है। तदनुसार पीछे न देखते हुए वापस आते हैं और मटकी के आठ गोल टुकड़ों (संभवतः धरती माँ के आकार से साम्य रखने के लिए) पर रोटी रक्खे हुए अनुमति प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ते हैं। (Dr. Jayaswal-Hindu Polity 205)

लेकर घोषणाएँ की जाती थीं । यह सब प्रतीकात्मक (Symbolical) अधिक था और इस पद की वैधानिक स्थिति को अधिक स्पष्ट करता था ।

इससे अधिक महत्वपूर्ण कार्य था शपथ ग्रहण, जिसे उस समय "धृतव्रत" कहा जाता था । तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'सत्यसव', 'सत्यधर्म', 'सत्यराजा' शब्दों का प्रयोग भी हुआ है, परन्तु इनका अर्थ स्पष्ट नहीं है । शपथ ग्रहण सम्राट् द्वारा की जाती थी उसे प्रतिज्ञा भी कहा जाता था । इसमें कोई दैवी तत्व को प्रधानता नहीं दी गई थी । शुद्ध मानव व्यवहार ही इसे माना जा सकता है । पुरोहित, जो समाज का प्रतिनिधि भी माना जाता था और सम्राट् के कुल का गुरु होता था, उसी के समक्ष यह शपथ ग्रहण होती थी । इसके बाद सम्राट् काष्ठ आसन पर आसीन होता था । × जिस पर केहरिछाला बिछी होती थी । यहाँ चारों प्रतिनिधियों को सम्राट् की रक्षा का भार दिया जाता था । यह सम्राट् की स्थिति को पूर्ण रूपेण संवैधानिक (Constitutional) बना देता है । अर्थात् प्रजा द्वारा सुरक्षित सम्राट् प्रशासन संचालित करता था । प्राचीन हिन्दू दण्डनीति का यह कैसा सुन्दर सिद्धान्त था । राजतंत्रात्मक प्रजातंत्र का यह स्वरूप आज के इंगलैंड के प्रजातंत्र से कहीं बढ़कर सिद्ध होता है ।

सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व सम्राट् एक स्वर्णपात्र पर चरण रखता है और पुरोहित द्वारा १०० या ६० छिद्र वाली स्वर्ण-चलनी में होकर सम्राट् पर जल का अभिषेक किया जाता था । उस समय विभिन्न श्लोक और मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था । उस समय पुरोहित सभी देवताओं की स्तुति करता हुआ सम्राट् के लिए उनकी कृपा की कामना करता था । तब तीन चरण काष्ठ सिंहासन पर आगे बढ़ने के बाद सम्राट् को संबोधन करते हुए यह कहा जाता था कि:—

"इयं ते राट् ।..........यन्तासि यमनो ध्रुवोसि धरुणः ।

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषायत्वा" ॥ शतपथ ब्राह्मण । अर्थात् यह राष्ट्र तुम्हें दिया गया है । अब तुम्हीं इसके संचालक और व्यवस्थापक हो, तुम्हीं इस राष्ट्र को ध्रुवरूप से धारण करोगे । कृषि, कल्याण, समृद्धि और विकास के लिए यह राष्ट्र तुम्हें दिया गया है । + तब सम्राट् सिंहासन पर बैठता था । इसके बाद ही सम्राट् को शक्ति (सत्ता) प्राप्त होती थी । राज्य कोई दान, दक्षिणा या भेंट नहीं था वरन् न्यास (Trust) था । जिसकी रक्षा करना सब सम्बन्धित व्यक्तियों का परम धर्म था और सम्राट् उनका अध्यक्ष होता था । इस प्रकार अभिषेकोत्सव द्वारा यह मानवीय संस्था शुद्ध रूप से लोकसंस्था सिद्ध होती है । सम्राट् का चुनाव, मनुष्यों द्वारा मनुष्यों में से होता था । देवताओं से उसके और लोक के कल्याण की प्रार्थना की जाती थी और उत्तरदायित्व अभिषेक-प्रतिज्ञा

× हाथीदाँत और स्वर्ण के सिंहासन होते हुए भी इस उत्सव के अवसर पर काष्ठ आसन का ही उपयोग किया जाता था और उसी पर यह प्रथा सम्पन्न होती थी । भारत के काष्ठ सिंहासन का स्वरूप तो पुराणों में प्रसिद्ध माना गया है ।

+ शतपथ ब्राह्मण–Volume 2. 1. 25 (As quoted by Dr. Jayaswal—Hindu Polity–P. 215.)

द्वारा सम्राट् पर भी रक्खा जाता और समर्थन द्वारा जनता का सहयोग भी आश्वस्त होता था।

(३) उत्तर-अभिषेकनीय परम्पराएँ (Post-anointing Ceremonies)- वास्तविक अभिषेकोत्सव के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् कुछ और भी रूढ़ियाँ सम्पन्न होती थीं। उनका भी अपना-अपना प्रतीकात्मक (Symbolical) अर्थ होता था। शपथ ग्रहण करने वाला सम्राट् फिर सिंहासन से उतर कर वराह-चर्म की जूतियाँ धारण करता था और चार घोड़ों के रथ पर चढ़कर सवारी के लिए जाता था। रामायण-काल में यही राज्याभिषेकोत्सव से सम्बन्धित जुलूस के रूप में परिवर्तित हो गया। पुनः वापस आने पर सम्राट् सिंहासन पर बैठता था और फिर पुरोहित आशीर्वाद देता था। सम्राट् को पीछे से एक दण्ड द्वारा भी स्पर्श किया जाता था। इसका प्रतीकात्मक अर्थ यही था कि दण्डनीति द्वारा ही इस सिंहासन की रक्षा हो सकती है और इसी को हम 'राजदण्ड' का प्रतीक भी मान सकते हैं। कुछ ग्रंथकारों ने इसका अर्थ यह लगाया है कि राजा को 'दण्ड-वध' से सुरक्षित बनाने के लिए यह दण्डस्पर्श किया जाता था। परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता। इसके बाद सम्राट् को सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठित स्वीकार किया जाता था। सारे उच्चा-धिकारी उसके समक्ष कुछ नीचे आसनों पर सुशोभित होते थे; जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, ग्रामणी आदि सभी सभी होते थे। इस प्रकार सम्राट् वास्तव में सबका राजा अर्थात् नायक, और संरक्षक बन जाता था, तब पुरोहित सम्राट् को खड्ग भेंट करता था। यह भी दण्ड का ही प्रतीक थी, जो जनता की रक्षा के हेतु उसे अर्पित की जाती थी। सम्राट् इसी खड्ग को फिर सब अधिकारियों के पास हस्तान्तरित करता था अर्थात् वह सबका सहयोग चाहता था। इसके बाद जुआ का खेल होता था। जैसे खेल में साथी और सहयोगी चाहिए उसी प्रकार राज्य संचालन सहयोग बिना सम्भव नहीं इसीलिए 'रत्निन' के साथ यह खेल जमाया जाता था। गाय की बाजी लगाई जाती थी जो समाज के साधारण सदस्य द्वारा स्वेच्छा से दी जाती थी। ये सभी क्रियाएँ प्रतीकात्मक अर्थ से युक्त थीं और सबका ध्येय एक ऐसी जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था स्थापित करना था जो सहयोग पर आधारित हो और जनहित और जनसमृद्धि से प्रेरित हो।

अभिषेकोत्सव का महत्व तो सदैव से चला आया है और उसकी कुछ बातें तो इतनी महत्वपूर्ण हैं कि आज भी इस विषय के विद्यार्थी को आश्चर्यान्वित किए बिना नहीं रहतीं। उस प्राचीन युग में इतनी उन्नत और संवैधानिक संस्थाएँ भारतवर्ष में सफलता-पूर्वक विद्यमान थीं। इस पर विचार करने से अनेकों महत्वपूर्ण पक्ष हमारे सामने आते हैं। धर्मप्रिय देश होते हुए भी प्राचीन काल में अभिषेकोत्सव पूर्ण रूपेण लोकोपचार के रूप में ही रहा-इसमें किसी दैवी या ईश्वरीय तत्व प्रवेश नहीं कर पाया देवताओं से प्रार्थनाएँ और कृपा की आकांक्षा की जाती थी किन्तु इससे सारा लोकोपचार कुछ पवित्रता की ओर आगे बढ़ा, देवत्व की ओर नहीं। दूसरे, अभिषेकोत्सव यह प्रमाणित करता है कि सम्राट् का पद वंशानुगत नहीं था। समस्त प्रजा द्वारा, अनेकों बार, अनेकों ढंग से, विभिन्न

प्रतिनिधियों द्वारा उसके सिंहासनारूढ़ होने के लिए अनुमति लेनी पड़ती थी और कई लोकोपचारों में उसी व्यक्ति के अभिषेक की पुष्टि की जाती थी। यह प्रथा वास्तव में निर्वाचन की अपेक्षा भी अधिक अच्छी और लोकप्रियता पर आधारित थी। समस्त जनता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग करती थी। कई मंत्र और घोषणाएं यह भी आभास देती हैं कि यह लोकोपचार, समझौते की भाँति, राजा और प्रजा में, एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यनिष्ट और धर्मपरायण बनाने में भी सहायक होता था। अन्य उच्च अधिकारियों की उपस्थिति, उनका सम्मान और सहमति तथा बाद में उन्हीं अधिकारियों द्वारा सम्राट् की प्रतिष्ठा करना और राज्य शासन के उत्तरदायित्व में हर प्रकार की सहायता का आश्वासन देना, यह सिद्ध करता है कि सम्राट् का पद व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं था, बल्कि राज्य की संस्था के रूप में था और वह सभी अधिकारियों (रत्निन) के सहयोग से संचालित होना चाहिए था। हिन्दू राजनीति में राष्ट्र एक न्यास (Trust) माना जाता था और लोकसमृद्धि और जन-कल्याण के हेतु इसकी रचना की गई थी। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति तो कल्पना से परे थी ही; किन्तु राष्ट्र का यथावत् रहना भी असह्य था। निरन्तर प्रगतिशील और विकासोन्मुख बनाए रखना समस्त सम्बन्धित व्यक्तियों का मुख्य उत्तरदायित्व था। सम्राट् के सम्बन्ध में यह तो स्वप्न में भी नहीं सोचा जा सकता कि वह स्वेच्छाचारी बन सकता था। प्रत्येक चरण पर उसकी नम्रता, कर्त्तव्य और सबका सहयोग इस बात का द्योतक है कि वह अकेला असमर्थ है और सबके साथ ही वह राजकार्य में सफल होने का अभिलाषी है। नियमों का स्थान सर्वोच्च था। सम्राट् विधि के अनुसार ही चलता था। अभिषेकोत्सव नियम की महानता और उच्चता को सिद्ध करता है। प्रचीन भारतीय राजनीति में सम्राट् का पद वास्तव में राष्ट्रीय संस्था थी, देशीय अथवा प्रान्तीय नहीं। हमारे पूर्वजों ने जिस वैधानिक तंत्र की कल्पना कर व्यावहारिक रूप दिया, वह वास्तव में अद्भुत और अलौकिक है।

पदच्युत सम्राट—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद में पदच्युत सम्राट के लिए भी एक यज्ञ का विधान है, जिसे सौत्रामणि यज्ञ (Sautramani Sacrifice) कहते हैं। इससे गह सिद्ध होता है कि सिंहासनारूढ़ करने के समान ही सिंहासनच्युत करने की प्रथा भी प्रचलित थी। वैदिक काल में राजाओं का जीवन पर्यन्त अपने पद पर रहना उस तरह निश्चित नहीं था; जैसा बाद में राजतंत्रात्मक व्यवस्था के समय के लिए सोचा जाने लगा था। पीछे जाकर इस प्रथा का प्रचलित होना वैदिक काल के अनुभव और प्रसंगों के आधार पर सत्य प्रमाणित होता है।

उत्तर-वैदिक काल में राज्याभिषेक उत्सव का महत्व—भारतवर्ष की प्रत्येक संस्था में सदैव से समय के साथ चलने की विलक्षण प्रतिभा रही है। राज्याभिषेक उत्सव भी इसका अपवाद नहीं है। ज्यों ज्यों समय आगे बढ़ता गया और परिस्थितियाँ परिवर्तित होती गईं इस उत्सव की प्रथा में भी साधारण परिवर्त्तन होते गए। महाभारत में लिखा है—

"अर्चयित्वा सभासदः" × अर्थात् सभासदों की अर्चना की गई। प्राचीन काल में जो 'रत्निन' थे उनके स्थान पर महाभारतकाल में सभासद पूज्य बन गए। यह स्पष्ट है कि ये सभासद् वास्तव में मंत्रिपरिषद् (Cabinet) के सदस्य होते थे। रामायणकाल में पौर और जानपद को महत्व दिया गया और रथकारों तथा तक्षा के स्थान पर व्यापारी वर्ग को प्रतिनिधित्व मिला। इसी काल में महिला वर्ग की उपस्थिति भी नवीन तत्व था। अभिषेकोत्सव में कुमारी कन्याएं भी भाग लेती थीं। श्री नीलकण्ठकृत "नीतिमयूख" के अनुसार मुख्य चार अमात्यों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) द्वारा राजा का अभिषेक किया जाता था। + इसके पश्चात् अन्य व्यक्तियों तथा प्रतिनिधियों द्वारा अभिषेक होता था। तब सम्राट् व्यापारी वर्ग तथा मंत्रियों के मध्य में बैठता था। उसके पश्चात् जुलूस निकलता था और उत्सव समाप्त हो जाता था। यह भी वर्णन मिलता है कि बाद में सम्राट् हाथी पर सवार होकर राजधानी का निरीक्षण करता हुआ पुनः राजप्रासाद में प्रवेश करता था। इसके पश्चात् ब्राह्मणों और समाज के प्रतिनिधियों की धर्मपत्नियों को सम्राट् नमस्कार करता था और वे सब सम्राट् को आशीर्वाद देते थे।

इस प्रकार वैदिक काल के लोकोपचार और उसके बाद की रीति में विशेष अन्तर नहीं है परन्तु उसमें क्रमिक विकास अवश्य हुआ है। महिला वर्ग का प्रदेश, प्रतिनिधित्व पर बल तथा अधिकारियों के परिजनों का सम्मिलित होना उत्सव की अधिक लोकप्रियता पर प्रकाश डालता है। इस उत्सव में दूसरा महत्व "शपथ ग्रहण" का है। बाद में इसे "प्रतिज्ञा" "श्रुति" आदि नामों से भी पुकारा गया है किन्तु इसके वैधानिक महत्व में समय के साथ और भी वृद्धि हुई। जब सम्राट् प्रतिज्ञा करता था तो जनता "एवमस्तु" कहती थी अर्थात् ऐसा ही हो। इस प्रकार प्रतिज्ञा माननीय रही और जनता उसकी साक्षी बनी। यह प्रथा इस रूप में अन्यत्र दुर्लभ है। यही नहीं, इस शपथ ग्रहण का प्रभाव समय समय पर बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध होता था। अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकने वाले सम्राट् या राजा को "असत्यप्रतिज्ञ" और "असत्यसन्ध" आदि नाम दिये जाते थे और उसे राज्यसिंहासन पर रहने का अधिकार भी नहीं रहता था। आवश्यकता आने पर सम्राट् बड़े गर्व से अपनी शपथ दुहराया करते थे। रुद्रदमन ने अपने लेख में यह उल्लेख किया है कि वह "सत्यप्रतिज्ञ" था। क्योंकि उसने शास्त्रों के विरुद्ध कोई कर नहीं लगाया। ÷ इसी प्रकार बृहद्रथ मौर्य को जो अपने शासन काल में, विदेशियों को देश से बाहर रखने में दुर्बल रहा, बाण ने "प्रतिज्ञादुर्बल" कहा है। महाभारत में ऐसे व्यक्ति को 'विधर्मा' कहा है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि उत्तर-वैदिक काल में राज्याभिषेक उत्सव का महत्व बढ़ता गया और समाज के जीवन में अधिक उपयोगी सिद्ध होने लगा।

× सभापर्व, अध्याय १३-४/२६/२६.

\+ Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page. 223.

÷ Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page. 228

मध्ययुग और उसके पश्चात्—डॉ० जायसवाल का मत है कि मुस्लिम काल तक भी यह एक आवश्यक संस्कार के रूप में चलता रहा है। बाद में राज्याभिषेक के लिए राजकुमार की अवस्था के सम्बन्ध में कुछ भिन्न भिन्न मत प्रकट हुए हैं। सम्राट खारवेल के लेख से तो यह प्रमाणित होता है कि २४ वर्ष की अवस्था से पूर्व राज्याभिषेक संभव नहीं था। जैनग्रन्थों से यह पता चलता है कि विक्रम का राज्याभिषेक उसकी २५ वर्ष की अवस्था में हुआ था। अशोक का राज्याभिषेक ४ वर्ष तक इसीलिए रुका था कि वह उस समय केवल २० वर्ष का था। तात्पर्य यह है कि अवस्था एक आवश्यक तत्व था और आश्रम व्यवस्था के आधार पर भी २५ वर्ष की आयु हमारे यहाँ प्रथम आश्रम की पूर्णता के लिए अनिवार्य थी। इस युग में भी यह उत्सव साधारण परिवर्त्तनों के साथ उसी रूप में चलता गया। हम राजस्थान के लोग तो इस परम्परा से भलीभाँति परिचित हैं। यहाँ राज्याभिषेक पौराणिक रूप में ही मनाया जाता था। राजा के अचानक देहावसान आदि के अवसर पर कहीं कहीं राजतिलक तत्काल भी किया जाता था। परन्तु शासनाधिकार सदैव ही पूर्ण वयस्क अवस्था में प्राप्त हुआ करते थे। अतः बाद में भी राज्याभिषेक उत्सव मनाया जाता रहा।

उपर्युक्त वर्णन यह स्पष्ट करता है कि इस उत्सव का संवैधानिक महत्व बहुत था और अन्तिम समय तक बना रहा। राजा और प्रजा के पवित्र सम्बन्ध और पारस्परिक सहयोग की उच्च भावना इसमें निहित थी। इन्हीं कारणों से कौटिल्य जैसे राजनीतिज्ञों ने राजतंत्र के गुण गाए हैं। इसी प्रथा के साथ राजा की संस्था का संवैधानिक स्वरूप बन जाना इसकी विशेषता है। नैतिक दृष्टि से इस समय का प्रतिज्ञाबद्ध सम्राट आधुनिक समय के लिखित और कठोर संविधानों से अधिक प्रतिबन्धित रहता था। शपथग्रहण की प्रथा तो आज के प्रजातन्त्रों में भी अपनाई जाती है। परन्तु आज का नैतिक आधार उतना दृढ़ नहीं है। राष्ट्रीय विकास, एकता और दृढ़ता के लिए यह आवश्यक है भी। राज्य के कर्मचारियों को जो शपथ ग्रहण कराई जाती है, यदि वे सच्चे अर्थ में उसका पालन करें तो वर्त्तमान भ्रष्टाचार और ढिलाई रह नहीं सकती। समय पर कार्यालय न जाना, जाकर कार्य न करना, कार्य न करते हुए असंतोष बताना आदि केवल कर्त्तव्य-विमूढ़ता के परिचायक हैं। प्राचीन भारत के आदर्श से यदि प्रत्येक भारतीय अपने को जरा सी सुस्ती में असत्यप्रतिज्ञ, प्रतिज्ञा दुर्बल आदि कह सकने का साहस कर सके तो क्या भारत संसार का अग्रणी नहीं बन सकता? आज भारत में प्रत्येक राजा है और प्रत्येक राजा के लिए अपनी शपथ ग्रहण और राज्याभिषेक की आवश्यकता है। साथ ही आवश्यकता है अपनी शपथ को पूरा करते हुए सत्यप्रतिज्ञ सिद्ध करने की। सम्राट खारवेल का लेख प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श बन जाना चाहिए। जातक-ग्रन्थों के विडम्बन काव्य में कही उक्ति आज सत्य सिद्ध हो रही है। उस समय प्रजातंत्र राज्यों में लोग कहते थे—

"अहं राजा अहं राजन्येति" अर्थात् प्रत्येक आदमी अपने को राजा कहता था और राजा का कहीं पता नहीं था । उस समय भी गणराज्यों की स्थिति थी और आज भी हम गणराज्य के नागरिक हैं । अतः प्राचीन काल का राज्याभिषेक 'उत्सव अपने ऐतिहासिक महत्व के साथ अपना दूसरा महत्व भी रखता है जो आधुनिक भारत का पथप्रदर्शन करने में समर्थ है ।

प्रश्न

1. Explain the constitutional significance of the Coronation Ceremony in the Hindu Polity

दसवाँ अध्याय

लोकसभाएँ

(Public Assemblies)

प्रस्तावना—प्राचीन भारत का लोक-जीवन राजनीतिक दृष्टि से बहुत उन्नत और विकसित रहा है। उस समय जन-जीवन तथा राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ विद्यमान तो थीं ही किन्तु उनकी अभिव्यक्ति के साधन भी संगठित तथा मान्य रूप में प्रस्तुत थे। वेदों का अध्ययन करने से ऐसे प्रसंग अनेक प्राप्त होते हैं। प्राचीन काल के राष्ट्रिय जीवन और राष्ट्रिय गतिविधियों पर तत्कालीन लोकप्रिय संस्थाओं और समितियों के द्वारा पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस श्रेणी में समिति, सभा, विदथ, श्रेणी, पूग, निगम आदि कई संस्थाएँ आती हैं। परन्तु इन सबका संगठन, शक्तियाँ, महत्व, समय तथा कार्य भिन्न भिन्न रहे हैं। इनका अध्ययन बहुत ही रोचक है तथा आधुनिक प्रजातंत्र की लोकप्रिय निर्वाचित संस्थाओं की तुलना के लिए उपयुक्त भी। अतः हम इन संस्थाओं का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

(१) समिति—उपर्युक्त अनेक प्रकार की संस्थाओं में, समिति सबसे बड़ी संस्था थी जो वैदिक काल में हमारे पूर्वजों ने स्थापित की। इस समिति में समस्त जनता की उपस्थिति अपेक्षित होती थी क्योंकि यही संस्था राष्ट्र के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय करती थी। राजा का निर्वाचन, पुनर्निर्वाचन आदि विषय इसी समिति के समक्ष उपस्थित होते थे। "समिति" का शाब्दिक अर्थ भी यही है—सम+इति अर्थात् सम्मिलित होना। दूसरे शब्दों में सम्मेलन अथवा सभा में सम्मिलित होना। इस प्रकार के प्रसंग ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में हैं जहाँ समस्त जनता की उपस्थिति की प्रार्थना की गई है।[१] इस संस्था के अनेक कर्त्तव्यों में से मुख्य राजा का निर्वाचन था। यही संस्था निष्कासित राजा का पुनर्निर्वाचन कर सकती थी। इस प्रकार संवैधानिक दृष्टि से यह सार्वभौम संस्था थी। इसके अतिरिक्त इस संस्था से संबंधित प्रार्थनाओं में यह प्रसंग आता है कि सब सदस्य एकता तथा सर्वसम्मति चाहते थे ताकि राष्ट्र की नीति (मन्त्र or Policy) सुचारु रूप से स्वीकृत व संचालित हो सके।[२]

---

१ "विशस्त्वा सर्वा वान्छन्तु" ऋग्वेद X 173.
"त्वां विशो वृणतां राज्याय" अथर्ववेद III 4. 2.
यहाँ विशः का अर्थ है समस्त जनता। डॉ० जायसवाल (Hindu Polity—Page 12) के मतानुसार वैश्य शब्द की उत्पत्ति इसी से हुई है। 'जिसका अर्थ है साधारण नागरिक।'

२ समानो मन्त्रः समितिः समानी'
समानं व्रतः सहचित्तमेषाम्" (ऋग्वेद VI. 64.)

राज्य के सभी महत्वपूर्ण कार्य जैसे राज्य की नीति का निर्धारण, राजा का निर्वाचन, राष्ट्रिय जीवन की व्यवस्था आदि यही संस्था करती थी। राजा के निर्वाचन व पुनर्निर्वाचन के अधिकार से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इस संस्था और सम्राट या राजा के क्या संबंध थे? कुछ प्रसंगों से यह भी प्रकट होता है कि राजा के लिए समिति की बैठक में उपस्थित होना अनिवार्य कर्त्तव्य था।३ उपस्थित न होने पर राजा असत्य माना जाता था। छांदोग्य उपनिषद् का प्रसंग भी यह समर्थन करता है कि जब श्वेतकेतु आरुणेय गौतम, पांचालों की समिति को देखने गया तो वहाँ के राजा प्रवाहन जैबाल समिति में उपस्थित थे।४ इस प्रकार राजा नैतिक बन्धनानुसार समिति का सेवक था। इस संस्था में ऐसे भाषण दिए जाते थे जो साधारणतया सभी सदस्यों को रुचिकर अनुभव हों। वक्ता यह सिद्ध करने के लिए उत्सुक रहते थे कि उनकी कही बात, दिया हुआ भाषण अथवा प्रस्ताव समिति में अद्वितीय है। अपने विपक्षियों अथवा विरोधियों को वक्तृओं या वाद-विवादों में परास्त करना अभीष्ट माना जाता था और इसके लिए प्रार्थना की जाती थी। इन्द्र से यह कामना की जाती थी कि हमें विरोधियों से अधिक अच्छा भाषण देने की क्षमता दीजिए, तथा विवाद में विजय प्रदान कीजिए। इसके अतिरिक्त समिति राजनैतिक, शैक्षणिक, आर्थिक आदि अन्य क्षेत्रों में भी कार्य करती थी। छांदोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु का प्रसंग आता है।५ श्वेतकेतु केवल चौबीस वर्ष की आयु में शिक्षा समाप्त कर चुका था और यह गर्व करता था कि उसने समस्त धार्मिक व दार्शनिक ग्रंथों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। जब वह पांचाल समिति के समक्ष उपस्थित हुआ तो क्षत्रिय राजा प्रवाहन जैबाल ने उससे पांच दार्शनिक प्रश्न पूछे। कुमार श्वेतकेतु एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। तो यह भाव व्यक्त किया गया कि "इन विषयों का ज्ञान प्राप्त किए बिना कैसे कोई शिक्षित कहला सकता है।"४ इस प्रकार समिति एक राष्ट्रिय अकादमी की भांति कार्य करती थी।

समिति का कार्य संचालन करने के लिए एक अध्यक्ष होता था जिसे ईशान या सभापति (President) कहते थे। इस पद पर विलक्षण प्रतिभा और प्रखरबुद्धि वाला व्यक्ति ही आसीन होता था।६ समिति का संगठन तो समस्त नागरिकों से ही होता था। परन्तु विशिष्ट कार्यों के लिए छोटी छोटी विशेष कमेटियाँ बनाई जाती थीं जिससे राष्ट्रकार्य सुचारु रूप से संचालित हो सके। यह धारणा, कि समस्त राष्ट्र इन समितियों में उपस्थित होता था; इसलिए सारे काम समस्त समिति द्वारा किए जाते थे, अव्यावहारिक प्रतीत होती है। जैसे आधुनिक विधान सभाओं का अधिकांश कार्य विभिन्न समितियाँ करती हैं, उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी यही प्रथा थी। श्वेतकेतु से प्रश्नोत्तर करने का प्रसंग अवश्य ऐसी ही

---

३ राजा न सत्यः समितोरियानः ॥ = ऋग्वेद IX 92. 6.

४ छांदोग्य उपनिषद्–V. 3.

५ पञ्चालानां समितिमेयाय, पञ्चालानां परिषदमाजगाम।

६ अस्य पर्षद ईशानः सहसा सुदुष्टरो जन इति। पार० गृ० सू० III. 13.4

छोटी समिति का है जिसमें कुछ विशेषज्ञ (Experts) थे। इसी में श्वेतकेतु का साक्षात्कार (Interview) किया गया था। वैसे भी, प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त प्राचीन काल में लोकप्रिय रहा था। गाँवों का प्रतिनिधित्व 'ग्रामणी' द्वारा किया जाता था, व्यापारिक संस्थाओं के प्रतिनिधि भी सम्राट के अभिषेक उत्सव में सम्मिलित होते थे और दूसरे वर्गों को भी प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त द्वारा ही उपस्थिति का अधिकार दिया गया था। विशेषकर ग्रामों का अधिक मूल्य था। समस्त गांव एक इकाई होता था और समिति में अनेक ग्रामों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे, यह विश्वास किया जाता है। ग्रामों का अस्तित्व तो नियमानुसार भी इकाई के रूप में ही माना जाता था, इसलिए कभी कभी सारे ग्राम को दण्डित किया गया या ग्राम अभियुक्त या अभियोगी रहा, ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं। समिति के संगठन का आधार हम गाँवों को ही मानते हैं और उनके प्रतिनिधियों द्वारा समिति का निर्माण होता था। डा० अल्टेकर के मतानुसार ऋग्वैदिक राज्य यूनानी नगर राज्यों की भाँति बहुत छोटे होते थे। एक राजधानी होती थी। गांवों स्वायत्त संस्थाएं होती थीं जिसे सभा कहते थे और केन्द्र की संस्था को समिति कहते थे।[७] समिति एक पूर्ण विकसित समाज की संस्था थी जहां वाद-विवाद, मुक्त भाषण, तथा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त व्यवहार में लाये जाते थे। यह स्थिति अविकसित अथवा अर्द्धविकसित समाज में कभी नहीं आ सकती। इसलिए यूरोप की जनसभाओं (Folk-Assembly) प्राचीन भारतीय समिति के समक्ष नहीं ठहर सकतीं। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह संस्था शाश्वत मानी गई थी। इसे "प्रजापति की सुता"[८] कहा है जो विश्व के रचयिता हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के प्रसंग यह सिद्ध करने में समर्थ हैं कि समिति बहुत प्राचीन संस्था थी। वैदिक काल में यह संस्था निरन्तर बनी रही परन्तु साम्राज्यों के विकसित होने के पूर्व ही यह लुप्त हो गई। जातकग्रंथों के समय (६००वर्ष ईसा पूर्व) से पूर्व समिति का अस्तित्व मिट चुका था। इस प्रकार वैदिक काल से लेकर ७०० वर्ष ईसा से पूर्व तक, लगभग १००० वर्ष समिति के निरन्तर बने रहने का समय माना जा सकता है। डॉ० जायसवाल के शब्दों में, "इसी समिति की राख में से दूसरी जानपद व पौर आदि की संस्थाएं विकसित हुई थीं"[९] बहुत उपयुक्त है। यही समिति का संक्षिप्त इतिहास है।

(२) सभा—दूसरी लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध संस्था सभा कहलाती थी। यह संस्था समिति की समकालीन थी। अथर्ववेद में सभा एवं समिति को बहिनें बताया गया है।[१०] यह सम्बन्ध इस बात को सिद्ध करता है कि सभा और समिति का संगठन, कार्य और शक्तियां कुछ समानता लिए हुई थीं। सभा की प्रार्थना में

---

७ Dr. Altekar-The State & Govt. in Ancient India-Page-129. 130

८ "a daughter of Prajapati"-Atharva Veda VII 12

९ Hindu Polity-Page 17.

१० सभा च मां समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। A. V. VII 12, 1.-As quoted by Dr. Jayaswal-Page 19 (Hindu Polity)

समिति की भाँति सहयोग के लिए याचना की जाती थी और विवाद एवं अन्य किसी भी प्रकार का विग्रह अशुभ समझा जाता था। सुमति और सहयोग तथा मिलकर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति प्रशंसनीय समझी जाती थी। यह सभा समय समय पर अनेक प्रकार के प्रस्ताव भी पास किया करती थी। ऐसे निर्णय न तोड़े जा सकते थे और न उनका उल्लंघन ही संभव था। इसी विशेषता के कारण इन्हें 'नरिष्टा' की संज्ञा दी गई थी। प्रत्येक सदस्य वक्ता यह अभिलाषा लेकर आगे बढ़ता था कि समस्त उपस्थित सदस्य उसका सहयोग करेंगे? सभा में असहयोग-विरोध करने का पूर्ण अधिकार और अवसर होता था। एक बार निर्णय ले लेने पर सभा के निर्णय नियम का रूप धारण कर लेते थे और तत्पश्चात् वे नियम सबके लिए मान्य हो जाते थे। उनका उल्लंघन किसी भी प्रकार संभव नहीं था इस तरह अध्ययन करने से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि समिति की भाँति ही सभा भी बहुत महत्वपूर्ण और शक्तियुक्त संस्था थी।

डॉ० जायसवाल के मतानुसार सभा और समिति पहले ही भली भाँति संबंधित थीं परन्तु उनका संबंध किस प्रकार का था यह ज्ञात नहीं है।११ साधारणतया 'सभा' का साहित्यिक अर्थ ऐसी संस्था से है जिसमें सब लोग योग्य हों और मिलकर प्रकाशित हों। १२अर्थात् वे लोग जो सभा के सदस्य बनते थे, वे इस प्रकाश से युक्त हो जाते थे। समाज में तथा राज्य में उनका सम्मान होता था। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सभासद् आज के विधान सभायी अथवा संसद् सदस्यों के समान प्रतिष्ठित होते थे और लोक-जीवन का नेतृत्व उनके हाथ में होता था। यही कारण है कि उन्हें प्रकाश-युक्त और वैभवपूर्ण कहा गया है। सभा के संगठन के विषय में भी कुछ ऐसे प्रसंग प्राप्त हैं जिनके आधार पर हम अनुमानतः यह निर्णय ले सकते हैं कि इस सभा का एक अध्यक्ष होता था और उसे सभापति कहा जाता था। शुक्ल यजुर्वेद में एक पंक्ति इस प्रकार है:—"नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च" १३ अर्थात् सभा तथा सभापति को नमस्कार है। साधारणतया इस सभा में समाज के प्रतिनिधि तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति ही चुने जाते थे जो स्वाभाविक रूप से ही प्रजा के सम्मान के अधिकारी होते थे। प्राचीन काल की अन्य अनेक संस्थाओं में भी इस प्रकार वृद्ध-जनों के हाथ में सत्ता रखी जाती थी और वे सम्मानपूर्वक उस अधिकार का समाज के हित में प्रयोग करते थे। सायण ने भी इस मत की पुष्टि की है। उसके अनुसार—

हे पितरः पालकाः·······पितृभूता वा हे सभासदो जनाः। अर्थात् सभासद् लोग पिता की भाँति पालन करने वाले होते थे, पूर्वजों की भाँति शुभचिन्तक और सत्कार्य के लिए सम्बोधन योग्य होते थे। कम आयु, अनुभव और योग्यता वाले व्यक्तियों की उपस्थिति की संभावना भी इस संस्था में नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार कुशल नीतिज्ञ, अनुभव-

---

११ Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page 19.

१२ सहधर्मेण सद्भिर्वा भातीति सभा। पारस्करगृह्य-As quoted by Dr. Jayaswal.

१३ शुक्ल यजुर्वेद-XVI-24

युक्त वयोवृद्ध तथा समाज के सम्माननीय व्यक्तियों द्वारा ही सभा का निर्माण व संगठन किया जाता था।

सभा के कार्य—प्राचीन काल की संस्थाओं के संगठन तथा कार्यप्रणाली आदि का अध्ययन करने पर यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि प्रजातंत्र राज्यों की सभाएँ प्रतिनिधि संस्थाएँ होती थीं और राज्य की प्रशासनीय समस्त सत्ता इन्हीं संगठनों में हाथ में रहती थी। परन्तु फिर भी इन सभाओं के स्पष्ट कार्यों की सूची नहीं बनाई जा सकती। केवल विभिन्न प्रसंगों के आधार पर तथा विशेष विवरणों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अमुक कार्य तो अवश्य ही यह संस्था संपादित करती थी। साधारणतया राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य उलझे हुए प्रश्नों पर पूर्णतया विचार करना एवं निर्णय करना इन्हीं संस्थाओं के अधिकार में था। विरुढक के आक्रमण के समय शाक्य-सभा द्वारा कपिलवस्तु के द्वार खोलने की गंभीर समस्या पर विचार-विमर्श करना तथा मतदान के पश्चात् बहुमत द्वारा द्वार खोल देने का निर्णय करना इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।[१४] इस घटना से सभा के राजनीतिक अधिकारों का क्षेत्र स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है। सामाजिक क्षेत्र में भी सभा के अधिकार व्यापक थे। कौशल-नरेश प्रसेनजित् के विवाहसम्बन्धी प्रस्ताव पर भी शाक्य सभा ने विचार किया था। प्रसेनजित् ने शाक्यकुमारी से विवाह करने का प्रस्ताव किया था[१५] और इसी पर विचार करने के लिए शाक्य सभा आमंत्रित की गई थी। इस घटना की तुलना इंगलैंड की उस आधुनिक घटना से की जा सकती है जिसके अनुसार सम्राट् एडवर्ड अष्टम को अपनी राजगद्दी छोड़नी पड़ी और संसद् ने अपनी परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाए रखा। इस प्रकार प्राचीन भारत में सभा के अधिकार एवं कार्य माजिक क्षेत्र में भी व्यापक रूप से प्रचलित थे, यह सिद्ध होता है। धार्मिक जीवन के क्षेत्र में भी सभाओं को अधिकार प्राप्त थे। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् पावा की मल्ल सभा का अधिवेशन बुलाया गया था और उसमें केवल इस प्रश्न पर विचार किया गया कि उनका अन्तिम संस्कार किस प्रकार किया जाय। यों तो भारतीय राजनीति सदैव ही धर्म से ओत-प्रोत रही है। सब धर्मों के प्रति एक सा व्यवहार और संरक्षण प्रधान लक्ष्य समझा जाता था; परन्तु फिर भी लोक-कल्याण तथा जन-हित की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रश्नों पर, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था संतुलित बनाए रखने के उद्देश्य से, समय समय पर आवश्यक दिलचस्पी ली जाती भी है। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी सभा निरपेक्ष नहीं कही जा सकती वरन् आवश्यक कार्य संपादित करती हुई सिद्ध होती है और वह भी प्रभावपूर्ण ढंग से। इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि सभा का यह कार्य समाज के धार्मिक जीवन में राज्य द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप है। परन्तु वस्तु-स्थिति इसके विपरीत है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सभा का यह कार्य सिद्ध करता है कि भारतीय राजनीति का समाज के जीवन के प्रति बहुत उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण था।

---

१४ Rockhill–Life of the Buddha–Page 1/119.
१५ Rhys Davis–Budhist India–Page–11.

इस दृष्टान्त से हमारी प्राचीन राजनीतिक संकीर्णता प्रकट नहीं होती, वरन् उसकी उदार एव व्यापक वृत्ति की पुष्टि होती है।

राजनीतिक क्षेत्र में इन्हीं अधिकारों को और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए तीन भागों में बाँटा जा सकता है–व्यवस्थापिका सम्बन्धी, कार्यकारिणी सम्बन्धी तथा न्यायपालिका सम्बन्धी। व्यवस्थापिका सम्बन्धी अधिकारों में सभा पूर्ण शक्तिशाली थी। राज्य के लिए नियम निर्माण करना, राज्य की निर्धारित नीति को मान्यता देना तथा पूर्ण कार्यविधि के अनुसार प्रत्येक प्रस्ताव पारित या रद्द करना इसके मुख्य कार्य थे। महाभारत में भीष्म ने प्रजातन्त्र राज्यों के दोषों की व्याख्या करते हुए इसी तथ्य पर प्रकाश डाला है कि सदस्यों की अधिक संख्या के कारण गोपनीयता नहीं रक्खी जा सकती।[१६] फिर भी सभा द्वारा स्वीकृत नीति के प्रतिकूल कार्य करना अथवा उन्हें टालना किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं था। महात्मा बुद्ध के शब्दों में यह सत्य इस प्रकार प्रकट हुआ है कि लिच्छवियों का भविष्य उसी समय तक उज्ज्वल है जब तक वे बिना नियम बनाए कोई आज्ञा प्रेषित नहीं करते, बने हुए नियम का उल्लंघन नहीं करते और प्राचीन परम्पराओं तथा नियमों के अनुसार कार्य करते रहते हैं।[१७] इस प्रसंग से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सभाओं को व्यवस्थापिका के क्षेत्र में अत्यधिक व्यापक तथा दृढ़ अधिकार प्राप्त थे और उनकी अवहेलना असम्भव थी। कार्यकारिणी सम्बन्धी क्षेत्र में भी सभा पूर्ण शक्तिशाली थी। वास्तव में नीति निर्धारण और नियम निर्माण की पूर्ण सफलता कार्यकारिणी पर ही निर्भर करती है। इस क्षेत्र के अंतर्गत नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार सभा को प्राप्त थे। प्रजातंत्र में और विशेषकर गणतंत्र में स्वयं गण के अध्यक्ष की नियुक्ति सभा द्वारा की जाती थी और अन्य मुख्य अधिकारियों की नियुक्ति भी सभा द्वारा ही की जाती थी। इस प्रकार सभा के रूप में प्रजा के प्रतिनिधियों का प्रशासन पर पूरा अधिकार रहता या। राष्ट्रपति, सभाध्यक्ष, मुख्य मंत्री आदि की नियुक्तियाँ इनमें मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त दैनिक प्रशासन संचालन, वर्त्तमान की भाँति शासन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करना, आर्थिक स्वीकृति देना, वैदेशिक कूटनीतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना, सन्धि-विग्रह का निर्णय करना आदि इसी प्रकार के अन्य कार्य थे, जो सभा करती थी।

न्याय के क्षेत्र में सभा के कार्य और भी अधिक स्पष्ट थे। सभा राष्ट्रिय न्यायालय के रूप में भी कार्य करती थी, इसीलिए सभा को "कृष्ट" और "पीड़ा" भी कहा जाता था।[१८] यह बात आजकल की प्रथा से मिलती-जुलती है, जहाँ न्यायालयों के नाम उनके काम

---

१६ मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्र-कर्षण।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत॥ शान्तिपर्व २०७, २४

१७ दीघनिकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त, डायलाग्स ऑफ दी बुद्ध रीस डेविस, भाग २, पृष्ठ ७९–८५।

१८ पारस्कर गृह्य-III,१३.

के अनुसार रक्खे जाते हैं या जनता जिनका प्रयोग करती है। जैसे फौजदारी न्यायालय, दीवानी या माल का न्यायालय आदि। जिनके नाम से ही उनके काम के क्षेत्र का परिचय प्राप्त हो जाय। इसी कारण सभा में से सफलतापूर्वक आने वाले के मित्र, नाती और सम्बन्धी प्रसन्न बताए जाते थे और स्वयं तथाकथित अपराधी पूर्ण रूप से कलंकमुक्त माना जाता था। इस प्रकार सभा के अधिकार न्यायक्षेत्र में भी व्याप्त थे। इसी सम्बन्ध में जातक-ग्रंथों में अन्य ऐसे प्रसंग भी हैं जो सभा की इस क्षेत्र की व्यापक कार्यवाही को और अधिक सुस्पष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ–"जिस सभा में संत व्यक्ति नहीं है, वह सभा नहीं है," "जो धर्म (न्याय) का उच्चारण नहीं कर सकते, वे सज्जन नहीं हैं," "जो व्यक्तिगत भावुकताओं को दूर रख कर न्याय का पक्ष ले सकें, वे सज्जन हैं। १९ इन वाक्यों द्वारा यह सिद्ध होता है कि सभा का न्यायपक्ष और सभासदों की न्यायप्रियता प्रशंसनीय मानी जाती थी और इसके अभाव या अनुपस्थिति में सभा को सभा ही नहीं माना जाता था।

इस प्रकार सभा बहुत महत्वपूर्ण, सर्व शक्तिसम्पन्न तथा सार्वभौम शक्ति से युक्त एक प्रतिनिधि संस्था थी। वैदिक साहित्य में सभा शब्द का प्रयोग कभी भवन, कक्ष, न्यायालय आदि के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। परन्तु प्रतिनिधि संगठित सभा के रूप में भी यह संस्था बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थी और सभा और समिति समकालीन थीं–यह ऋग्वेद के सम्बन्धित प्रसंग सिद्ध करते हैं। डॉ० जायसवाल के मतानुसार इसी लोकप्रिय सभा के अवशेष, न्याय सभा के रूप में, शाही एवं साम्राज्यवादी केंद्रियकरण के काल तक बने रहे और न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य भी किये जाते रहे। २०

सभा और समिति के सम्बन्ध में इतना जान लेने पर भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इनका वास्तविक और शाश्वत अर्थ क्या था। यह संभव हो सकता है कि इन्हीं संस्थाओं का तात्पर्य भिन्न भिन्न युगों में और परिस्थितियों में भिन्न भिन्न माना जाता रहा हो। आधुनिक विद्वानों में भी इनके अर्थ के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। उदाहरणार्थ: पाश्चात्य विद्वान् लद्विग (Ludwig) की धारणा है कि सभा तो उच्च भवन था जिसमें धनी, पण्डित और ऊँची प्रतिष्ठा के व्यक्तियों के प्रतिनिधि होते थे और समिति कनिष्ठ भवन की भाँति था जिसमें जन-साधारण के प्रतिनिधि होते थे। श्री जिमर (Zimmer) के मतानुसार सभा एक ग्राम संस्था थी और समिति समस्त नीति की केन्द्रिय विधान सभा। श्री हिलब्राण्ड (Hillebrandt) का विचार और ही है। उनकी दृष्टि में सभा और समिति कुछ कुछ समान ही थीं, जिसमें समिति तो संस्था थी और सभा उसका सम्मेलन स्थल। डॉ० जायसवाल के विचार अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं जिनके द्वारा

---

१९ न सा सभा यत्थ न संति संतो न ते संतो ये न भणन्ति धम्मं।
रागं च दोसं च पहाय मोहं धम्मं भणन्ता व भवन्ति संतो॥ As quoted by Dr. Jayaswal—Hindu Polity-Page 21.

२० Dr. Jayaswal—Hindu Polity (Page. 21)

समिति एक राष्ट्रिय संसद् और सभा उसकी कार्यकारिणी के रूप में हो सकती है। तात्पर्य यह है कि इनका वास्तविक सम्बन्ध आज तक एक विचारणीय विषय ही बना हुआ है। इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निर्णय प्राप्त सामग्री के आधार पर लिया जाना सम्भव नहीं है। स्वतन्त्र भारत के शोधकर्त्ता सम्भव है इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश डाल सकें।

(३) विदथ—सभा और समिति के अतिरिक्त एक और संस्था थी जिसे 'विदथ' कहते थे। समाज के धार्मिक जीवन का संगठन इस संस्था द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद में अग्नि को विदथ के रूप में वर्णित किया गया है। जिमर (Zimmer) के विचारानुसार विदथ समिति का ही एक छोटा सा अंग था। परन्तु डॉ० जायसवाल के मतानुसार विदथ ऐसी संस्था हो सकती है जो समिति के भी पहले से विद्यमान थी। ऐसा भी प्रतीत होता है कि विदथ एक प्रारंभिक लोकसभा (Parent folk-assembly) थी जिसमें से आगे जाकर सभा, समिति, सेना आदि प्रकट हुई। क्यों विदथ प्रशासनिक (Civil) सैनिक तथा धार्मिक कर्त्तव्यों से संबंधित थी। २१ डॉ० अल्टेकर के मतानुसार 'विदथ' शब्द की उत्पत्ति विद् धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है धार्मिक सम्मेलन आदि, जहां सर्वोच्च ज्ञान की अपेक्षा की जाती है। ऊपर से यह संस्था ऐसी लगती थी जैसे किसी पूरी जाति (Tribe) का प्रतिनिधित्व करती हो।

इस प्रकार के प्रसंग भी प्राप्त हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि विदथ के कार्य में भी स्त्रियां भाग लेती थीं। वैसे तो वैदिक काल में महिलाओं का स्थान लगभग पुरुष के समान ही था और वे सभी महत्वपूर्ण कार्यों में पुरुष का सहयोग करती थीं; किन्तु विदथ में स्त्रियों का स्थान प्रधानता लिए हुए था। सम्राट भी विदथ में उपस्थित होते थे। श्री एस. आर. शर्मा के मतानुसार विदथ द्वारा सैनिक कार्य भी किए जाते थे। २२ ऋग्वेद के अनुसार विदथ का संबंध राज्य के प्रशासनिक, (Civil) सैनिक (Military) एवं धार्मिक कार्यों से था। २३ परन्तु यह सब होते हुए भी विस्तारपूर्वक विदथ के संबंध में या उसकी विशेषताओं पर अधिक प्रकाश डालना संभव नहीं है। अन्य संस्थाओं की भाँति विदथ भी एक संस्था थी और कुछ समय के लिए समाज से इसका भी अपना महत्व रहा है यह कहा जा सकता है।

(४) सेना (Army)—डॉ० जायसवाल के मतानुसार प्रारंभ में सेना एक संगठन के रूप में थी और समस्त देश ही सैनिक दृष्टि से एक ईकाई समझा जाता था। इसकी संवैधानिक स्थिति भी स्वतंत्र थी। अधिक विवरण इस संस्था के विषय में उपलब्ध नहीं है। कौटिल्य के समय में सेना राज्य के सात भागों में से एक अनिवार्य अंग बन गई, जो हम पढ़ चुके हैं।

---

२१ Dr. Jayaswal—Hindu Polity (Page. 21)

२२ Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society. 1952. PP. 429.

२३ "विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजानो प्रदिवो दधाथे," ऋग्वेद III 38. 5;

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल की प्रवृत्तियाँ इन स्वतंत्र एवं स्वायत्त संस्थाओं के अनेक रूपों में प्रकट होती थीं। यही नहीं, आर्थिक क्षेत्र में भी समाज का जीवन इसी पद्धति पर वैज्ञानिक ढंग से उन्नत हो रहा था। श्रेणी, पूग, निगम आदि उस समय के आर्थिक जीवन के स्तम्भ थे जिनमें व्यापारी वर्ग, श्रमिक वर्ग तथा अन्य प्रकार की सहयोगी वृत्तियाँ संगठित होकर समाज कल्याण एवं आत्मकल्याण के कार्य में संलग्न होते थे। जातक-ग्रंथ तथा धर्म सूत्रों में इस प्रकार के प्रसंगों का बाहुल्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल का राष्ट्रीय जीवन इन संस्थाओं के द्वारा संचालित होता था। इन्ही संस्थाओं की परम्पराएँ आगे चलती गईं। पौर-जनपद सभाएं इन्हीं संस्थाओं के अवशेष माने जाते हैं।

(५) पौर-जनपद—इन संस्थाओं के संबंध में सबसे अच्छा और अधिकृत वर्णन डॉ० जायसवाल ने किया है। उनकी धारणा है कि इन संस्थाओं का समय लगभग ६०० वर्ष ई० पू० से लेकर ६०० वर्ष ई० प० तक निर्धारित किया जा सकता है। यह भारतवर्ष में ऐसा समय था जब अराष्ट्रिय तथा क्षेत्रीय राजतन्त्रों का विकास हो रहा था। और साथ ही राज्यों का विभाजन भी 'राजधानी' और 'समस्त राज्य' के रूप में होने लगा था। राजधानी को "पुर", २४ 'नगर', २५ या 'दुर्ग' २६ कहते थे और शेष समस्त राज्य को 'राष्ट्र', देश अथवा जनपद कहा जाता था। कौटिल्य ने राजनगरी के लिए नगर तथा दुर्ग शब्दों का प्रयोग किया है। पाणिनि तथा पातञ्जलि ने भी राजनगरी के लिए 'नगर' तथा 'पुर' शब्दों का प्रयोग किया है। अशोक के शिलालेख तथा अभिलेखों में भी नगर शब्द का राजधानी के लिए प्रयोग किया गया है। मनु ने भी राजधानी के लिए 'दुर्ग' शब्द का प्रयोग किया है। राजधानी के अतिरिक्त शेष राज्य के लिए ग्राम शब्द का प्रयोग किया जाता था। वीर मित्रोदय, कौटिल्य, पाणिनि तथा पातञ्जलि ने भी यह प्रयोग स्वीकार किया है। प्रत्येक राज्य में राजधानी के अतिरिक्त शेष भाग अर्थात् ग्रामों के समूह को सामूहिक रूप से जनपद, राष्ट्र तथा देश कहा जाता था। इसकी पुष्टि विभिन्न प्रसंगों से स्पष्टतः हो जाती है। मनु ने जाति, जनपद तथा कुल का उल्लेख किया है :—

"जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ मनुस्मृति ८।४१

इसी प्रकार दूसरे स्थल पर देश, कुल तथा जाति का उल्लेख भी किया है। जिससे देश तथा जनपद पर्यायवाची होना सिद्ध होता है। व्यास ने जनपद एवं देश को समानार्थी माना है और जनपद के अध्यक्ष को ही देशाध्यक्ष कहा गया है। २७ जनपद तथा राष्ट्र भी

---

२४ "पुरं मुख्यनगरम्"—वीर मित्रोदय, पृष्ठ ११।

२५ "नगरं राजधानी"—अर्थशास्त्र, पृष्ठ ४६।

२६ अर्थशास्त्र में दुर्ग भी राज्य का आवश्यक अङ्ग माना गया है। यहाँ दुर्ग का अभिप्राय उस स्थान से है जहां सम्राट् निवास करता है। यहीं से राज्य-कार्य संचालित होता था और सम्राट् की प्रतिष्ठा व रक्षा की व्यवस्था की जाती थी, इसलिए इसे राजनगरी या राजधानी कहते थे।

२७ देशाध्यक्षादिना लेख्यं यत् जानपदम् स्मृतम्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति २।८९ (Hindu Polity-P. 243)

पर्यायवाची थे। इसका दशकुमारचरित द्वारा समर्थन होता है। इसके अनुसार एक एक ही व्यक्ति को राष्ट्र–मुख्य तथा जनपद–महत्तर कहा गया था। २८ इन दोनों शब्दों, मुख्य एवं महत्तर का अर्थ प्रधान से है। अतः यह सिद्ध है कि जनपद, राष्ट्र तथा देश का प्रयोग प्राचीन भारत में एक ही अर्थ में होता था। इस प्रकार यह निर्णय सही है कि 'पुर' से तात्पर्य राजधानी से था और 'जनपद' से तात्पर्य राजधानी के अतिरिक्त साम्राज्य या राज्य के शेष भाग से।

पौर तथा जनपद संस्थाओं का क्षेत्र :—उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध है कि 'पौर' और 'जनपद' क्रमशः राजधानी तथा राज्य के शेष भाग की संस्थाएँ थीं। इसलिए यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन संस्थाओं के सदस्यों का निर्वाचन भी इन्हीं क्षेत्रों से होता होगा। १७० वर्ष-ई० पू० के खारवेल लेख द्वारा यह पुष्टि हो चुकी है कि जनपद् महत्त्वपूर्ण संस्था थी और सम्राट द्वारा जनपद को विशेष अधिकार प्रदान किए जाते थे। रामायण के अयोध्याकाण्ड में भी यह स्पष्ट वर्णन मिलता है कि जनपद राजतिलक की प्रतीक्षा कर रहा था और जनपद पहले ही सर्वसम्मति से यह निर्णय कर चुका था कि राजतिलक हो जाना चाहिए। यह निर्णय जनपद ने पौर के साथ संयुक्त सम्मेलन में लिया था और सब की एक सम्मति थी।२९ मनुस्मृति में लिखा है :—

जाति जानपदान्धर्म्माञ्छ्रेणीधर्म्मांश्च धर्म्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्म्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ अर्थात् जाति, जनपद और श्रेणियों के नियमों (धर्म) का प्रतिपादन किया जाता था। ३० याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार जनपद, गण, श्रेणी तथा जातियाँ हर प्रकार से इकाइयाँ होती थीं और उनके लिए स्वधर्म का अनुसरण करना अनिवार्य माना जाता था। ३१ गण और श्रेणी के साथ इस स्मृति में 'कुल' का प्रयोग भी किया गया है अर्थात् 'कुल' भी इसी प्रकार की एक संस्था थी, यह सिद्ध होता है। बृहस्पति ने भी श्रेणी, पूग आदि के साथ जनपद का प्रयोग किया है। 'देश,' 'संघ' तथा 'जनपद' एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं जिसका अर्थ था राजधानी रहित सम्पूर्ण राज्य की संस्था। इन संस्थाओं की विद्यमानता की पुष्टि नालन्दा में प्राप्त मुहरों से और भी अच्छी तरह हो गई है। ये मुहरें सिद्ध करती हैं कि जनपद तथा पौर पूर्ण रूप से संगठित संस्थाएँ थीं। इन मुहरों पर लिखा है :—"पौरिका ग्रामजनपदस्थाः"। आजकल जैसे ग्राम-पंचायत, विधानसभा आदि की मुहरें होती हैं। उसी प्रकार की ये मुहरें भी थीं।

---

२८ दशकुमारचरित–अध्याय ३.

२९ रामायण अयोध्याकाण्ड. पंक्ति २०–२२ (अध्याय २)

३० मनुस्मृति–अध्याय ८।४१.

३१ व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्।
कुलानिजातिश्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि॥
स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि।
ग्रामश्रेणिगणानाञ्च संकेतः समयक्रिया॥ याज्ञवल्क्य, प्रथम ३६०, ३६१॥

पौर—राजधानी की विधानसभा 'पौर' साधारणतया देश की विधानसभा, जनपद के साथ ही प्रयोग में आती रही है इसीलिए डॉ० जायसवाल ने भी पौर-जनपद दोनों का प्रयोग एक साथ ही किया है। इससे यह भी प्रकट होता है कि ये दोनों संस्थाएँ युग्म बहनों की भाँति (Twin Sisters) अथवा एक जोडी (Pair) की तरह ही समाज में रही हैं। इसीलिए कभी कभी एक संस्था के नाम के साथ ही दूसरी संस्था को समझ लिया जाता रहा है। पौर का अर्थ यह तो नहीं है कि राज्य के प्रत्येक नगर की संस्था समझा जाय। कुछ विद्वानों ने प्रारम्भ में ऐसा अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है किन्तु अब यह भ्रामक माना जाता है। 'पुर' और 'नगर' का अर्थ तो अवश्य राजधानी होता था और प्राचीन हिन्दू लेखकों ने ऐसा ही माना है। अब इसके कर्त्तव्यों पर विचार करना है।

कर्त्तव्य—पौर के कर्त्तव्य प्रधान रूप से राजधानी की सीमाओं तक ही प्रभावशाली थे। नगरपालिका के समान राजधानी का पूर्ण नागरिक प्रशासन इस संस्था के हाथ में था। परन्तु इस कर्त्तव्य के अतिरिक्त वैधानिक अधिकार और कर्त्तव्यों का प्रयोग भी यह संस्था करती थी। सर्वप्रथम हमें नागरिक कर्त्तव्यों पर विचार करना चाहिए। पौर की अध्यक्षता राजधानी के सुप्रसिद्ध नागरिक द्वारा की जाती थी, जो साधारणतया धनी अथवा मुख्य व्यापारी महाजन होता था। उसे 'श्रेष्ठी' कहा जाता था। वह पौर का सभापति या अध्यक्ष होता था और नगर की व्यवस्था के सब कार्य व निर्णय यहाँ लिये जाते थे। नए नियम बनाना तथा अनावश्यक नियम रद्द यहीं किये जाते थे। रामायण के अनुसार पौर में आंतरीय और बाह्य दो वर्ग होते थे। आंतरीय वर्ग आधुनिक केबिनेट की भाँति होता था जो कार्यकारिणी की तरह सम्पूर्ण महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करता था। इसे नगरवृद्ध (Council of elders) समिति कहते थे। इसमें शूद्र भी हो सकता था। भूतपूर्व सदस्यों की समाज में प्रतिष्ठा की जाती थी। मुख्य मुख्य पर्वों और उत्सवों पर उनका सम्मान किया जाता था। वे इस सम्मान के अधिकारी माने जाते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि इन संस्थाओं के संगठन का आधार लोकप्रियता तथा निर्वाचन होता था। पौर के कार्यालय में लेखसूची (Register) रखी जाती थी, जिसमें लौकिक-लेख (Popular documents) एवं राजकीय लेख (Government documents) का पूरा विवरण रखा जाता था। इस प्रकार के लेखों का प्रमाण अकाट्य माना जाता था।

पौर के अन्य कार्यों में अ-राजनीतिक कार्य भी महत्वपूर्ण थे। सम्राट की ओर से उन्हें यह अधिकार प्रदान किया जाता था कि अवशिष्ट सम्पत्ति (मृतकों द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति—Estates) का प्रबंध पौर ही करें। इसलिए इस कार्य को अवशिष्ट ही कहा जाता था। इसी प्रकार के कार्य और थे जो क्रमशः पौष्टिक, शान्तिक, 'न्यायिक' एवं 'दैविक' कहे जाते थे। 'पौष्टिक' का अर्थ था ऐसे कार्य जिन्हें करने से नागरिकों के कल्याण की वृद्धि हो, वे आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से मजबूत बनें। शान्तिक के अंतर्गत ऐसे कार्य किए जाते थे जिनसे राजधानी में शांति सुनिश्चित बनी रहे। पुलिस की व्यवस्था इसी के अन्तर्गत मानी जा सकती है। यह भी तीन प्रकार की व्यवस्था होती थी—साधारण, विशेष और गुप्त

(Discretionary)। न्यायिक के अंतर्गत पौर अपने न्यायालय द्वारा निर्णयों की व्यवस्था करता था जिसमें फौजदारी नियमों का महत्वपूर्ण स्थान था। साहस (Violence) के अभियोग उपस्थित होते थे और उनका न्याय पौर न्यायालयों में किया जाता था। 'दैविक' के अंतर्गत पौर पवित्र स्थान, मंदिर आदि तथा जनता के लिए विनोदस्थलों का प्रबन्ध करता था। उनकी मरम्मत करवाना, देखरेख की व्यवस्था करना पौर के मुख्य कार्य थे। इस क्षेत्र में भी पौर बड़ा सजग था। सभा (Assembly), प्रपा (प्याऊ), तटाक (तालाब), आराम (विश्रान्तिगृह), देवगृह (मंदिर) आदि की व्यवस्था पौर द्वारा ही की जाती थी। इस संबंध में पाटलिपुत्र की व्यवस्था आदर्श मानी जा सकती है जिसका वर्णन हम आगे प्रशासन के अंतर्गत करेंगे।

पौर तथा निगम:—प्राचीन साहित्य में कई स्थानों पर पौर तथा निगम का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। इस साधन से पौर के सम्बन्ध में कुछ और बातों का ज्ञान भी होता है। संस्कृत में पौर-जनपद का प्रयोग हुआ है और जातक-ग्रंथों में निगम-जनपद का।[३२] पाली साहित्य भी इसी का समर्थन करता है।[३३] वीर मित्रोदय में लिखा है:—"नैगमाः पौराः," "नैगमः पौरसमूहः"[३४] अर्थात् निगम और पौर समान थे। निगम का अर्थ राजधानी के उद्योगपति, व्यापारी तथा शिल्पियों का संगठन है जिसमें सब सम्बन्धित श्रेणियों का प्रतिनिधित्व हो। वीर मित्रोदय में भी पुर के वणिकों की सभा को निगम बताया है।[३५] नासिक गुफालेख भी यह प्रमाणित करता है कि 'निगम' राजधानी के प्रमुख व्यापारियों की ही सामूहिक प्रतिनिधि संस्था थी। इस लेख के अनुसार एक दानी ने गोवर्धन की निश्चित श्रेणियों के पास कुछ धन जमा किया था।[३६] उसका उद्देश्य था कि उसके व्याज को निश्चित दान में व्यय किया जाय। यह कार्य उसने निगम सभा में लेख-बद्ध (Registered) करा दिया था। इस लेख से यह प्रकट होता है कि निगम सभा अपने अन्तर्गत विभिन्न श्रेणियों के कार्यों का भी निरीक्षण करती थी और यह अधिकार निगम को इसलिए प्राप्त था कि वह समस्त श्रेणियों की प्रतिनिधि संस्था थी। ऐसा न होने की अवस्था में इस सारी कार्यवाही का कोई अर्थ ही नहीं होता। इसलिए उक्त स्थिति में सन्देह को स्थान नहीं है। इसी प्रसंग में यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में विभिन्न व्यापारियों, शिल्पकारों एवं श्रमजीवियों के संगठनों को श्रेणी तथा पूग कहा जाता था और निगम इन सबकी प्रतिनिधि संस्था थी। यहाँ आकर हम यह निस्संकोच मान सकते हैं कि निगम सभा के लिए पूग एवं श्रेणी के सदस्य निर्वाचित होते थे।

३२ सब्बे नैगमजानपदे—जातक १ पृ० १४६.

३३ नेगमा च एव जानपदा च ते भवं राजा आमन्तयतं। दीघनिकाय।

३४ वीरमित्रोदय (चण्डेश्वर) पृ० १७७ तथा १८०।

३५ नैगमाः पौरवाणिजः—वीर मित्रोदय (मित्रमिश्र) पृ० १२०।

३६ "गोवर्धन-वाथवासुश्रेणिसु कोलीकनिकाये २००० वृधिपड्किरात''एते च सवेस्रावित निगम सभाय निबध च फलकवारे चरित्रतेति" Nasik cave inciption. E. I. VIII. 82. Txst.

अथवा श्रेणी तथा पूग के निर्वाचित अध्यक्ष ही निगम सभा के पदेन (Ex-officio) सदस्य रहते होंगे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि निगम का उद्देश्य राजधानी के हितों का आर्थिक दृष्टि से संरक्षण और उनका विकास करना था।

पौर और निगम के घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण यही स्थिति हम पौर के सम्बन्ध में भी समझ सकते हैं। निगम की भाँति ही पौर के सदस्य भी पूग तथा श्रेणी के रूप में विभिन्न हितों के अध्यक्ष रहते होंगे। रामायण में प्राप्त प्रसंग इस बात की पुष्टि करते हैं कि पौर में अनेक अध्यक्ष उपस्थित रहते थे।[३७] पौर तथा निगम की निकटता के कारण यह भी अनुमान किया जा सकता है कि प्रारंभ में ये दोनों नाम एक ही संस्था के हों और कार्य के अनुसार विभिन्न नामों से पुकारी जाती हो। आधुनिक काल में जैसे कलक्टर एवं जिलाधीश अथवा जिला एवं सेशन्स न्यायालय का प्रयोग होता है उसी प्रकार यह संभव समझा जा सकता है। जब वह व्यावसायिक हित सम्बन्धी काम करती हो तो निगम और जब प्रशासन सम्बन्धी कार्य करती हो तो पौर कहा जाता हो। दशकुमारचरित में एक पौर-मुख्य का प्रसंग आता है जो विदेशी व्यापार से सम्बन्धित श्रेणी का अध्यक्ष था और यही आशा है कि पौर के अन्य सदस्य भी किसी न किसी संस्था के अध्यक्ष होते थे। निगमाध्यक्ष की भाँति पौर का भी अध्यक्ष होता था और उसे 'श्रेष्ठी' कहा जाता था; किन्तु निग्रोध जातक (४४५) में राजगहसेट्ठी तथा साधारणसेट्ठी में स्पष्ट अन्तर किया गया है। राजधानी के पौर के अध्यक्ष राजगृहश्रेष्ठी कहलाते थे और दूसरी संस्थाओं के अध्यक्ष केवल श्रेष्ठी। पंजाब के सेठी लोग संभव है इसी श्रेष्ठी शब्द से सम्बन्धित हों।

कार्ल मार्क्स ने समाज के आर्थिक आधार का सिद्धान्त अपनाया है। संभवतः प्राचीन भारत के लोग इससे पूर्णरूपेण परिचित थे। 'पौर' और 'निगम' की सहचारिता इस ओर स्पष्ट इंगित करती है। वैदिक काल से ही भारत में वाणिज्य, शिल्पकला और श्रम को उचित स्थान प्राप्त था। रथकार, कर्म्मार आदि के रूप में इनके प्रतिनिधि वैदिक समिति के सदस्य भी होते थे। वर्त्तमान समय में जैसे व्यापारी संघ, चेम्बर ऑफ कामर्स तथा विश्व विद्यालयों आदि के विशेष प्रतिनिधि विधान सभाओं में स्थान पाते हैं। उसी प्रकार उस समय भी भारत में इन व्यापारियों एवं श्रमजीवियों को देश की राजनीति एवं व्यवस्थापना में उचित एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहता था। इसी स्थिति से प्रोत्साहन पाकर देश का शिल्प और व्यवसाय भी उन्नत और विकसित होता था। प्राचीन भारत की समृद्धि का मूल कारण यही था और ये श्रेणियाँ तथा पूग उसके प्राण थे। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारत की सुदृढ़ और संगठित अर्थ-व्यवस्था ही राजनीतिक व्यवस्था का स्तम्भ थी और पौर केवल एक आर्थिक अंग ही नहीं वरन् एक सुव्यवस्थित लोकप्रिय सामाजिक तथा राजनीतिक संस्था भी थी जो दीर्घ काल तक विद्यमान रही।

पौर तथा जातियाँ:—सामान्यतः पौर संस्था में जातिभेद नहीं था। प्रतिनिधि तो विभिन्न श्रेणी एवं संगठनों से आते थे किन्तु जाति को कोई महत्व नहीं दिया जाता था।

---

३७. मुख्या ये निगमस्य च—अयोध्याकाण्ड १५/५/२.
पौरजानपदश्रेष्ठा—अयोध्याकाण्ड १४/५/४०.

चाहे कोई निम्न जाति का हो अथवा उच्च जाति का, पौर का सदस्य बनने के पश्चात् समस्त समाज उसे श्रद्धा और सम्मान अर्पित करता था। उस समय जातिगत उच्चता या नीचता को कोई स्थान नहीं था। गौतम धर्मसूत्र में आये प्रसंगानुसार ब्राह्मण को एक शूद्र पौर सदस्य का भी खडे होकर सम्मान करना चाहिए, चाहे वह अस्सी वर्ष से कम अवस्था का हो ।३८ अर्थात् पौर सदस्य शूद्र तो सम्मान का अधिकारी है ही; परन्तु पौर का भूतपूर्व शूद्रों सदस्य भी सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी है । साथ ही यह भी स्पष्ट है शूद्रों की श्रेणियाँ भी होती थीं और उनके प्रतिनिधि भी पौर में स्थान पाते थे। ऐसी समाज व्यवस्था प्राचीन भारत में विद्यमान थी यह जानकर किस भारतीय को गर्व नहीं होगा। इस प्रकार पौर जातिभेद रहित किन्तु आर्थिक व्यवस्था पर आधारित एक लोकतंत्रात्मक संस्था थी जिसके सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से इन श्रेणी, पूग आदि संस्थाओं के सदस्यों से होता था और इन संस्थाओं के सदस्य सम्बन्धित जनता द्वारा निर्वाचित होते थे । इस प्रकार समस्त प्रजा प्रत्यक्ष रूप में अपनी संस्था तथा अप्रत्यक्ष रूप में पौर के निर्वाचनों में भाग लेती थीं।

पौर या निगम मुद्राएँ (Paur or Nigema Coins)–अर्थशास्त्र (पृष्ठ ८९) के अनुसार पौर की स्वर्णमुद्राएँ होती थीं जो राजकीय मुद्रालय (Royal Mint) में निर्मित होती थीं। डा० जायसवाल के मतानुसार यह पौर का एक विधायी कार्य हो सकता है जिसके द्वारा राजकीय मुद्रालय के अनुचित मुद्रानिर्माण पर प्रतिबन्ध रखा जा सके अथवा यह एक शुद्ध आर्थिक कर्त्तव्य के रूप में ही रहा हो।३९ पौर और निगम का प्रयोग है, साथ साथ और समान अर्थ में होता ही था यह हम ऊपर देख चुके हैं । अतः पौर का यह महत्वपूर्ण अर्थ-कार्य था और अर्थशास्त्र के अनुसार ये मुद्राएँ पौर अथवा राजधानी के व्यवसायियों के प्रयोग के लिए राजकीय मुद्रालय द्वारा निर्मित होती थीं।४० उन पर राजधानी का नाम अंकित किया जाता था । इसी कारण उन्हें पौर की मुद्राएँ कहा जा सकता है। इस प्रकार निगम और पौर का साहचर्य सिद्ध होने पर ही पौर का पर्याप्त ज्ञान हो पाता है । फिर भी पूरा पूरा विवरण इसे नहीं कहा जा सकता ।

जनपद—पौर की भाँति जनपद भी, राजधानी के अतिरिक्त, शेष समस्त राज्य की प्रतिनिधि संस्था थी। राजधानी की भाँति शेष राज्य भी सम्भव श्रेणी तथा पूग आदि संस्थाओं से अच्छादित था और ये संस्थाएँ समस्त जनता की प्रतिनिधि संस्थाएँ थीं। प्रत्येक गाँव में भी इन संस्थाओं के अध्यक्ष थे और इन्हीं अध्यक्षों में से जनपद के सदस्यों का

---

३८ ऋत्विक्श्वशुरपितृव्यमातुलानां तु यवीयसां प्रत्युत्थानमनभिवाद्याः ॥
तथान्यः-पूर्वः पौरोऽशीतिकावरः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन ॥
अवरोऽप्यार्यः शूद्रेण ॥ गौतमधर्मसूत्र ६/९/११

३९ Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page 252.

४० सौवर्णिकः पौरजानपदानां रूप्यसुवर्णमावेशनिभिः कारयेत् । अर्थशास्त्र-पृष्ठ ८९ ।

चुनाव होता था। जनपद का इस प्रकार ग्राम–चुनाव क्षेत्रों के आधार पर संगठन होता था और ग्रामों की व्यवस्था जनपद के अधीन होती थी। दशकुमारचरित में एक जगह है कि जनपद के अध्यक्ष से एक शासक, ग्रामणी के सताने संबंधी प्रार्थना करता है। इससे यह निष्कर्ष जाता है कि जनपद संस्था ग्रामणी के कार्यों का निरीक्षण भी करती थी। वैसे वैदिक काल में तो ग्रामणी समिति का भी सदस्य होता था। पौर की भाँति जनपद का भी एक अध्यक्ष होता था। वह जनपदमुख्य अथवा राष्ट्र मुख्य कहलाता था।४१ जनपद संस्था का कार्यालय भी राजधानी में ही रहता था और आवश्यकतानुसार राज्य के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार-विमर्श के लिए पौर तथा जनपद संस्थाओं का संयुक्त सम्मेलन भी होता रहता था।

जनपद का संगठन—प्राचीन भारत के विशाल राज्यों में असंख्य गाँवों और उनकी श्रेणियों तथा पूगों में निर्वाचन की व्यवस्था कैसे होती होगी, यह एक कठिन प्रश्न है। परन्तु फिर भी प्राप्त सामग्री के आधार पर यह तो सत्य है कि यह निर्वाचन होता अवश्य था। नालन्दा से प्राप्त छठी या सातवीं शताब्दी की मुहरों के आधार पर यह सिद्ध है कि ग्रामों में भी जनपद संस्थाएँ स्थापित थीं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मुहर पर अंकित है :—"पुरिका ग्राम जनपदस्थाः"। इसलिए यह निष्कर्ष उचित है कि राज्य के प्रशासनीय भागों के आधार पर अनेकों ग्रामों से क्षेत्रीय जनपद संस्थाओं के सदस्यों का निर्वाचन होता था और फिर इसी प्रकार अन्त में केन्द्रिय जनपद संस्था के सदस्य, क्षेत्रीय जनपद के सदस्यों से होता था। बहुत संभव है कि क्षेत्रीय संस्थाओं के अध्यक्ष ही केन्द्रिय संस्था के सदस्य होते थे।

जनपद के कार्य– जैसा पहले कहा जा चुका है, विभिन्न प्रसंगों से ही हम यह ज्ञात कर पाते हैं कि जनपद के क्या क्या कार्य सम्भव थे। मुख्य रूप से हम इन कार्यों को आर्थिक, संवैधानिक, राजनैतिक एवं विशेष, चार भागों में विभाजित कर सकते हैं। आर्थिक कार्य के क्षेत्र में जनपद बहुत शक्तिशाली संस्था प्रतीत होती है। पौर की भाँति जनपद भी राजकीय मुद्रालयाध्यक्ष द्वारा अपनी मुद्राएँ बनवाते थे। यह आर्थिक कार्य था। इसके द्वारा जनपद यह देखरेख रखता था कि राज्य में विनिमय के लिए मुद्राएँ पर्याप्त मात्रा में हैं या नहीं, भार एवं शुद्ध धातु का प्रयोग ठीक ठीक है या नहीं, तथा मुद्राओं के पुराने हो जाने के कारण जनता को विनिमय में कोई कष्ट तो नहीं होता है आदि। एक-दो बार जन साधारण द्वारा इस प्रकार की आपत्तियाँ भी की गई थीं इसी क्षेत्र में दूसरा आर्थिक कार्य था कर संबंधी (Taxation) साधारणतया सामान्य नियमों (Common Law) द्वारा कर निर्धारित किये जाते थे, परन्तु कभी कभी सम्राट को विशेष आवश्यकताएँ भी होती थीं और राजा विशेष आवेदन करता था। इसे "प्रणय" कहा जाता था। ऐसे प्रस्ताव सर्वप्रथम पौर–जनपद के समक्ष ही उपस्थित किये जाते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को पौर–जनपद से ही ये कर मांगने पड़ते थे।४२ और जनपद सभाओं में राजा के करों के आधिक्य की चर्चा तो साधारणतया हुआ ही करती थी। युद्धकाल तथा अन्य प्रकार के संक्रमणकाल में नये

---

४१ दशकुमारचरित–अध्याय ३.

४२ एतेन प्रदेशेन राजा पौरजानपदान् भिक्षते। अर्थशास्त्र–भाग ५, अध्याय २, पृष्ठ ९०

कर लगाने की चेष्टा तथा जनपद द्वारा उसका विरोध करने के प्रसंग तो बहुत मिलते हैं। सम्राट द्वारा प्रत्येक व्यय भी जनपद द्वारा स्वीकृत होता था और जनपद स्वीकृत या अस्वीकृत करने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र था। रुद्रदमन द्वारा सुदर्शन झील की मरम्मत का उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है। मंत्रिमण्डल द्वारा अस्वीकार करने पर रुद्रदमन ने निजी सम्पत्ति से यह कार्य करवाया और जनपद को कष्ट नहीं दिया। इस प्रकार जनपद जनता के कोष का संरक्षक सिद्ध होता है। पूर्ण अर्थव्यवस्था में जनपद की स्वीकृति अनिवार्य होती थी। नये कर लगाना, कम करना आदि सारे कार्य जनपद की स्पष्ट स्वीकृति से होते थे। इस प्रकार आर्थिक कार्य के क्षेत्र में जनपद शक्तिशाली संस्था थी।

संवैधानिक कार्य के क्षेत्र में भी जनपद महत्वपूर्ण संस्था थी। इस क्षेत्र में साधारणतया पौर और जनपद साथ साथ आती थीं। युवराज की नियुक्ति इस प्रकार के कार्य में मुख्य था। जनपद के विचार-विमर्श व निर्णय के पश्चात् सम्राट से युवराज के राजतिलक के लिए कहा जाता था। वे कहते थे कि इस युवराज को "हम चाहते हैं।" रामायण में राम के राजतिलक का प्रसंग बड़ा रोचक और महत्वपूर्ण है। दशरथ यह प्रश्न करते हैं कि मैं धर्म के अनुसार शासन कर रहा हूँ, फिर भी आप लोग राम को युवराज के पद पर अत्यधिक शक्तियों के साथ नियुक्त करना चाहते हैं, इसका क्या कारण है। इस पर जनपद के सदस्य उसे कारण सहित समझाते हैं कि राम इक्ष्वाकु वंश के रत्न हैं और अनेक अद्भुत शासनीय गुणों से युक्त हैं। तब सम्राट सहमत होता है। यहां यह स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि जनपद युवराज की नियुक्ति का कार्य करता था। अभिषेकोत्सव में जनपद के प्रतिनिधि एक लोकतंत्रात्मक संस्था के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेते थे। उत्तराधिकार के संबंध में भी जनपद सार्वभौम संस्था थी। अनुचित होने पर उत्तराधिकार को रोकने की सामर्थ्य भी जनपद में थी। राज्याभिषेक के पश्चात् सम्राट श्रेणियों के अध्यक्षों की धर्मपत्नियों को आशीर्वाद लेने के लिए प्रणाम करता था। इससे उनके महत्व का ज्ञान होता है। अन्य सम्राज्ञीय उत्सवों में भी जनपद के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। इनके अतिरिक्त राजाओं और सम्राटों को पदच्युत करने का अधिकार भी जनपद को प्राप्त था। धर्मविरुद्ध शासन चलाने वाले राजा को पदच्युत करना तथा उसके भाई अथवा उस वंश से बाहर अन्य धर्मानुकूल शासन चलाने वाले व्यक्ति को सिंहासन दे देना जनपद के अधिकार में था। पदच्युत सम्राट को वनवास देना भी जनपद के अधिकार में था। जनपद के विश्वासपात्र व्यक्ति को ही सम्राट, मंत्र (Policy) दण्ड (Government) मंत्रित (Premier) आदि के अधिकार देता था। इस प्रकार संवैधानिक सरकार का सा रूप बन जाता था। राज्य-नीति भी जनपद द्वारा स्वीकृत होती थी और उनकी सम्मति पर ही मंत्रिमण्डल के सदस्यों की कार्यविधि निर्भर थी। स्कन्दगुप्त के राज्यपाल चक्रपालित ने एक लेख में यह घोषित किया है कि उसने अल्प काल में ही पौर-जनपद आदि लोकप्रिय संस्थाओं का विश्वास प्राप्त कर लिया है और यह प्रार्थना करता है कि भविष्य में राजधानी समृद्धिशाली बने और पौर के प्रति स्वामिभक्त रहे। ४३ प्रांतों के

४३ नगरमपि च भूयाद्‌द्धिमत्पौरजुष्टम्। जूनागढ़-लेख—४५७-५८ ई० प०

मुख्य नगरों (Head Quarters) में भी ये संस्थाएं थीं परन्तु वहां पौर का नाम ही अधिक आता है। दिव्यावधान में वर्णित उत्तरपथ की राजधानी तक्षशिला के पौर की क्रांति भी बहुत रोचक तथा महत्वपूर्ण है। सम्राट अशोक ने जब अपने पुत्र कुणाल को शांति स्थापना के लिए भेजा तो पौर ने संबोधन किया कि हम राजकुमार या सम्राट के विरुद्ध नहीं हैं किन्तु उन दुष्ट निरंकुश मंत्रियों के विरुद्ध हैं जो हमारा अपमान करते हैं। ४४ अतः यह सिद्ध होता है कि शासन के क्षेत्र में जनपद पूर्ण संवैधानिक शक्तियों से युक्त होता था। सम्राट आवश्यकतानुसार जनपद के समक्ष सम्भाषण देता था और अपनी आवश्यकताओं को उपस्थित करता था।४५ धन के लिये भी याचना करता था कि संकट की स्थिति आ जाने से धन चाहता हूं इस स्थिति के हट जाने पर वापिस लौटा दूँगा, इस प्रकार मधुर सभ्यतापूर्वक भाषण द्वारा धन दान की प्रार्थना करता था। भवत् (Honourable) भवद्भिः संगतैः (Your Honourable Assembly) आदि संबोधन के शब्द राजा द्वारा प्रयुक्त किए जाते थे।

साथ ही पौर तथा जनपद को सम्राट द्वारा विशेष अनुग्रह (Privileges) प्रदान किए जाते थे। खारवेल लेख में यह उल्लेख है कि एक वर्ष पौर को तथा जनपद को बहुत से अनुग्रह प्रदान किए गए। कौटिल्य ने भी यह लिखा है कि शत्रु देश में गुप्तचरों द्वारा वहां के जनपद के नेताओं को अधिक अनुग्रह प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना चाहिए और जब वहां दुर्भिक्ष आदि आपत्तियां हों तब और भी अधिक। याज्ञवल्क्य के अनुसार जनपद की चोरी की क्षतिपूर्ति राजा को करनी चाहिए।४६ इस प्रकार प्रशासनीय क्षेत्र में भी जनपद शक्तिशाली था। क्योंकि शासन की त्रुटियों के लिए सम्राट उत्तरदायी था और जनपद क्षतिपूर्ति करवाने का अधिकारी समझा गया था। जैसे नये कर के लिए जनपद की स्वीकृति अनिवार्य थी, इसी प्रकार बड़े यज्ञ आदि कार्यों के लिए राजा को स्वीकृति लेनी होती थी और जनपद अपनी अनुमति देकर राजा को सुखी बनाता था। इस प्रकार राजा और जनपद दोनों परस्पर एक दूसरे से अनुग्रह और सहयोग प्राप्त करते हुए चलते थे। अमेरिका की प्रतिबन्ध और संतुलन पद्धति (Checks & Balance System) का यह सुन्दर उदाहरण प्राचीन भारत की प्रजातंत्रात्मक पद्धति में प्राप्त होता है। इतना सुन्दर समन्वय आधुनिक काल में दुर्लभ है। राजा और जनपद का यह संबंध यदा-कदा ही नहीं था किन्तु प्रतिदिन यह आवश्यक था। अर्थशास्त्र में दिए हुए सम्राट के कार्यक्रम और दिनचर्या में नित्यप्रति पौर-जनपद के साथ कुछ समय व्यतीत करना लिखा है। इसलिए सिद्ध होता है कि आर्थिक, राजनैतिक तथा प्रशासनीय सब प्रकार के कार्यों का निपटारा इन संस्थाओं के सहयोग से किया जाता था। यहां तक कि सैनिक समस्या भी इनके सामने आती थी।

धार्मिक क्षेत्र में भी जनपद हस्तक्षेप करता था। अशोक ने अपने नये धर्म की चर्चा जनपद के समक्ष की थी और उसकी अनुमति के बाद ही अशोक ने नया धर्म घोषित किया।

---

४४ दिव्यावधान—पृष्ठ ४०७-०८।
४५ Dr. Jayaswal—Hindu Polity. PP. 264-267 Quotation From Mahabharat.
४६ देयं चौर-हृतं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु। याज्ञवल्क्य II ३६

इस प्रकार अन्य विशेष विषयों के संबंध में भी जनपद शक्तिशाली संस्था थी। यदि न्यायालय द्वारा कोई वास्तविक अपराधी छोड़ दिया जाता था तो भी जनपद उसे दण्ड देने योग्य था—ऐसा मृच्छकटिक में उल्लेख है। परन्तु इसकी सत्यता एवं वास्तविकता में विश्वास नहीं किया जा सकता। सम्राट एवं युवराज इन सभाओं में उपस्थित होते थे, क्योंकि ये संस्थाएं प्रशासन को स्थापित और विस्थापित करने के योग्य होती थीं। पौर-जनपद अपने अपने क्षेत्र में सहायता कार्य भी करती थीं। निर्धन और निस्सहाय व्यक्तियों की सुरक्षा का कार्य बड़ी तत्परता से किया जाता था। महाभारत में लिखा है कि पौर-जनपदा यस्य भूतेषु च दयालवः। सधना धान्यवन्तश्च दृढ़मूलः स पार्थिवः॥४७ अर्थात् यदि पौर-जनपद जनता प्रति दयालु रहें और धनधान्य उनके पास हो तो राज्य बहुत मजबूत रहेगा। विरोधी होने पर पौर-जनपद सम्राट को क्षतिपूर्ति की समस्या द्वारा ही संकट में डाल सकते हैं।

पौर-जनपद को नियम बनाने के अधिकार भी थे और ये कार्य इन संस्थाओं द्वारा किये जाते थे। इनके प्रमाण हिन्दू न्यायशास्त्रों में उपलब्ध हैं। इन संस्थाओं द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव नियम की भाँति प्रभावशाली होते थे और न्यायालय सदस्य अपराधियों की जाँच करने में नियमों की भाँति उनका उपयोग करते थे। इन्हें 'समय' कहा जाता था। मनु और याज्ञवल्क्य ने इन्हें धर्म का नाम दिया है। "स्थिति" या "देशस्थिति" (Fixed Laws) दूसरे प्रकार के प्रस्ताव थे, जो सब लोगों के विरुद्ध कार्य में लाये जाते थे। ये समझौते या "समविद्" कहे जाते थे और "समविद् पत्र" में शपथपूर्वक अंकित किए जाते थे। कभी कभी ये सम्राट के विरुद्ध भी होते थे, किंतु न्यायालय ऐसे समझौतों को प्रभावित करने के लिए बाध्य नहीं थे।

इस प्रकार पौर और जनपद ऐसी संस्थाएं थीं, जो सम्राट पर प्रतिबन्ध थीं, जनता की संरक्षक थीं और प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था की प्राण थीं। प्राचीन भारत में ऐसी संस्थाओं की विद्यमानता आज के भारतवर्ष के लिए गौरवमय आदर्श के रूप में स्वीकार की जा सकती है। भारतवर्ष की जनसंख्या, क्षेत्रफल तथा स्थानीय समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए वही प्राचीन आदर्श इस समय भी सम्बल हो सकता है।

आलोचना:—अल्टेकर के मतानुसार पौर और जनपद जैसी संस्थाएं जिनका विशद वर्णन डॉ॰ जायसवाल ने भी किया है, कभी नहीं रहीं। इस धारणा के पक्ष में उन्होंने निम्नाङ्कित बातें कहीं हैं :—(१) पौर-जनपद की अभिव्यक्ति कभी भी द्विवचन के अर्थ में नहीं हुई। रामायण में वर्णित प्रसंगानुसार भी पौर-जनपद कभी प्रभावशाली नहीं रहा। (२) खारवेल के हाथी गुफालेख में उल्लिखित अनुग्रह का अर्थ विशेषाधिकार नहीं हो सकते, क्योंकि वे सैकड़ों और हजारों नहीं हो सकते। उन पर व्यय की हुई धनराशि सहस्रों में हो सकती है तथा खारवेल का प्रशासन तथा नीति कभी किसी लोकप्रिय नगर संस्था के वशीभूत नहीं रहा। वह स्वयं संधि अथवा युद्ध कर सकता था। (३) स्मृतियों में पौर-जनपद के प्रसंग से जनपद की संस्था का ज्ञान नहीं होता। जनपद-धर्म का प्रयोग केवल देश की प्रथा

---

४७ महाभारत—शांतिपर्व

अथवा सामाजिक नियमों या रीति-रिवाजों के लिये हुआ है, किन्तु लोकप्रिय संस्थाओं के द्वारा स्वीकृत नियमों के अर्थ में नहीं। देशधर्म भी इसी प्रकार स्थानीय नियमों के अर्थ में आये हैं जो देश के प्रत्येक भाग में भिन्न भिन्न होते थे। विवाह, भोजन तथा व्यवसाय की मान्यताएँ भी देश के अनुसार भिन्न भिन्न होती थीं। (४) देश एवं ग्राम के 'समय' का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति पौर-जनपद के नियमों का उल्लंघन करने वाले नहीं माने जा सकते। (५) डॉ० जायसवाल द्वारा प्रतिपादित यह निर्णय स्मृतियों द्वारा समर्थित नहीं है कि पौर के विरोधी को न्यायालय द्वारा भी सहायता नहीं दी जा सकती। (६) पौर सभा के पूर्व सदस्य को सम्मान का अधिकारी माना जाता था चाहे शूद्र ही हो, यह धारणा,गलत अर्थ लगाने के कारण हुई है। वास्तव में प्राचीन भारत में तो वयोवृद्ध लोगों को सम्मान देने की साधारण प्रथा थी ही। पौर का अर्थ नगर का निवासी है न कि नगरसभा का सदस्य। (७) पौर-जनपद की वैधानिक शक्तियाँ भी एक भ्रममात्र हैं। रामायण से उद्धृत पंक्तियाँ जिनमें उत्तराधिकारी की नियुक्ति आदि का अशुद्ध है अर्थ लगाया है। यह सर्वविदित है कि राम की भविष्य जनपद ने नहीं बल्कि राजमहलों के षड्यन्त्र द्वारा निश्चित किया गया था। इसी प्रकार राजा को पदच्युत करने का अधिकार भी असत्य है। विभिन्न कर लगाने का अधिकार डॉ० जायसवाल द्वारा गलत समझा गया है। महाभारत में दिया गया प्रसंग राजा का संभाषण नहीं है किन्तु युक्ति है, जिसका प्रयोग सम्राट को जनता को आश्वस्त करने के लिए, करना चाहिए। इसी प्रकार पौर-जनपद द्वारा सम्राट को क्षतिपूर्ति के लिए बाध्य करने का अधिकार भी नहीं है। पीड़ित नागरिक (जनपद) की क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त तो याज्ञवल्क्य ने भी लिखा है, परन्तु ऐसी लोकप्रिय संस्था का वर्णन नहीं है। इस प्रकार डॉ० जयसवाल के सारे प्रसंग वास्तव में साहित्यिक प्रमाणमात्र हैं; ठोस सामग्री नहीं है।

६०० वर्ष ई० पू० से ६०० वर्ष ई० प० तक जो समय इन संस्थाओं का माना है उस समय के अन्य किसी भी लेख आदि में इनका उल्लेख ही नहीं है। मेगास्थनीज के वर्णन में कई महत्वपूर्ण सूचनाएँ हैं किन्तु पौर-जनपद की संस्थाओं का कोई वर्णन ही नहीं है। न राज्य सप्तांग सिद्धान्त में ही यह सम्मिलित है। नालन्दा की प्राप्त मुहरें भी पंचायत की मुहरें हैं न कि किसी लोकप्रिय संस्थाओं की। अन्य तत्कालीन ताम्रपत्रों में भी कोई प्रसंग प्राप्त नहीं है। कल्हणकृत राजतरंगिणी में भी, जो कश्मीर के जीवन और प्रशासन का पूर्ण चित्र उपस्थित करती है, इसका कोई उल्लेख नहीं है। अतः यह सारा पौर-जनपद का वर्णन एक कपोल-कल्पना है। ४८

उपर्युक्त वर्णन और आलोचना दोनों दो प्रमुख विद्वानों के ऐसे विचार हैं जो (Extreme) विरोध की चरम सीमा पर हैं। इनका अध्ययन और मनन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये संस्थाएँ थीं और इनके वर्णित कर्त्तव्य भी महत्वपूर्ण थे। यद्यपि इनका स्पष्ट वर्णन किसी एक स्थल पर प्राप्त नहीं है, किन्तु डॉ० जायसवाल की शोध का आधार इतना गलत नहीं ठहराया जा सकता, जितना डा० अल्टेकर ने बताया है।

---

४८ Dr. Alteker—State & Govt. Ancient India—PP. 136 to 146.

कुछ उदाहरण तो डॉ० जायसवाल के द्वारा दिए हुए ऐसे अकाट्य हैं, जो पौर-जनपद की विद्यमानता तथा कार्यों की स्पष्ट पुष्टि करते हैं, जैसे अर्थशास्त्र की पंक्ति–"एतेन प्रदेशेन राजा पौरजानपदान् भिद्यते" आदि। प्राचीन भारत की परम्पराओं और प्रजातांत्रिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्तियां अनुपम तो थी हीं परन्तु उनका उल्लेख एक स्थान पर नहीं मिलता। डॉ० जायसवाल के निष्कर्ष और शोध वास्तव में श्रेयस्कर हैं। बहुत अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कुछ अभाव प्रतीत हो सकते हैं किन्तु नई शोध द्वारा उनकी पूर्ति की आशा की जा सकती है; उनके उन्मूलन की नहीं।

इस प्रकार प्राचीन भारत की ये लोकसभाएं वैदिक काल से लेकर ही किसी न किसी रूप में चलती रहीं और प्रजातंत्रात्मक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती रहीं। कभी विकसित, कभी अर्द्धविकसित और कभी सुप्त अवस्था में इन संस्थाओं का उत्थान-पतन चलता रहा। एक संस्था के पश्चात् दूसरी और दूसरी के अवशेष के रूप में तीसरी संस्था उद्भूत होती गई। इन सब प्रसंगों से एकमात्र निर्णय लिया जा सकता है कि लोकप्रिय संस्थाएं प्राचीन भारत में सदैव विद्यमान रहीं और अपनी महत्वपूर्ण परम्पराओं का पालन करने में संलग्न रहीं।

प्रश्न

1. Discuss the importance of Paura and Janapada as representative institutions of the people and indicate their place in the administration of the Country.
2. Distinguish between the SABHA and SAMITI of Vedic times and elucidate their composition and functions.

ग्यारहवाँ अध्याय

प्रशासन (१) मन्त्रिमण्डल

(Administration–I–Ministry)

प्रस्तावना—आधुनिक युग में जैसे प्रत्येक प्रजातंत्र राज्य का शासन मंत्रिपरिषद् के द्वारा संचालित होता है उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी मंत्रिपरिषद् विद्यमान थी। डॉ॰ जायसवाल के मतानुसार यह मंत्रिपरिषद् ऐसी संस्था थी जो वैदिककालीन पौराणिक राष्ट्रीय महासभा से उत्पन्न हुई थी। प्राचीन ग्रन्थों के विभिन्न प्रसंगों से यह प्रकट होता है कि राजकृत (King-makers) जो बाद में राज्य के उच्च कर्मचारियों के रूप में प्रकट होते हैं, वे मंत्रिपरिषद् के ही सदस्य थे। महासेनाध्यक्ष, भाण्डागारिक आदि उनमें सम्मिलित होते थे और नव निर्वाचित सम्राट अपने राज्याभिषेक के अवसर पर सम्मानपूर्वक उन्हें प्रणाम करते तथा अर्चना करते थे। इस प्रकार अत्यन्त श्रद्धापूर्वक यह सम्मान उन्हें दो रूपों में भेंट किया जाता था, प्रथम राज्य के उच्चाधिकारियों के रूप में तथा दूसरे समाज के प्रतिनिधियों के रूप में। इससे यह प्रकट होता है कि ये अधिकारी जनता के सच्चे प्रतिनिधि और सेवक होते थे और इसी कारण भावी सम्राट अपने सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व इन सदस्यों की स्वीकृति के अभिलाषी होते थे। इस प्रकार मंत्रिपरिषद् के सदस्य राज्य के कर्मचारी होते थे परन्तु सम्राट के क्रीतदास अथवा उसके अधीन नहीं होते थे। समाज का प्रतिनिधित्व करने के कारण वे सम्राट के परामर्शदाता होते थे। मंत्रिपरिषद् की उत्पत्ति के संबंध में यह कहा जा सकता है कि समस्त सदस्य एक सामूहिक संस्था के रूप में समझे और पुकारे जाते थे। इसलिए उन्हें मंत्रिपरिषद् की संज्ञा दी गई थी। फिर भी विभिन्न ग्रन्थों में उनका प्रसंग एक रूप में नहीं मिलता। केवल यह निश्चय है की मंत्रिपरिषद् प्रत्येक प्रजातंत्र राज्य में रहता था और राज्य के प्रशासन में प्रभावपूर्ण सहयोग रखता था। उस समय का मंत्रिपरिषद् आज के मंत्रिमण्डलों से कहीं अधिक सम्मानित और शक्तिशाली होता था।

नामावली :—अर्थशास्त्र में मंत्रियों की संस्था के लिए 'परिषद्' शब्द का प्रयोग हुआ है, और जातक-ग्रन्थों तथा अशोक के पुस्तक लेखों में 'परिषा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मंत्रिपरिषद् और समितिपरिषद् का भेद स्पष्ट करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि 'परिषद्' शब्द ऐसी संस्था के लिए आता था जो संयुक्त उत्तरदायित्व की पद्धति का अनुसरण करती हो। अशोक ने मंत्रियों के लिए भी विशेष प्रकार के शब्दों का

प्रयोग किया है।१ जिससे यही प्रकट होता है कि राज्य की वास्तविक सत्ता उन्हीं लोगों के हाथ में होती थी जो मंत्रिपरिषद् के सदस्य होते थे। पाली सूत्रों में तथा रामायण आदि ग्रन्थों में मंत्रियों के लिए 'राज्यकर्ता' शब्द का प्रयोग हुआ है।२ प्रति मोक्षसूत्र के अनुसार मंत्रियों को राजा की संज्ञा दी गई है। वहां 'राजानो' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ है "राजाओं" इस प्रकार विभिन्न शब्द जैसे—परिषा, परिषद्, राजूका आदि कुछ मंत्रियों के लिए तथा अधिक मंत्रिमण्डल के लिए व्यवहार में आते थे और यह संस्था प्राचीन भारत में लगभग निरन्तर रही और इसका नाम बहुधा 'परिषद्' ही प्रचलित रहा।

सम्राट से संबंध—प्राप्त प्रसंगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजा और मंत्रिपरिषद् का संबंध घनिष्ठ तो था ही, किन्तु मंत्रियों की अत्यधिक प्रतिष्ठा की जाती थी। महाभारत में यह कहा गया है कि राजा मंत्रिमण्डल पर उसी तरह आश्रित रहता है जैसे पशु बादलों पर, ब्राह्मण वेदों पर, एवं पत्नी पति पर आश्रित रहती है। वास्तव में प्राचीन हिन्दू राजनीति का यह एक स्वीकृत सिद्धान्त एवं नियम था कि अपने मंत्रिमण्डल के परामर्श के अभाव में सम्राट कोई कार्य नहीं कर सकता था। प्रत्येक निर्णय और कार्य के लिए मंत्रिपरिषद् का सहयोग व स्वीकृति अनिवार्य समझी जाती थी। राजा की सफलता योग्य मंत्रियों पर ही निर्भर करती थी। राजा और मंत्री एक ही गाड़ी के दो पहिये समझे जाते थे। जैसे एक पहिये से गाड़ी चल ही नहीं सकती, उसी प्रकार अकेला राजा भी प्रशासन नहीं चला सकता। प्राचीन भारत की सभी स्मृतियाँ, पुराण और राजनीति पर प्राप्त ग्रन्थ तथा सूत्र इस विषय में एकमत हैं। मनुस्मृति में यह लिखा है कि मंत्री, पुरोहित आदि की सहायता से हीन, राजा मूर्ख होता है तथा वह न्यायपूर्वक दण्ड देने के अयोग्य होता है। शास्त्रानुसार व्यवहार करने वाला और बुद्धिमान् राजा मंत्री आदि की सहायता से दण्डविधान कर सकता है।३ ऐसे सम्राट को मनु अयोग्य मानता है जो स्वयं शासन संचालित करना चाहे। अन्यथा सम्राट के लिए परामर्शदाता अनिवार्य हैं जिनसे वह समय पर सम्पर्क स्थापित करता हुआ पथप्रदर्शन प्राप्त कर सके। मनु यहां तक भी लिखते हैं कि सम्राट अत्यन्त सरल कार्य भी अपने मन से न करे। इसलिए राज्य के संचालन के कार्य के संबंध में सबसे सलाह लेना अनिवार्य था। राजतंत्र का प्रबल समर्थक कौटिल्य भी यह आदेश देता है कि छोटे से छोटा अभियोग भी सम्राट को स्वयंनिर्णीत नहीं करना चाहिए और ऐसी छोटी-छोटी बातें भी

---

१ अशोक के शिलालेखों में 'राजूका' शब्द काम में आया है। जिनका अर्थ उन मंत्रियों से है जिन्हें राज्य की सम्पूर्ण शक्तियां दी हुई हों।

२ अयोध्याकाण्ड अध्याय ६६

३ मनुस्मृति अध्याय सप्तम, पृष्ठ २८६ (श्लोक ३० एवं ३१)
सोऽसहायेन मूढेनालुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३०॥
शुचिना सत्यसंधेन यथा शास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥३१॥

अपनी परिषद् के परामर्श से करनी चाहिए। राज्य के सब प्रकार के प्रश्न मंत्रिपरिषद् में प्रस्तुत होने चाहिए और विचार-विमर्श के बाद बहुमत से जो निर्णय किया जाय, सम्राट को उसी का पालन करना चाहिए। अर्थशास्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि यदि मंत्रिमण्डल और मंत्रिपरिषद् दोनों हों तो सबको एक साथ आमंत्रित कर सूचित करना चाहिए और पूर्ण विचार के पश्चात् निर्णय लेकर कार्यान्वित करना चाहिए।[१] कौटिल्य मंत्रिपरिषद् का महत्व बढ़ाते हुए इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि इन्द्र के केवल दो नेत्र थे, परन्तु फिर भी उन्हें 'सहस्राक्ष' अर्थात् सहस्रनेत्र वाला इसलिए कहा जाता है कि उसकी मंत्रिपरिषद् में सहस्र बुद्धिमान् पुरुष थे जो उसके नेत्र माने जाते थे।[२] इसी प्रकार शुक्र नीति सार में भी यह लिखा गया है कि मंत्रियों के परामर्श के बिना राज्य का कोई भी विषय अकेले राजा के द्वारा निर्णीत नहीं होना चाहिए, चाहे वह राजा सब प्रकार के विद्वानों एवं नीतियों में निपुण ही क्यों न हो। बुद्धिमान राजा को सदैव ही मंत्रियों की सम्मति का अनुसरण करना चाहिए। मंत्रिपरिषद् के समक्ष सम्राट का कोई व्यक्तिगत अधिकार अथवा विशेषाधिकार रहा हो ऐसा प्रसंग नहीं मिलता। इसलिए राजा को मंत्रपिरिषद् के निर्णय के विरुद्ध निषेधाधिकार भी नहीं था। बृहस्पति सूत्र के अनुसार सम्राट के लिए यह आदेश दिया गया है कि उचित कार्य (धर्म) भी सम्राट को बुद्धिमानों की सम्मति से ही करना चाहिए।[३] सम्राट को राज्य की ओर से प्रत्येक कार्य मंत्रिपरिषद् की सम्मति और स्वीकृति से ही करना पड़ता था। उसकी स्वीकृति बिना सम्राट न कोई भेंट दे सकता था और न कोई दान। आपस्तम्भ के अनुसार मंत्रिपरिषद् के द्वारा विरोध करने पर सम्राट भेंट देने का अधिकारी नहीं रहता था।[४] सम्राट अशोक ने बौद्ध लोगों के लिए कुछ भेंट देने का आदेश किया था, किन्तु उनके वित्त मंत्री श्री राधागुप्त ने यह भेंट देना अस्वीकार कर दिया था। इसी प्रकार रुद्रदमन के समय में जब सुदर्शन झील के सुधार का प्रस्ताव रक्खा गया तो उस समय मंत्री परिषद् द्वारा आपत्ति की गई। फलवस्रूप सुधार का सम्पूर्ण व्यय रुद्रदमन को स्वयं देना पड़ा। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सम्राट और मंत्रिपरिषद् में घनिष्ठ संबंध था और मंत्रिपरिषद् वास्तविक सार्वभौम सत्ता की अधिकारिणी थी। आपस्तम्भ के अनुसार सम्राट और मंत्रि-परिषद् के संबंध भी नियमों पर आधारित थे और ये नियम सर्वोपरि थे। प्राचीन काल के नियमों की यह प्रतिष्ठा बौद्धकाल के ग्रन्थों से स्पष्ट है। सम्राट अशोक के संबंध में दिव्या-वधान में वर्णित सम्पूर्ण घटना हमारी धारणा को स्पष्ट करती है।[५]

---

१ अर्थशास्त्र भाग प्रथम-अनुच्छेद १५ "आत्यायिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्।
तत्र यद् भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत् कुर्यात्।

२ अर्थशास्त्र--भाग प्रथम--अनुच्छेद १५ "इन्द्रस्य हि मन्त्रपरिषदृषीणां सहस्रं। तन्चक्षुः।

३ धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात्। तस्मादिमं द्वयक्षं सहस्राक्षमाहुः॥"
करोति चेदाशास्येनं बुद्धिमद्भिः" बृहस्पति सूत्र I 4-5-

४ आपस्तम्भ, II. १०-२६.

५ दिव्यावधान पृष्ठ ४३०.

मंत्रिपरिषद् का संगठन—वैदिककालीन रत्निन के उत्तराधिकारी मंत्रियों को शुक्र-नीति में "राष्ट्रभृत्" कहा गया है।१ जिसका तात्पर्य है कि मन्त्री राष्ट्र के लिए उत्तरदायी हैं। भारतीय परम्पराओं में मन्त्री की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। इस दृष्टि से मन्त्री राजा के प्रति भी उत्तरदायी बन जाते थे। परन्तु फिर भी राष्ट्र के स्वार्थ सर्वोपरि होते थे। वे लोग राजा को प्रजातन्त्रात्मक और वैधानिक ढंग से शासन करने के लिए सम्मति देते थे। सम्राट इसीलिये राज्य का सुप्रबन्ध तथा व्यवस्था रखने के लिए आवश्यकतानुसार मंत्रियों की नियुक्ति करते थे। मन्त्रिपरिषद् की सदस्यसंख्या समय समय पर न्यूनाधिक होती रही है। साधारणतया राज्य के आकार, आवश्यकता एवं समस्याओं के आधार पर परिषद् की सदस्यसंख्या निर्धारित की जाती थी। बृहस्पति के अनुसार मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या सोलह थी।२ अर्थशास्त्र के अनुसार आदर्श मन्त्रिपरिषद् में बारह सदस्य होने चाहिए। उषनाश के अनुसार यह सदस्य संख्या बीस बताई गई है। इससे पूर्व मन्त्रिपरिषद् में सदस्यों की संख्या और भी अधिक होती थी। महाभारत में ३२ सदस्यों वाली मंत्रि-परिषद् का भी वर्णन है। यह तो प्रतीत होता है कि साधारणतया छोटी संस्था की ओर ही अधिक झुकाव था। मनुस्मृति में मन्त्रिपरिषद् के लिए केवल सात या आठ सदस्यों की ही स्वीकृति दी है।३ इसी धारणा का समर्थन शुक्र-नीति में भी किया गया है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि शिवाजी का मन्त्रिमण्डल जिसे 'अष्टप्रधान' कहते थे, एक सर्वमान्य परम्परा बन गई थी और मन्त्रिपरिषद् में साधारणतया आठ सदस्य होते थे। शुक्र-नीति के आधार इन आठ सदस्यों के पद एवं विभाग निम्नलिखित होते थे :—

(१) सुमन्त्र (Minister of Finance)
(२) पण्डितामात्य (Minister of Law)
(३) मन्त्री (Home Minister)
(४) प्रधान (President of the Council)
(५) सचिव (Minister of War)
(६) अमात्य (Minister of Revenue and Agriculture)
(७) प्राड्विवाक (Minister of Justice and Chief Justice)
(८) प्रतिनिधि (Representative)

कुछ अन्य विचारकों के अनुसार दो और मन्त्री भी सम्मिलित होते थे।

(९) पुरोहित (Minister of Religion)
(१०) दूत (Minister of Diplomacy)४

---

१ शुक्र नीति सार २।७६.
२ डॉ० जायसवाल—Hindu Polity Page 292.
३ मनुस्मृति-अनुच्छेद सप्तम, श्लोक ५४. (सचिवान्सप्त चाष्टौ वा)
४ शुक्र नीति सार—Age quoted by Jayaswal-Hindu Polity Page 293.

इनके अतिरिक्त युवराज भी मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होता था सम्भवतः परिषद् में नहीं। यद्यपि इस पद पर राजा का भाई, भतीजा, पुत्र, चाचा अथवा दत्तक पुत्र या पौत्र ही होता था और अन्य मन्त्रियों की भाँति वह भी सम्राट को सहायता देता था। युवराज की मुहर अलग होती थी और अलग ही वह हस्ताक्षर करता था। सम्राट अशोक के समय में उनके पुत्र जब तक्षशिला के राज्यपाल थे, उन्हीं का पौत्र (कुणाल का पुत्र) उस समय युवराज के पद पर आसीन था। भट्ट भास्कर के अनुसार युवराज मन्त्री को कुमाराध्यक्ष भी कहा जाता था। अशोक ने अपने प्रस्तर-लेखों में भी 'महामात्रा' और 'कुमार' शब्द का प्रयोग किया है।

मंत्रियों के पद और विभाग समय समय पर विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त हुए हैं। मनुस्मृति के अनुसार सचिव शब्द का अर्थ सहायक के रूप में तथा आम तौर पर मन्त्रिपद के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थशास्त्र में 'अमात्य' शब्द का प्रयोग सब मन्त्रियों के लिए आया है और उसका अर्थ है 'सम्मिलित रहना'। रामायण में भी अमात्य शब्द ही मन्त्रिवर्ग के लिए प्रयोग में आया है। 'अजातशत्रु' में प्रधान मन्त्री के लिए 'अग्रमहामंत्र' तथा 'दिव्यावधान' में प्रधान मंत्री के लिए 'अमात्य' शब्द आया है। अशोक का मुख्यमंत्री राधागुप्त 'आमत्य' शब्द द्वारा ही संबोधित किया जाता था। गुप्तकाल में इसी पद को 'महादण्डनायक' के नाम से पुकारा गया है।

मनुस्मृति में पुरोहित का उल्लेख नहीं है। जातक-ग्रन्थ और धर्मसूत्र के अनुसार पुरोहित धर्मशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र का विद्वान् समझा जाता था और 'आपस्तम्ब' के मतानुसार पुरोहित उन अभियोगों का निर्णय करता था, जिनमें प्रायश्चित्त अथवा इसी प्रकार के अन्य कोई आत्मा को पवित्र करने वाले दण्ड का विधान हो। सम्राट या राजा अधिकांश क्षत्रिय कुल से संबंधित होते थे, इसलिए वे ब्राह्मणों का न्याय करने योग्य नहीं माने जाते थे। यह पुरोहित ही ब्राह्मणों का, राजा की ओर से, न्याय-सम्पादन करते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार ब्राह्मण से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह वेद-वेदान्तों का ज्ञाता-ज्योतिषी, नीतिज्ञ एवं अथर्वण पद्धतियों का मर्मज्ञ होना चाहिए।१ शुक्रनीति के अनुसार पुरोहित को नीतिशास्त्र के अतिरिक्त व्यूह आदि का पूर्ण ज्ञान (सैनिक ज्ञान) भी होना चाहिए था।२

इसी प्रकार दूत अर्थात् विदेश मंत्री के लिए भी कई प्रकार के नाम प्रयोग होते थे। साधारणतया दूत का अर्थ राजदूत (Diplomate) से लिया जाता है। किन्तु प्राचीन काल में दूत का अर्थ कूटनीति-सचिव (Minister of Diplomacy) से लिया जाता था।३ वास्तव में दूत का काम संधि और युद्ध के क्षेत्र में सीमित होता था।४ रामायण एवं शुक्र-

---

१ अर्थशास्त्र भाग १--अनुच्छेद ८ पृष्ठ--१५
२ शुक्रनीतिसार-नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिकुशलस्तु पुरोहितः। ८०
३ मनुस्मृति-अनुच्छेद सप्तम और श्लोक ६५-६६
४ उपरोक्त--दूते सन्धिविपर्ययौ।......एनमानवा।।६६

नीतिसार में भी दूत शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु कुछ समय पश्चात् दूत को 'संधि-वैग्रहिक' भी कहा गया है। ऐसी स्थिति में दूत और संधि वैग्रहिक एक ही पद के दो नाम हैं, यह सिद्ध होता है।

सुमंत्र के लिए मनुस्मृति में यह प्रसंग मिलता है कि नृप स्वयं ही राष्ट्रीय कोष का अधिकारी होता था। "नृपतौ कोषराष्ट्रे च" अर्थात् स्वयं राजा ही कोष संबंधी कार्य करता था। अर्थशास्त्र में वित्तमंत्री को समाहर्ता कहा गया है। शुक्र-नीतिसार में सुमंत्र ही प्रयुक्त हुआ है। कहीं वित्त मंत्री को 'अर्थसंचयकृत्' भी कहा गया है।

सेनापति का पद भी समय समय पर विभिन्न प्रकार से पुकारा गया है। शुक्र–नीतिसार में उसे 'सचिव' कहा गया है। दूसरे स्थानों पर 'महादण्डनायक' 'सेनाध्यक्ष' तथा महाबलाधिकृत शब्द का भी प्रयोग हुआ है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सेना के अध्यक्ष का पद बहुत महत्वपूर्ण होता था और साधारणतया मन्त्रिपरिषद् में भी प्रतिष्ठित स्थान रखता था।

मंत्रिमण्डल एवं मंत्रिपरिषद्—आधुनिक समय में मंत्रिमण्डल और मंत्रिपरिषद् (Ministry and Cabinet का भेद बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण माना जाता है। प्राचीन भारत की राजनीतिक व्यवस्था में परिषद् प्रणाली का बहुत महत्व रहा है। उस सपय भी परिषद् और सूक्ष्म परिषद् (Cabinet and Inner Cabinet) की रचना की जाती थी और अपने अपने कार्य के क्षेत्र मर्यादित होते थे। साधारणतया (१) अमात्य (प्रधान मंत्री), (२) पुरोहित (विधि मंत्री, (३) दूत (विदेश मंत्री), (४) सुमंत्र (वित्त मंत्री) एवं (५) सेनापति (सुरक्षा मंत्री) परिषद् के सदस्य होते थे और युवराज भी इनकी श्रेणी में गिना जाता था। जब अन्य विभागों के अध्यक्ष सम्मिलित होते थे तो मंत्रिमण्डल का रूप हो जाता था। इसी अवस्था में मंत्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या बीस और बत्तीस होती थी। (महाभारत) किन्तु मंत्रिपरिषद् में सदस्यों की संख्या आठ या दस से अधिक होना सम्भव नहीं था और इस मंत्रिपरिषद् में भी एक सूक्ष्म परिषद् होती थी, जिसमें केवल तीन या चार सदस्य होते थे।[१] इन्हीं लोगों से सम्राट विचार-विमर्श किया करते थे। इस आन्तरिक संस्था से सम्राट निरन्तर सम्पर्क रखते थे। अर्थशास्त्र रामायण, और महाभारत में इस सूक्ष्म संस्था के सदस्यों को मंत्री की संज्ञा दी गई है। अर्थात् वे लोग जिनके साथ मंत्रणा की जाय और मंत्रणा सदैव गुप्त एवं गम्भीर होती है, इसलिए मन्त्री शब्द के साथ यह परिस्थिति बहुत उपयुक्त प्रतीत होती है। संस्कृत भाषा में मंत्र (Policy) का अर्थ एक सिद्ध एवं शुद्ध विचार होता है, जो कल्याणकारी भी होता है। राजनीति में राज्य की नीति को भी मंत्र कहा जाता था। इसलिए मंत्री का अर्थ उस व्यक्ति से लिया जाता था जो राज्य के मंत्र का सम्पादन करे। इसलिए रामायण अयोध्याकाण्ड में 'मंत्रधर' तथा महाभारत में 'मंत्रगृह' शब्दों का प्रयोग हुआ है।[२] महाभारत मे सूक्ष्म परिषद् के सदस्यों की संख्या कम से कम

---

१ अर्थशास्त्र पृष्ठ २८

२ महाभारत और रामायण–(As quoted by Dr. Jayaswal–Hindu Polity–Page 298.

तीन और सम्भवतः पांच स्वीकार की गई है । अर्थशास्त्र में यह संख्या तीन अथवा चार प्रस्तावित की गई है । अर्थशास्त्र में ही यह भी प्रसंग है कि बहुत अधिक छोटी परिषद् भी अर्थात् एक व्यक्ति की परिषद् लाभदायक नहीं हो सकती । रामायण में तो स्पष्ट है कि परिषद् में "न तो एक ही व्यक्ति हो और न अनेक" । नीतिवाक्यामृत के अनुसार परिषद के सदस्यों की संख्या सदैव विषम ही होनी चाहिए ।१ इसका अर्थ है कि परिषद् में भी पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात् निर्णय बहुमत के द्वारा सरल बनाने के हेतु यह विधि के रूप में स्वीकार किया गया था । परिषद् के सदस्यों की संख्या सदैव न्यूनाधिक होती रहती थी । इससे यह सिद्ध होता है कि परिषद् प्रणाली एक विकसित संस्था थी, जो प्राचीन भारत में एक व्यक्ति के शासन के स्थान पर अनेक विश्वस्त और चतुर व्यक्तियों के शासन के रूप में प्रकट हुई । एक व्यक्ति का शासन भारतीय समाज में कभी भी नहीं रहा और परम्परा यह सिद्ध करती है कि सदैव समाज के न्यायप्रिय चतुर लोगों द्वारा शासन संचालित होता था ।

मंत्रियों की श्रेणियाँ—प्राचीन भारत में भी सारे मंत्रिगण एक ही श्रेणी के नहीं होते थे । रामायण, शुक्रनीति-सार तथा पाली-ग्रन्थों के अनुसार मंत्रियों की तीन श्रेणियां होती थीं—रामायण में मुख्य (Superior), मध्यम (Intermediaries), और जघन्य (Inferior) श्रेणियां मानी गई है । शुक्र-नीतिसार भी इसी का समर्थन करता है । इसके अतिरिक्त अन्य प्रसंगों से यह प्रकट होता है कि मंत्री चार प्रकार के होते थे—

(१) मंत्रधर अर्थात् वे मंत्रिगण जो सूक्ष्म परिषद् (Inner Cabinet) में सम्मिलित होते थे ।

(२) परिषद-सदस्य अर्थात् जो विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे और मंत्रि परिषद में सक्रिय रहते थे ।

(३) सहायक मंत्री अर्थात् वे लोग जिनके पास कोई निश्चित विभाग नहीं होता था (Ministers with out-Portfolios)

(४) अन्य मंत्रिगण अर्थात् वे लोग जो पदेन (Ex-officio) मंत्रिमण्डल के सदस्य होते थे । जैसे ग्रामणी अथवा पौर-जनपद के अध्यक्ष, पूग-निगम आदि के अध्यक्ष आदि ।

इस प्रकार अनेक श्रेणियों के सदस्यों से मंत्रिमण्डल का निर्माण होता था । बड़े मंत्रिमण्डलों में इनकी संख्या साधारणतया आनुपातिक होती थी और इसी के अनुसार मंत्रियों का वेतन भी निश्चित होता था । प्रथम श्रेणी के मंत्रियों का वेतन ४०००० पण÷ प्रतिवर्ष होता था और इस श्रेणी के मंत्रियों की संख्या चार या पांच होती थी । द्वितीय श्रेणी के मंत्रियों का वेतन २४००० पण प्रतिवर्ष होता था और उनकी संख्या पांच से लेकर नौ तक होती थी । तृतीय श्रेणी के मंत्रियों का वेतन १२००० पण प्रतिवर्ष होता था । उनकी संख्या ग्यारह से लेकर अठारह तक हो सकती थी । आवश्यकतानुसार यह संख्या

---

१ नीतिवाक्यामृत—त्रयः पञ्च सप्त वा मन्त्रिणः कार्या । अनुच्छेद दशम

÷ तत्कालीन रजतमुद्रा, जिसका मूल्य वर्तमान मुद्रानुसार लगभग पचास नये पैसे हो सकता है ।

न्यूनाधिक होती रहती थी। इस दृष्टि से यदि हम आधुनिक प्रजातंत्रात्मक राज्यों के मंत्रिमण्डलों का अध्ययन करे तो हमें कोई नवीनता नहीं मिलेगी। आज भी परिषद्–मंत्री, राज्य–मंत्री, उपमंत्री, एवं अतिरिक्त मंत्री आदि की श्रेणियां होती हैं और उनके पद, वेतन एवं प्रतिष्ठा का भी लगभग उसी प्रकार का क्रम है मंत्रियों की संख्या का अनुपात भी देश, काल और स्थिति के अनुसार लगभग वही होता है, जो प्राचीन भारतवर्ष में होता रहा है।

मंत्रिपरिषद् के कार्य—प्राचीन काल में राज्य का सम्पूर्ण शासनप्रबन्ध मंत्रिपरिषद् के द्वारा ही संचालित होता था। तत्कालीन समस्त ग्रन्थ इस विषय में कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य डालते हैं और उन सबका तात्पर्य यह है कि मंत्रिपरिषद् के कार्य राज्य का सब प्रकार से हित करने के लिए अत्यन्त विस्तृत और व्यापक माने गए थे। शुक्र-नीति के अनुसार मन्त्रियों को ऐसी नीति का निर्धारण करना चाहिए था; जिससे राज्य, प्रजा, कोष तथा सुनृपत्व की निरन्तर वृद्धि होती रहे। यदि यह सब सम्भव नहीं हो तो उस मन्त्रिमण्डल का अस्तित्व ही प्रयोजनहीन है।[१] यह सच है कि यदि मन्त्रि-परिषद् राज्य की समृद्धि में लिए सचेष्ट न हो, प्रजा को प्रगति के पथ पर अग्रसर न कर सकें, राज्यकोष को सम्पन्न न रख सके तथा नृप में सुनृपत्व को न बढ़ा सके तो ऐसा मन्त्रिमण्डल निरर्थक है। इसका तात्पर्य है कि राजा पर नियंत्रण रखने और उसे प्रजा का शुभचिन्तक बनाये रखने का कार्य मन्त्रिपरिषद् का था। राज्य का शासन-सचालन पूर्णरूपेण इसी परिषद् के उत्तरदायित्व का विषय था। राज्य की आर्थिक व्यवस्था द्वारा सम्पन्न कोष की स्थापना करना था। राज्य के सुसंगठित बल अर्थात् सेना द्वारा भीतरी शान्ति व बाह्य सुरक्षा अर्थात् विदेशी आक्रमणों से बचाव की व्यवस्था करना भी मन्त्रिपरिषद् का ही कार्य था। इसलिए मन्त्री को राज-राष्ट्र-भृत् अर्थात्-राज्य और राष्ट्र के उत्तरदायित्व का वहन करने वाला कहा गया है। महाभारत में इसी परिस्थिति एवं कर्त्तव्यपरायणता के कारण राजा को सदैव 'परतंत्र' कहा गया है, जो कभी स्वतंत्र नहीं रहता। वास्तव में राजा पर मन्त्रिमण्डल का पूर्ण नियंत्रण रहता था। महाभारत के अनुसार तथा कौटिल्य द्वारा समर्थित मन्त्रिपरिषद् के निम्नलिखित मुख्य कर्त्तव्य माने गये हैं :—

(१) मन्त्र निर्धारण (Delibration on the policy of State)

(२) मन्त्र फल-प्राप्ति (Realization of the result of that policy)

(३) कर्म अनुष्ठान अर्थात् राज्य के कार्यों को व्यावहारिक रूप देना (Execution of business)

(४) आयव्यय कर्म (The business concerning income and expenditure)

(५) दण्ड अर्थात् सेना का नियंत्रण (Army)

---

१ राज्यं प्रजा वस्त्रं कोषः सुनृपत्वं न वर्द्धितम्।
यन्मन्त्रतोऽरिनाशस्तैर्मन्त्रिभिः किं प्रयोजनम् ॥ शुक्रनीतिसार २ =२

(६) दण्डप्रणयन अर्थात् सेना का नेतृत्व (Leading the army)

(७) अमित्र एवं आटविक प्रतिशोध अर्थात् शत्रु एवं बर्बर या जंगली लोगों के विरुद्ध व्यवस्था करना।

(८) राज्यरक्षण अर्थात् सरकार की व्यवस्था (Maintenance of Government)।

(९) व्यसन-प्रतिकार अर्थात् राज्य की दुर्व्यसन आदि के प्रचार से रक्षा (Providing against national degeneration)

(१०) कुमार रक्षण एवं अभिषेक व्यवस्था अर्थात् राजाओं की रक्षा एवं उनके राज्याभिषेक की रक्षा करना (Protection of the princess and their Consecration (Coronation)[१]

इस प्रकार सम्पूर्ण प्रशासन मंत्रिपरिषद् के अधिकार में रहता था और वे ही लोग सब विभागों के कार्य के लिए उत्तरदायी होते थे।

कामन्दक के अनुसार मंत्रिमण्डल के कार्य बहुत विस्तृत थे। मुख्यतः उस क्षेत्र में मंत्रिपरिषद की पांच विशेषताएं मानी जाती थीं :—

(१) राज्य की नीति का निर्धारण

(२) विचार-विमर्श।

(३) समय का विभाजन

(४) प्रादेशिक सीमा निर्धारण एवं

(५) आपत्तियों के निवारण की योजना। और इसके बाद मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य का क्या कर्तव्य था, विस्तार से बताया गया है। कौटिल्य के मतानुसार मंत्रिपरिषद् मुख्य रूप से चार प्रकार के काम करती थीं :—

(१) नये कार्य का आयोजन

(२) पूर्व संचालित कार्यों की पूर्णता

(३) वर्तमान कार्यों में सुधार तथा

(४) प्रस्तावित विधेयकों का अक्षरशः पालन।

शुक्रनीति के अनुसार मंत्रिपरिषद् उन सब कार्यों के लिये उत्तरदायी थी जिनके द्वारा राज्य या प्रजा के जीवन पर किसी भी प्रकार का प्रभाव हो सकता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विभागीय मंत्री का विशिष्ट कार्य होता था जो शुक्र-नीतिसार में बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

विदेशी यात्री मैगस्थनीज के द्वारा भारतवर्ष की तत्कालीन स्थिति का वर्णन किया गया है। उससे भी यह स्पष्ट है कि राज्य की समस्त शक्तियाँ मंत्रिपरिषद् के द्वारा प्रयुक्त होती

---

१ मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कर्मानुष्ठानमायव्ययकर्म दण्डप्रणयनममित्राटवीप्रतिषेधो राज्यरक्षणं व्यसन-प्रतीकारः कुमाररक्षणमभिषेकश्च कुमाराणामायत्तममात्येषु (महाभारत और कौटिल्य) As. quoted by Dr. Jayaswal—Hindu Polity-Page 311.

थीं और सम्राट स्वयं अकेला कुछ नहीं कर सकता था। मैगस्थनीज लिखता है : "मंत्रिपरिषद् का बहुत सम्मान होता था! बुद्धिमानी और चरित्र का उच्च आदर्श इस संस्था के सम्बन्धित था। परिषद् महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करती थी। राज्यपालों की नियुक्ति करती थी तथा अन्य अधिकारियों (अध्यक्ष) आदि की भी। मंत्रिपरिषद् एक अलग जाति ही थी जो संख्या में न्यूनतम, किन्तु उसके सदस्यों के चरित्र और बुद्धिमानी के कारण अत्यन्त सम्मानित थीं।"१

उपर्युक्त समस्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में मंत्रिपरिषद् के कार्य समय, स्थिति एवं राज्य के आकार के अनुसार बहुत विस्तृत और व्यापक होते थे। यह भी स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत विश्व के वर्तमान प्रजातंत्र देश की शासन पद्धति का बड़ी सफलता से व्यवहार कर चुका था। प्रत्येक मन्त्री के अलग अलग विभागीय कार्य के वर्णन से यह भी प्रकट है कि अपने क्षेत्र में कितना जागरूक एवं कर्त्तव्यनिष्ठ रहना आवश्यक था जिसके द्वारा वह सफल होता था। यह वास्तव में गर्व का विषय है कि तत्कालीन भारत का राजनैतिक स्वरूप बहुत विकसित एवं व्यवस्थित था और प्रजातंत्रात्मक भी।

कार्य पद्धति—(Procedure of Deliberation)—समिति की उत्तराधिकारिणी होने के नाते परिषद् एक शक्तिशाली प्रजातंत्रात्मक संस्था के रूप में प्राचीन भारतीय राजनीति को प्रभावित करती रही। राजा केवल एक सर्वोच्च वैधानिक अध्यक्ष होता था और सत्ता का प्रयोग राजा के नाम पर परिषद् व्यवस्थापिका और सर्वोच्च न्यायालय के रूप में तथा मन्त्री कार्यकारिणी के रूप में करते थे। ये परम्पराएं सुदृढ़ थीं और इनकी अवहेलना सम्भव नहीं थी। इसलिए मन्त्रिपरिषद् की कार्यपद्धति भी सुनिश्चित थी। मन्त्रिपरिषद् की इस नियामक शक्ति का पूर्ण परिचय, हमें नियमों के पारित होने, आज्ञाओं और घोषणाओं के प्रेषित किये जाने आदि की प्रणाली से, मिल सकेगा। प्राचीन भारत की राजनीति में मौखिक आज्ञाओं का कोई महत्व नहीं था। शुक्रनीति के अनुसार अलिखित रूप से आज्ञा देने वाला राजा तथा उस आज्ञा का पालन करने वाला अधिकारी दोनों ही चोर समझे गये हैं।२ इस नियम की पुष्टि अशोक के शिलाभिलेख से भी हो जाती है। उसने खुदवाया है कि यदि "मैं स्वयं अपने मुख से कोई आज्ञा दूँ कि (अमुक) दान दिया जाय या (अमुक) काम किया जाय या महामात्रों को कोई आवश्यक आज्ञा दी जाय और यदि इस विषय में कोई विवाद उपस्थित हो या मन्त्रिपरिषद् उसे अस्वीकार करे तो मैंने आज्ञा दी है कि तुरन्त ही हर घड़ी और हर जगह मुझे सूचना दी जाय।"३ इससे यह सिद्ध होता है कि मौखिक आज्ञाओं का मूल्य नहीं था और राजकीय आज्ञा परिषद् द्वारा स्वीकृति के उपरान्त ही प्रेषित की जाती थी। इसीलिए मौखिक आज्ञाओं का विरोध मन्त्रिपरिषद् द्वारा सम्भव था। लिखित

---

१ Strabo अनुच्छेद ४८, McCrinadle, Megasthenese, पृष्ठ ८५, As quoted by Dr. Jayaswal—Hindu Polity Page 310.

२ अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत्करोति यः।
राजकृत्यमुभौ चौरौ तौ भृत्यनृपती सदा॥ शुक्रनीतिसार २।२९१

३ शिलाभिलेख ६.

नियम, आज्ञाओं एवं घोषणाओं के पारण की पद्धति पर शुक्र-नीतिसार में भी विस्तृत वर्णन मिलता है। तदनुसार लेख सर्वप्रथम विभिन्न मन्त्रियों की स्वीकृति के लिए जाता था और प्रत्येक मन्त्री अपने पद के अनुसार निश्चित शब्दावली द्वारा अपनी सम्मति अथवा असम्मति प्रकट करता था। मन्त्रियों की स्वीकृति के उपरान्त राजा अपनी स्वीकृति देता था तत्पश्चात् लेख द्वितीय चरण में प्रवेश करता था इस बार समस्त मन्त्री सामूहिक रूप से परिषद् में विचार करते थे और स्वीकृति देते थे। इसके बाद परिषद् की मुहर से अंकित हो लेख राजा के पास जाता था। राजा बिना विलम्ब किये लेख पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता था। उसे लेख की आलोचना का अधिकार नहीं था। शुक्रनीति में वर्णित इसी कार्य-पद्धति के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि परिषद् द्वारा पारित प्रस्ताव पर राजा को स्वीकृति देनी ही पड़ती थी। वर्तमान प्रजातंत्रात्मक भारत की राजनीति में भी यही परम्परा प्रचलित है। मनु एवं कौटिल्य के मतानुसार भी प्रस्ताव अथवा लेख की पारण प्रक्रिया कुछ कुछ इसी प्रकार की है। इन विचारकों के अनुसार राजा को प्रथम मन्त्रियों से पृथक् पृथक् विचार-विमर्श करना चाहिए। तत्पश्चात् परिषद् में सामूहिक रूप से। सामूहिक रूप से विचार करने से पूर्व राजा द्वारा मन्त्रिया से पृथक् पृथक विचार करने का आदेश महत्व का है।[1] इसका यह अर्थ हो सकता है कि प्रस्ताव के प्रारम्भ में ही राजा अपनी इच्छानुसार संशोधन या परिवर्तन करा सके। अपने व्यक्तित्व से प्रभावित कर अपने विचारों का समर्थन प्राप्त कर सके। इसी आदेश से यह भी प्रकट होता है कि सामूहिक रूप से परिषद् में प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर न तो राजा अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डाल सकता तथा और न पारित प्रस्ताव की अवहेलना ही की जा सकती थी उसमें संशोधन भी मंत्रियों की अनुमति से ही संभव होता था।

डॉ० जायसवाल ने इस सम्पूर्ण पद्धति का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया है कि सर्वप्रथम गृह मन्त्री, मुख्य न्यायाधीश, विधि मन्त्री एवं विदेश मन्त्री निश्चित प्रणाली के अनुसार "मुझे कोई आपत्ति नहीं है।" इस प्रकार प्रस्ताव पर अपनी सम्मति प्रकट करते थे। अर्थात् उनके विभागों को उस प्रस्ताव के प्रति कोई विरोध नहीं है। राजस्व एवं कृषि मन्त्री लिखते थे "प्रस्ताव 'उचित है।" वित्त मन्त्री लिखते थे "पूर्ण विचारानुसार" है। फिर परिषद् का प्रधान स्वयं लिखता था "सत्य एवं यथार्थ है।" प्रतिनिधि लिखता था अंगीकृत योग्य) "स्वीकार योग्य है।" युवराज लिखता था—"स्वीकृति के उपयुक्त है।" पुरोहित लिखता था "मैं सहमत हूँ।" प्रत्येक मन्त्री अपने हस्ताक्षरों के साथ अपनी मुहर लगाता था। अन्त में सम्राट "स्वीकृत" लिखकर अपनी मुहर लगाता था। इस प्रकार प्रथम चरण के पश्चात् दूसरे चरण में यह सारी कार्यवाही परिषद् के सम्मुख उपस्थित होती थी। जहां परिषद् (गण) की ओर से स्वीकृति होती थी और परिषद् की मुहर लगाई जाती थी। अन्त में एक बार फिर वह प्रस्ताव सम्राट के सामने प्रस्तुत होता था और निर्विलम्ब 'दृष्टमिति'

---

१ तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक्-पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥ मनुस्मृति ७।५७
.........तानेकैकशः पृच्छेत् समस्तां च॥ अर्थशास्त्र पृष्ठ २८

अर्थात् (Seen) देख लिया "के साथ उसे अन्तिम रूप मिलता था और उसके पश्चात् किसी प्रकार की आलोचना सम्भव नहीं थी। १

परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव सर्वमान्य होता था और सम्राट भी उसकी आलोचना के लिए अक्षम था। इस प्रकार के प्रस्ताव ही, जिन्हें सबकी स्वीकृति प्राप्त होती थी, संवैधानिक दृष्टि से 'सम्राट' थे। शुक्रनीति के अनुसार "नृपसंचिन्हितं लेख्यं नृपस्तन्न नृपो नृपः।" (शुक्र० द्वितीय २६२) अर्थात् ऐसे लेख जिन पर सब लोगों की मुहर सहित हस्ताक्षर हैं वे ही वास्तव में नृप हैं। व्यक्तिगत रूप में राजा नृप नहीं है। इसलिए लिखित आज्ञाओं के पालन करने वाले स्वामिभक्त, किन्तु राजा के व्यक्तिगत मौखिक आदेशों का पालन करने वाले, वैधानिक दृष्टि से विदेशी आज्ञाओं के पालन करने वाले अथवा चोर की आज्ञा पालन करने वाले चोर माने जाते थे। २ अतः यह सिद्ध होता है कि मंत्रिपरिषद् वास्तव में वैधानिक संगठन था और इसी संस्था द्वारा शासन संचालित होता था। इसकी कार्य पद्धति भी सुनिश्चित थी, जिसका अक्षरशः पालन होता था।

मंत्रियों की अर्हताएँ (योग्यताएँ):—मंत्रियों की योग्यताओं के लिए विभिन्न ग्रन्थों में सामान्य गुणों को तो आवश्यक बताया ही गया है। मनुस्मृति के अनुसार वंशपरम्परा के राजसेवक धर्म-नीति पारदर्शी, शूर, लक्ष्यभेदन आदि युद्धविद्या में कुशल, उच्चकुल के एवं बारम्बार विपत्ति के समय परीक्षा किये हुए सात या आठ व्यक्ति मंत्री होने चाहिए। ३ यह भी निर्देश है कि पवित्र, बुद्धिमान, स्थिर स्वभाव, सन्मार्ग से धन लाने वाला तथा भली

---

१ शुक्रनीतिसार भाग २ श्लोक ३६२ से ३६९ तक As quoted by Dr. Jayswal—Hindu Polity Page 307-08.

लेखानुपूर्वं कुर्याद्धि दृष्ट्वा लेख्यं विचार्य च ॥३६२॥
मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पंडितो दूतसंज्ञकः।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥ ३६३ ॥
अमात्यः साधु लिखनमस्त्येनत्प्राग्लिखेदयम्।
सम्यग्विचारितमिति सुमन्त्री विलिखेत्ततः ॥ ३६४ ॥
सत्यं यथार्थमिति च प्रधानश्च लिखेत्स्वयं।
अंगीकर्तुं योग्यमिति ततः प्रतिनिधिर्लिखेत् ॥ ३६५ ॥
अंगीकर्त्तव्यमिति च युवराजो लिखेत्स्वयम्।
लेख्यं स्वाभिमतं चैतद्विलिखेच्च पुरोहितः ॥ ३६६ ॥
स्वस्वमुद्राचिन्हितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि।
अंगीकृतमिति लिखन्मुद्रयेच्च ततो नृपः ॥ ३६७ ॥
कार्यान्तरस्याकुलत्वात्सम्यग्द्रष्टुं न शक्यते।
युवराजादिभिर्लेख्यं तदनेन च दर्शितम् ॥ ३६८ ॥
समुद्रं विलिखेयुर्वै सर्वे मन्त्रिगणास्ततः।
राजा दृष्टमिति लिखेद् द्राक् सम्यग्दर्शनाक्षमः ॥ ३६९ ॥

२ उपरोक्त—पृष्ठ २६१

३ मनुस्मृति, सप्तम अध्याय, श्लोक ५४. पृष्ठ २२०

प्रकार परीक्षा लिये और भी मंत्रियों को रखे ।१ अन्य प्रसंगानुसार सम्राट को चाहिए कि वह ऐसे स्वजाति-बन्धुओं को मंत्रिपद पर नियुक्त करे जिनके पिता और प्रपिता मंत्री रह चुके हों। क्योंकि ऐसे व्यक्ति अपने पूर्व संस्कारानुसार सदैव सम्राट के प्रति भक्त रहेंगे । इसके अतिरिक्त राजधर्म के विशेषज्ञ, जो सम्राट को वास्तव में दण्डधर के रूप में स्वीकार करें, कुलीन हों, शुद्धचित्त तथा कर्त्तव्यपरायण हों, मंत्रिपद के योग्य होते हैं। कौटिल्य के मतानुसार मंत्रियों में निम्नलिखित योग्यताएं एवं गुण होने चाहिए :—राज्य का स्थायी निवासी, कुलीन, प्रभावयुक्त, कलाविज्ञ, दूरदर्शी, बुद्धिमान्, स्मृतिमान, साहसी, वक्ता, कुशल, उत्साही, प्रखरबुद्धि, सहिष्णु, चरित्रवान्, मधुरस्वभावी, कर्त्तव्यनिष्ठ, व्यवहारकुशल, बलिष्ठ, स्वस्थ, शूर, स्फूर्तिमान्, दृढ़चित्त, स्नेही तथा स्वभावतः घृणा एवं शत्रुता की भावना को दूर करने वाला आदि । कामन्दकीयनीतिसार के अनुसार कुलीन, पवित्र, शूर, शास्त्रसम्पन्न, दण्डनीति के यथायोग्य प्रयोग करने वाले राजा के मंत्री होने चाहिए।२ वास्तव में इन गुणों से युक्त व्यक्ति ही मंत्रिपद और राज्य के शासन के लिये उपयुक्त हो सकता है।३ कौटिल्य के अनुसार मंत्रियों की नियुक्ति के पहले सम्राट उनकी परीक्षा करता था। कामन्दक भी इस सिद्धान्त का समर्थन करता है । परीक्षा के चार मुख्य उपाय थे-धर्म, अर्थ, काम और भय । (इन उपायों का नाम ही उपधा है, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और भय से परीक्षापूर्वक मंत्रियों आदि के आशय को ढूंढना उपधा कहाती है । उपधा का अर्थ है समीप जाकर भली प्रकार परीक्षा करना) ।४ इन परीक्षाओं के बाद जो धार्मिक परीक्षा में सफल हो उसे न्याय विभाग, जो अर्थ की परीक्षा में सफल हो उसे राजस्व विभाग, जो काम-परीक्षा में सफल हो उसे विनोद-विभाग तथा जो भय-परीक्षा में सफल हो, उसे सुरक्षा एवं विदेश कार्य विभाग, तथा जो सब परीक्षाओं में सफल हो उसे प्रधान मन्त्री बनाना चाहिए ।५ कामन्दक के मतानुसार इन परीक्षाओं के बाद जिस व्यक्ति में निम्नांकित गुण प्रकट हों उसे मन्त्रिपद पर नियुक्त करना चाहिए :—"अच्छा ज्ञानी, अपने देश का, कुलीन, शील-बल से सम्पन्न, वाचाल, प्रगल्भ, दूरदर्शी, उत्साही, समय पर तत्काल उपाय का ज्ञाता, स्तब्धता और चपलता से हीन, मित्रता के गुणों से युक्त, सहिष्णु, पवित्र, सत्यवादी, बल, धैर्य, स्थिरता, प्रभाव और आरोग्य से संयुक्त, शिल्प विद्या में चतुर, दक्ष, विचार-बुद्धिसम्पन्न, मन्त्रादिधारणा में समर्थ, स्वामी में दृढ़ भक्ति करने वाला तथा वैर का न करने वाला, ऐसा मन्त्री होना

---

१ मनुस्मृति—श्लोक ६०

२ कामन्दकीय नीतिसार—पृष्ठ ३६—"कुलीनाः शुचयः शूराः श्रुतवन्तोऽनुरागिणः ।
दण्डनीति प्रयोक्तारः सचिवाः स्युर्महीपतेः ॥ २५॥

३ कौटिल्य—पृष्ठ १४

४ उपेत्य धीयते यस्मादुपधेति ततः स्मृता । उपाया उपधा शौचार्थकामभयात्मान् परीक्षेत ॥ २७ ॥
(कामन्दकीय नीतिसार)

५ शुक्रनीतिसार—पृष्ठ १६-१७

चाहिए।१ आगे वह यह भी लिखता है कि दूरदर्शिता एवं शिल्पता इन दोनों गुणों की परीक्षा करे।२ प्रगल्भता और बुद्धि की चमत्कारिता, इन दोनों गुणों की परीक्षा करे।३

इसके अतिरिक्त मंत्रियों की नियुक्ति में वर्णों के प्रतिनिधित्व का भी ध्यान रक्खा जाता था। जैसे राज्याभिषेक आदि अनेक अवसरों पर सबको उचित प्रतिनिधित्व मिलता था, मन्त्रि-परिषद् में भी अपवाद नहीं था, और हिन्दू शासन प्रणाली के अंतिम समय तक यह परम्परा मान्य रही है। महाभारत में ऐसे सैंतीस मंत्रियों की सूची है जो वर्ण व्यवस्था के आधार पर चुने गये थे। चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र एवं एक सूत (वर्णसंकर) जनसंख्या के अनुपात से ही यह प्रतिनिधित्व प्राप्त होता था। उस समय वैश्य वर्ण की संख्या अधिक थी, अतः मंत्रिपरिषद् में भी इसे अधिक प्रतिनिधित्व मिला था और फिर इसमें से सात या आठ सदस्यों की वास्तविक मंत्रिपरिषद् बनती थी, जिसे आज हम "आंतरीय परिषद्" कहते हैं।४

प्रशासन कार्य कुशलतापूर्वक चलाने के लिये मंत्रियों के विभाग भी परिवर्त्तित होते रहते थे। लगभग प्रति तीसरे वर्ष, अथवा पांच, सात अथवा दस वर्ष में यह परिवर्त्तन कर ही दिया जाता था।५ एक ही व्यक्ति के अधिकार में सत्ता निरन्तर नहीं रहनी चाहिए—ऐसा सिद्धान्त स्वीकार किया जाता था। साथ ही यह भी विचार किया जाता था कि योग्य व्यक्ति को अधिक उत्तरदायी-विभाग मिलना चाहिए और इस प्रकार प्रत्येक सदस्य को क्रमशः उन्नति के पथ पर अग्रसर होने का अवसर मिलता रहना चाहिए। अशोक ने अपने अभि-लेखों में भी त्रिवर्षीय या पंचवर्षीय स्थानान्तरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। जब कि सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल (वर्ग) अपने-अपने विभागों से विदा लेता था। इस पद्धति को "अनु-समयान" (Regular Departure) कहा जाता था जो शुक्रनीति में प्रयुक्त "अनुगत" शब्द का समानार्थी है। अतः यह सिद्ध है कि मन्त्रिपरिषद् स्थायी संस्था नहीं थी। गुणों और योग्यता पर आधारित एक ऐसी उत्तरदायी संस्था थी जो राज्य, राजा और प्रजा के हित में संलग्न रहती थी। मन्त्रियों की सहायता तथा शासन की सुगमता के लिये उन्हें दो सचिव (Secretaries) या कार्य के अनुसार अधिक सचिव नियुक्त करने का अधिकार भी प्राप्त था।६

मूल्यांकन—उपर्युक्त वर्णन से मन्त्रिपरिषद् की स्थिति स्पष्ट है। साधारण परि-स्थितियों में राजा, मन्त्रियों के परामर्श का अनुसरण करता था। परन्तु राजा और मन्त्रिपरिषद् के व्यक्तित्व और योग्यता पर यह स्थिति अधिक निर्भर करती थी। यदि राजा दृढ़निश्चयी, प्रभावशाली और योग्य होता था तो मन्त्रिपरिषद् कुछ गौण स्थान ग्रहण करती थी और

---

१ कामन्दकीय नीतिसार--पृष्ठ ३६--३७ श्लोक २८ से ३० तक।

२ उपरोक्त--श्लोक ३४, पृष्ठ ३८

३ उपरोक्त--श्लोक ३६, पृष्ठ ३८

४ महाभारत--शांतिपर्व--अनुच्छेद ८५,७-११।

५ शुक्रनीतिसार--"त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वापि सप्तभिर्दशभिश्च वा॥ भाग दूसरा, पृष्ठ ११०

६ Dr. Altakar—State & Govt. in Ancient India—Page 168.

यदि इसके विपरीत मन्त्रिपरिषद् अधिक योग्य व्यक्तियों द्वारा संगठित हो जाता था तो सम्राट को भी परिषद् का पूर्ण सम्मान करना पड़ता था। अपनी लोकप्रियता के अतिरिक्त भी मन्त्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी, वह उन्हें त्यागपत्र देने का आदेश दे सकता था, उनका स्थानान्तरण करता था, वे राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे इसलिए मन्त्रियों की स्थिति और प्रतिष्ठा बहुत सीमा तक राजा पर निर्भर करती थी। अतः प्राचीन भारत में मन्त्रिपरिषद् पूर्ण रूप से संसदीय प्रकार की नहीं थी। वे लोग राजा के परामर्शदाता थे। परन्तु शासन वही चलाता था जो दोनों में से अधिक योग्य और शक्तिशाली होता था। इसलिए राजायत्त-तंत्र (King-centred), सचिवायत्त-तंत्र (Ministry-contr lled) एवं उभयायत्त-तंत्र (Administration by both) शब्दों का प्रयोग होता था। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त वर्णन कि राजा को निषेधाधिकार भी प्राप्त नहीं था, असंगत प्रतीत होता था। केवल यह कहा जा सकता है कि मन्त्रिपरिषद् की प्रतिष्ठा और शक्ति समय समय पर परिवर्तित होती रही है। शुक्रनीति के अनुसार राजा चाहे कितना ही कुशल तथा नीतिपटु क्यों न हो उसे स्वयं बिना मन्त्रियों की सम्मति के राज्यकार्य नहीं करना चाहिए और स्वतंत्र रूप से कार्य करने वाला राजा अपने नाश की योजना करता है तथा राज्य एवं प्रजा को खो देता है।१ इससे यह सिद्ध है कि मन्त्रिपरिषद् एक अत्यधिक शक्तिशाली संस्था थी और वह वैदिककालीन समिति के समान ही निरंकुश राजा को पदच्युत कर सकती थी, तभी तो राज्य और प्रजा को खो देने का प्रसंग आया है। मन्त्रिपरिषद् की इसी स्थिति के कारण राजतंत्र के समर्थक कौटिल्य आदि ने राजा को यह आदेश दिया था कि महत्वपूर्ण कार्यों पर मन्त्रिपरिषद् द्वारा विचार एवं बहुमत के द्वारा निर्णय लिया जाना चाहिए। यही सम्मति बृहस्पति, शुक्र आदि ने दी है। अतः यह सच है कि मन्त्रिपरिषद् प्राचीन भारत की एक संवैधानिक, शक्तिशाली और सफल संस्था रही है।

प्रश्न

1. Write a note on the ministry in Ancient India.
2. Discuss the composition and powers of Mantri Parishad (Council of ministers) along with the portfolios assigned to each minister.

बारहवाँ अध्याय

प्रशासन (२) राजकीय संगठन

(Administration (II) Governmental)

प्रस्तावान—वर्त्तमान राज्यों की प्रशासन पद्धति की भांति प्राचीन काल में भारत-वर्ष में भी प्रशासन प्रणाली वैज्ञानिक आधार पर संगठित थी। सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था की दृष्टि से प्रादेशिक आधार पर विभाजित किया जाता था। परन्तु विभिन्न राज्यों में प्रशासन-संगठन एक ही प्रकार का नहीं था प्रदेश, जिले अथवा अन्य भाग आकार-प्रकार एवं अधिकारों की दृष्टि से भी समान नहीं होते थे। जनसंख्या, उपजाऊ-भूमि अथवा कुछ सीमा तक राजनीतिक कारणों के आधार पर ये भेद होते थे। समयानुसार नये प्रदेशों का राज्य में विलीनीकरण, सीमा प्रदेशों की महत्ता अथवा किसी भाग-विशेष के औद्योगीकरण आदि से महत्व बढ़ जाया करता था। उदाहरण के तौर पर महाराष्ट्र के करहाटक जिले में सन् ७६८ ई० में चार हजार ग्राम थे, किन्तु सन् १०५४ ई० में दस हजार ग्राम।[१] इस प्रकार राज्य की विभिन्न इकाइयों के आकार-प्रकार आदि में अन्तर होता रहता था। ये परिवर्तन समय तथा स्थिति के अनुसार होते ही रहते थे। इन प्रादेशिक भागों को साधारणतया "विषय" अथवा "राष्ट्र" कहते थे। प्राचीन मौर्य साम्राज्य में प्रशासनीय संगठन इतना सुन्दर और संगठित था कि उसे किसी भी वर्तमान-उन्नत राज्य के राजकीय संगठन की तुलना में रखा जा सकता है। उस समय भी साम्राज्य प्रान्तों में, प्रत्येक प्रान्त डिवीजनों में, प्रत्येक डिवीजन जिलों (विषय) एवं उपजिलों में विभाजित किया जाता था। उपजिलों के लिए "पाठक", "पैठ" अथवा 'भुक्ति' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। उपजिलों का विभाजन "ग्रामसमूहों" में किया जाता था और प्रत्येक समूह में दस से लेकर तीस अथवा चालीस ग्राम तक होते थे। ये आधुनिक भारत की तहसीलों की भांति थे और इन समूहों में प्रत्येक ग्राम, अपना स्वायत्त प्रशासन स्थापित करता था। ग्राम प्रशासन अथवा स्थानीय स्वायत्त शासन का अध्ययन हम पूर्ण रूप से आगे के अध्याय में करेंगे।

प्रशासकीय संगठन के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों एवं विभिन्न लेखों से यह सिद्ध है कि तत्कालीन प्रादेशिक एवं प्रशासकीय भागों के नाम अलग-अलग होते थे। उदाहरणार्थ, मध्य प्रदेश एवं दक्षिण भारत में "भुक्ति" का अर्थ उस प्रादेशिक भाग से माना जाता था जो वर्तमान तहसील या इसी प्रकार के क्षेत्र के समान होता था। परन्तु उत्तर भारत में इसी

१ Dr. Altekar—State and Government in Ancint India–Page 201.

शब्द का अर्थ इतने बड़े भाग से होता था जो आजकल के किसी भी डिवीजन के समान हो। इसी प्रकार दक्षिण में राष्ट्रकूटों के अधीन "प्रतिष्ठान भुक्ति" के अन्तर्गत बारह ग्राम तथा "कोप्परक भुक्ति" के अन्तर्गत पचास गाँव थे। जब कि गुप्तकाल में "पुन्द्रावर्धन भुक्ति" में तीन जिले और "मगध भुक्ति" में दो जिले थे।[१] इसी प्रकार भुक्ति में दो, तीन या अनेक जिलों का सम्मिलित होना सिद्ध होता है। कभी कभी "भुक्ति" और 'विषय" अर्थात् डिवीजन और जिला एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ करते थे। इसलिए इनके नाम, क्षेत्र या भाग-विशेष का अर्थ निश्चित कर देना सम्भव नहीं है। परन्तु यह स्पष्ट है कि राज्य का प्रशासनीय संगठन व्यवस्थित था और वे भाग इस प्रकार थे--राज्य, प्रांत, डिवीजन, जिला, उप-जिला, तहसील एवं ग्राम। राज्य का प्रशासन मंत्रिपरिषद् की सहायता से राजा द्वारा होता था। इसका अध्ययन हम कर चुके हैं। अब क्रमशः प्रांत, डिवीजन एवं जिला आदि के प्रशासन संगठन पर विचार करेंगे।

प्रांतीय प्रशासन—साधारणतया प्रांत उन्हीं राज्यों में होते थे जो क्षेत्रफल, जन-संख्या तथा अन्य दृष्टियों से विशाल होते थे। जिन राज्यों का स्वयं ही प्रांत जैसा आकार-प्रकार होता था वहां प्रांतीय संगठन की आवश्यकता ही नहीं थी अन्य संगठन अवश्य होते थे। उदाहरणार्थ, मौर्यकाल में साम्राज्य अनेक प्रांतों में विभाजित था। इनमें से कुछ तो अभी तक प्रसिद्ध हैं। उस समय उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला, अवन्ति राष्ट्र की राजधानी उज्जयिनी, दक्षिणापथ की राजधानी सुवर्णगिरी, कलिंग की राजधानी तोशाली, और प्राच्य की राजधानी पाटलिपुत्र–इस प्रकार ये पांच प्रमुख प्रांत तो थे ही। डॉ० अल्टेकर की तो यह भी है कि संभव है उत्तरापथ और दक्षिणापथ में ही अनेक प्रांतों का सम्मिलित होना सम्भव मान्यता है। शुंगकाल में मालवा एक प्रांत की ही भाँति का प्रदेश था और ऐसी सारी प्रतिष्ठा मालवा को प्राप्त थी कनिष्क के राज्यकाल में बनारस, मथुरा और उज्जयिनी के "महाक्षत्रप" और उनका सम्मान प्रांत के राज्यपाल के समान था। गुप्तकाल में भी मालवा, गुजरात और काठियावाड़ का शासन एक प्रकार से प्रांतीय प्रशासन ही था। चौल राजाओं के समय में राज्य में दो भाग थे–एक 'मण्डल" और दूसरा "नाडू"। इनमें क्रमशः दो–तीन जिले और दो–तीन तहसील सम्मिलित थीं। ये संगठन उन छोटे राज्यों में होता था जिनका विभाजन सीधा जिला व तहसील में हो जाता था।

प्रांतीय प्रशासन के अध्यक्ष सामान्य रूप से बहुत प्रतिष्ठित व्यक्ति और अधिकांश शाही-परिवार के सदस्य ही होते थे। मौर्यकाल का संगठन इस विषय में आदर्श है। बिन्दुसार, अशोक और कुणाल राज्यपाल के पद पर कार्य कर चुके थे। शुंगराज्य में भी युवराज अग्निमित्र मालवा का गवर्नर था और भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें इस प्रांतीय पद्धति के प्रमाण मिलते हैं और जहां के अधिष्ठाता गवर्नर या राज्यपाल होते थे। यदि युवराज या संबंधी अधिक नहीं होते थे तो इन स्थानों पर विश्वासपात्र और अनुभवी कर्मचारियों को नियुक्त किया जाता था–साधारणतया ये लोग सैनिक अधिकारी भी होते थे। इन

१ Dr. Altekar—State and Government in Ancient India–Page 202.

पदाधिकारियों के अधिकार बहुत विस्तृत और व्यापक होते थे। आंतरीय शांति एवं सुरक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व इन्हीं को वहन करना होता था। बाहरी शत्रुओं से सुरक्षा का भार भी इन्हीं पर होता था। अतः उच्च कोटि के शासन के लिए में कौशल एवं नीतिज्ञता अपेक्षित थी। प्रांत के आधार पर प्रत्येक स्थान पर न्यायालय और कार्यकारिणियाँ, संगठित होती थीं; परन्तु नीति-संचालन केन्द्र से ही होता था। वर्त्तमान भारत का संगठन कुछ कुछ उसी प्रकार का लगता है। आज भी भारत वर्ष प्रांतों में जिन्हें नए संविधान में 'राज्य' की संज्ञा दी गई है) संगठित है और प्रत्येक स्थान पर (मंत्रिमण्डल) कार्यकारिणी, न्यायपालिका, (उच्च न्यायालय), तथा राज्यपाल हैं। उस समय प्रांतों में इसी प्रकार के संगठन के लिए डॉ० अल्टेकर का विचार है कि वायसराय या राज्यपाल शाही परिवारों से संबधित होते थे, इसलिए मन्त्री आदि रखे जाते थे। जिनके परामर्श से वे शासन-संचालित करते थे। परंतु नीति सदैव केंद्र के द्वारा नियंत्रित होती थी।१ भारत की वर्तमान स्थिति और संगठन देखने से यह साम्य बिना कोई विशेष अर्थ लगाए समझ में आ जाता है कि राज्यपाल और कार्यकारिणी का क्या अस्तित्व था। इतिहास के आधार पर तक्षशिला की जनता के विद्रोह का वर्णन यह उत्सुकता पैदा करता है कि ऐसा कैसे हुआ ? परन्तु वर्तमान समय में जुलाई सन् ५६ तक केरल के शासन के प्रति जनता का खुला विद्रोह और तदुपरान्त केंद्र द्वारा व्यवस्था स्थापन, इस प्रश्न का भी सुन्दर समाधान कर देता है। अतः प्रांतीय शासन के अध्यक्ष राज्यपाल होते थे और उनकी सहायता के लिए कार्यकारिणी का निर्माण होता था, यह सिद्ध है। ये राज्यपाल केंद्र से आज्ञा और आदेश प्राप्त करते थे। केंद्र से ये आज्ञाएँ कभी लिखित और कभी संदेशवाहक के साथ मौखिक रूप में ही (जो अधिक महत्व की न हों, केवल प्रक्रिया संबंधी हों) प्रेषित की जाती थीं। आवागमन एवं संचार की कठिनाइयाँ इन्हीं स्थानीय राज्यपालों को पूर्ण अधिकारी बनाने में सहायता देती थीं। प्राचीन काल में इन प्रांतों में सुरक्षा स्थापना की दृष्टि से सेना भी रक्खी जाती थी जो कभी आवश्यकतानुसार साम्राज्य की सीमावृद्धि के लिए, सुरक्षा के लिए अथवा साम्राज्य के दूसरे भागों की रक्षा के लिए भी उपयोग में आती थी। कुशन सम्राट ने, उत्तर राजपूताने में यौधेय जाति के विद्रोह को शांत करने के लिए दक्षिण के राज्यपाल रुद्रदमन को आमंत्रित किया था।२

राज्यपाल के अन्य अधिकार भी व्यापक थे। अपने प्रदेश के शासन को हर प्रकार सफल बनाना उनका मुख्य कार्य था। अतः न्याय, राजस्व तथा अधीनस्थ प्रशासकीय भागों में केंद्र की नीति के अनुसार शासन चलाना तथा व्यवस्था कायम रखना भी प्रांतीय शासन के कार्य थे। अधीनस्थ भागों के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति, स्थानान्तरण तथा नये विभाग स्थापित करना, योजना बनाना आदि जन-हित के कार्य इसी स्तर पर किये जाते थे। डॉ० अल्टेकर इन बातों के संबंध में विश्वस्त नहीं है और यह कुछ सीमा तक सच भी है कि जब तक स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हों, निश्चित रूप से कुछ कह सकना साहस ही कहा जा सकता

१ Dr. Altekar—State & Government in Ancient India-Page 204.
२ उपरोक्त—Page 205.

है। परन्तु कुमारगुप्त प्रथम द्वारा पुन्द्रावर्धन के आयुक्त (Divisional Commissioner) की नियुक्ति एवं तदुपरान्त आयुक्त द्वारा उसी के आदेशानुसार कार्य करते रहने का प्रमाण इतिहास में प्रसिद्ध है।१ शासन व्यवस्था एवं राजस्व संग्रह अतिरिक्त उस प्रदेश के नये स्रोतों (Sources) का विकास, कृषि की उन्नति के लिए नहरों का निर्माण, खानों की खुदाई, जनता से सम्पर्क स्थापित करना उनमें आत्मविश्वास तथा राज्य के प्रति भक्ति उत्पन्न करना, केंद्र की आज्ञाओं का पालन तथा प्रांतों की सूचना केंद्र को भेजना आदि अनेक कार्य किये जाते थे। वास्तव में केंद्र के सभी कार्य इन प्रांतीय संगठनों द्वारा सम्पादित होते थे और जो कार्य सारे राज्य के लिए महत्व के होते थे, उनका दायित्व केंद्र वहन करता था। राजस्व-संग्रह के लिए भी प्रांत ही अधिक उत्तरदायी थे। अपना आवश्यक भाग, राज्य के कर्मचारियों का वेतन, राजकीय व्यय आदि के बाद जो अवशेष रहता था, वह केंद्र में भेज दिया जाता था। राजस्थान की कुछ सुव्यवस्थित प्राचीन रियासतों में में भी सन् १९४७ तक यही प्रणाली प्रचलित थी।

इस प्रकार प्राचीन काल का प्रांतीय प्रशासन पूर्ण विकसित, व्यवस्थित और बीच का महत्वपूर्ण संगठन था, जो केंद्र और स्थानीय संगठनों के बीच संबंध रखता था। भारत के वर्त्तमान संगठन से उस समय के प्रांतीय संगठन की तुलना बड़ी सरलता से की जा सकती है।

प्रादेशिक प्रशासन (Divisional Administration)—प्रांतों का विभाजन प्रशासन की दृष्टि से प्रदेशों (Divisions) में होता था। प्रत्येक प्रदेश में लगभग तीन या चार जिले सम्मिलित होते थे। इन प्रदेशों की संज्ञा भिन्न भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रचलित रही है। गुप्तकाल एवं प्रतिहारयुग में इन्हें "भुक्ति" कहते थे। राष्ट्रकूटों के समय में 'राष्ट्र' तथा चोल और चालुक्य राजाओं के समय में इसे "मण्डल" कहा जाता था। कभी प्रदेश के लिए 'देश' शब्द का प्रयोग भी होता था। प्रत्येक प्रदेश का सर्वोच्च अधिकारी "प्रादेशिक" कहा जाता था। मौर्यकाल में ऐसे प्रदेशों के अधिकारियों को "राजुक" भी कहा जाता था। उस समय तो शासन की व्यवस्था भी बहुत सुन्दर थी। अशोक ने तो अपना शासन पूर्ण विकेन्द्रीकरण की नीति के अनुसार बना दिया था। अतः ये प्रादेशिक अधिकारी दीवानी, फौजदारी, राजस्व आदि अधिकारों का प्रयोग करते थे। केवल केन्द्र की नीति का अनुसरण करते हुए इन अधिकारों का प्रयोग किया जाता था। अतः प्रदेश के क्षेत्र में इन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। परन्तु जैसा समय-समय पर परिवर्तन होता रहता था, इन संगठनों की शक्तियाँ सदैव एक सी रही हों—यह कहना कठिन है। ऐसे भी उदाहरण हैं, जब कि इन्हीं अधिकारियों के लिए शासन की प्रत्येक महत्वपूर्ण बात के लिए केंद्र की स्वीकृति अनिवार्य होती थी। अमोघवर्ष के राज्यपाल, बाँकेय को, एक ग्राम जैन-मन्दिर के लिए अर्पण करने के लिए, साम्राज्ञीय स्वीकृति लेनी पड़ी थी, यद्यपि वह सम्राट का बहुत विश्वस्त व्यक्ति था।२ प्रसंग सभी तरह के हैं, परन्तु भारतवर्ष में विकेन्द्रीकरण

१ Dr. Altekar—State & Government in Ancient Iudia–Page 205.
२ उपरोक्त—Page 206.

की नीति का पालन सदा से ही होता रहा है, अतः यह समझना कि प्रादेशिक अधिकारियों के अधिकार बहुत थे, अप्रासंगिक एवं असंगत है।

प्रादेशिक आयुक्त अथवा अधिकारी अपने अधीनस्थ क्षेत्रों एवं कर्मचारियों पर पूर्ण नियंत्रण रखते थे और अपने अधिकारों का पूरा प्रयोग कर सकते थे। यदि अधीनस्थ कर्मचारी कभी भी कर्तव्याघात या गद्दारी (Disloyalty) करते अथवा अमित्रता प्रकट करते तो बन्दी बना लिये जाते थे और उचित कार्यवाही के लिये उन्हें आगे भेज दिया जाता था। अपराध के अनुसार स्थानीय रूप से भी कार्यवाही की जाती थी। प्रादेशिक स्तर पर कुछ सेना का संगठन भी रखा जाता था जो आवश्यकतानुसार स्थानीय सुरक्षा, अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियंत्रण, एवं विभिन्न सामन्तों पर नियंत्रण रखने के लिये उपयोग में लिया जाता था और सम्राट द्वारा किसी बड़े आयोजन के समय केन्द्र में भी भेज दिया जाता था। वतमान समय की भाँति यह प्रादेशिक आयुक्त (Divisional Commissioners) राजस्व विभाग के अध्यक्ष होते थे। साधारण जनता के भूमि एवं राजस्व संबंधी अधिकारों के पूर्ण उपभोग की व्यवस्था करने के लिए इन्हीं अधिकारियों को सम्बोधन किया जाता था। डॉ० अल्टेकर के मतानुसार 'राजूका' शब्द के अर्थ से यही प्रकट होता है कि जो भूमि के नाप और तोल से घनिष्ठ रूप से संबंधित होता था १ और गाँवों में समय-समय पर बन्दोबस्त (Settlement) और भूमि निर्धारण का काम इन्हीं अधिकारियों के निर्देशन के अनुसार होता था। कुछ न्याय संबंधी अधिकार भी इन अधिकारियों के होते थे। अपने प्रदेश में सम्भवत: वे पुनः-प्रार्थना (Appeal) से अन्तिम उच्च न्यायालय होते थे। अशोक ने इसी दृष्टि से अपने राजूकाओं को यह निर्देशन किया था कि वे जहां तक सम्भव हो समान दण्ड नीति का पालन करें। प्रान्तों की भाँति प्रदेशों में भी अधिकार-सीमाएं परिवर्तनशील रही हैं। मौर्यकाल में ये अवश्य विस्तृत थीं। गुप्तकाल में भी लगभग वैसी ही रहीं, परन्तु उच्च सत्ताधारियों का हस्तक्षेप आवश्यकतानुसार होता रहना स्वाभाविक सा लगता है। ये अधिकारी अपने अधीनस्थ (जिला अधिकारी आदि) कर्मचारियों की नियुक्ति करते थे। इतिहास में ऐसे भी उदाहरण हैं जब राज्य के प्रत्येक कर्मचारी की नियुक्ति सम्राट द्वारा ही की जाती थी। राष्ट्रकूटों के समय में जिला अधिकारी तहसीलदार आदि साधारणतया सम्राट द्वारा ही नियुक्त होते थे।२ परन्तु फिर भी कुछ स्वतंत्र क्षेत्र प्रादेशिक अधिकारियों के लिए सुरक्षित था तथा वे केन्द्र की नीति एवं जनहित को ध्यान में रख कर शासन संचालित करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान समय में प्रादेशिक आयुक्तों की भाँति तत्कालीन अधिकारी भी प्रशासन में एक महत्वपूर्ण अंग थे, परन्तु थे केवल एक मध्यस्थ की भाँति। वास्तविक शासन था तो इनसे भी उच्च अधिकारियों के हाथ में अथवा इनके अधीनस्थ कर्मचारियों के हाथ में। फिर भी इनका अस्तित्व, प्रशासन का विकसित रूप सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है।

---

१ Dr. Altakar—State & Government in Ancient India—Page 207.
२ Dr. Altakar—Rashtrakutas. पृष्ठ १७६.

जिला प्रशासनः—प्रत्येक प्रदेश (Division) अनेक जिलों में विभाजित होता था तथा जिलों का प्रशासन राज्य की व्यवस्था का मूलभूत आधार होता था। प्राचीन काल में इन्हें 'विषय' कहा जाता था और प्रत्येक विषय मे लगभग एक हजार से दो हजार तक ग्राम होते थे। जिलों के नाम प्राचीन काल में और भी कई तरह के रहे हैं, यह सिद्ध होता है। काठियावाड़ में "अहरणी" मध्य प्रदेश में राष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश की ओर भी इस "राष्ट्र" शब्द का ही प्रयोग होता था। जब जिलों को "विषय" कहा जाता था तो यह स्वाभाविक है कि जिला अधिकारियों को "विषयपति" या "विषयाध्यक्ष" कहा जाता हो। अशोक के प्रस्तर-लेखों में विषयपति का नाम 'राजूका' के साथ ही उल्लिखित है और उससे 'राजूका' की भाँति ही पर्यटन अथवा यात्रा करने की अपेक्षा की गई है।१ मनुस्मृति में वर्णित "सहस्रपति" शब्द भी जिला अधिकारी के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। उसमें ऐसा वर्णन है कि राजा को चाहिए कि एक ग्राम का, दस ग्राम का, बीस ग्राम का, सौ ग्राम का तथा हजार ग्राम का एक एक अधिपति नियुक्त करे।२ तमिल प्रदेश में इसी प्रकार के एक भाग का नाम "नाडू" था। परन्तु उसके अध्यक्ष की शक्तियाँ विषयपति के समान ही थीं।३

सम्पूर्ण जिले के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होने के कारण ये अधिकारी बहुत महत्वपूर्ण होते थे। स्थानीय नियम व्यवस्था, शांति एवं सुरक्षा, राजस्व संग्रह, विवाद निर्णय आदि अनेक कार्य करते थे। कार्य का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण इन्हें सहायक कर्मचारियों की सहायता भी उपलब्ध थी। युक्त, आयुक्त, नियुत, व्याप्रित, लिपिक आदि अनेक नामों का प्रसंग यह प्रकट करता है कि जिला स्तर पर रहने वाले कर्मचारी इन्हीं पदों पर काम करते थे। अर्थशास्त्र में ऐसे कुछ अधिकारियों के लिए "गोप" शब्द का भी प्रयोग हुआ है।४ उत्तर गुप्तकाल में गुजरात में कुछ अधिकारियों को "ध्रुव" भी कहा जाता था। इस प्रकार नाम कुछ भी कहा जाता रहा हो परन्तु यह पद महत्वपूर्ण अवश्य रहा था। यह भी निश्चित सा है कि अधिकांश जिलों के लिए "विषय" शब्द ही चलन में था।

वर्त्तमान जिला प्रशासन की भाँति, प्राचीन काल में भी "विषयपति" अर्थात् जिला-धीश' ही अपने जिले का (विषय) का स्थानीय सर्वोच्च अधिकारी होता था। शांति स्थापना और सुरक्षा की व्यवस्था रखना, उसका प्रमुख कार्य था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक जिले में सैनिक टुकड़ियाँ पुलिस आदि के संगठन रहते थे। "दण्डनायक" का वर्णन लगभग तत्कालीन सामग्री में बहुतायत से मिलता है। वह वास्तव में सेनानायक ही हो सकता है। "दण्डपाशिक" या "चोरोद्धरणिक" जो पुलिस विभाग के अधिकारी होते थे, वे 'विषय-पति' के अनुशासन में रहते थे। इसके अतिरिक्त "विषयपति" का प्रभाव अपने क्षेत्र में

---

१ *Dr. Altekar—State and Government in Ancient India-Page 208.*

२ ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ सप्तम अध्याय ॥ मनुस्मृति ॥

३ Dr. Altakar—उपरोक्त।

४ अर्थशास्त्र—भाग २ अनु० ३६.

निहित समस्त संगठनों पर पूरा अधिकार प्राप्त था। व्यापार, उद्योग, राजस्व, सहकारिता, वन, आदि सब स्थानीय रूप से विषयपति के अधीन ही रहते थे, अन्यथा उनके केन्द्र के विभागीय अध्यक्ष के अंतर्गत ही रहते थे। विषयपति की न्यायिक शक्तियों के संबंध में साधारणतः सन्देह है परन्तु मनुस्मृति के अनुसार यह सिद्ध होता है कि जिलाधीश को न्याय-शक्तियाँ भी थीं। उसमें लिखा है कि "एक ग्राम का अधिपति धीरे से ग्राम में होने वाले अपराध को जान ले, उसका निर्णय अपने से न हो सके तो दश ग्राम के अधिपति से कहे, दश ग्राम का अधिपति बीस ग्राम के अधिपति को समाचार दे। बीस ग्राम का अधिपति उस सब बात को सौ ग्राम के अधिपति से कहे और सौ ग्राम का अधिपति अपने आप सहस्र ग्राम के अधिपति से कहे।१ इससे किसी भी विवाद का 'सहस्रपति' अर्थात् जिलाधीश तक जाना सिद्ध है और वही ऐसे विवादों में अंतिम न्यायालय का काम करता था। वर्तमान समय में जैसे जिलाधीश का पद "Collector and District Magistrate" कहलाता है, इसी प्रकार प्राचीन काल में भी हमारे देश के जिलाधिकारी के अधिकार और प्रतिष्ठा इसी श्रेणी की थी। जिलाधीश को प्रशासन में सहायता पहुँचाने के लिए एक संस्था भी संगठित होती थी जिसमें अधिकांश लोकप्रिय तत्व होता था और उनका परामर्श मूल्यवान् समझा जाता था। गुप्तकाल में ऐसी संस्थाएँ उपलब्ध थीं। साधारणतया, जिले के प्रमुख लोग, व्यापारी, सेठ, ग्रामणी, तथा कायस्थ आदि इस संस्था में लिये जाते थे। परन्तु किसी एक वर्ग का एकाधिकार नहीं होता था। जातिभेद भी इस संस्था के लिए गौण था। ब्राह्मण, अब्राह्मण भी इसमें होते थे। फरीदपुर (प्लेट) पत्र द्वारा ऐसी संस्था में बीस सदस्यों की विद्यमानता प्रकट होती है जिससे ब्राह्मण-अब्राह्मण सभी थे।२ इन सदस्यों का चुनाव किस प्रकार होता था, इसका स्पष्ट प्रमाण तो अब तक उपलब्ध नहीं है किन्तु यह कहा जा सकता है कि अधिकांश सदस्य इस संस्था में पदेन (ex-officio) आते थे; जैसे व्यापारी, श्रेष्ठ, आदि। अपनी संस्थाओं के अध्यक्ष या सचिव होने के कारण वे इस जिला परिषद् में भी सम्मिलित हो जाते थे। "प्रथम श्रेष्ठिन" और "प्रथम कायस्थ" आदि नाम इसी आधार पर प्रचलित थे। जो श्रेष्ठ या कायस्थ इस परिषद् का सदस्य बनता उसे ही प्रथम गुण लगाकर पुकारा जाता था। इसके अतिरिक्त चरित्र, अनुभव, योग्यता और कुशलता के आधार पर अन्य नागरिकों को भी परिषद् में लिया जा सकता था। यदा-कदा इस परिषद् में ग्रामों के प्रतिनिधि कम और शहरों के प्रतिनिधि अधिक होते थे। इन्हें "विषयमहत्तर" कहा जाता था।३

इस प्रकार जिला-प्रशासन की सुन्दर रचना करने एवं आदर्श व्यवस्था स्थापन के लिए ही ऐसा संगठन बनाया जाता था। गुप्तकाल में यह संगठन बहुत सुन्दर और सुगठित था। जिले के कार्यालय में एक लेख संग्रहालय होता था और इसका अधिकारी "पुस्तपाल

---

१ मनुस्मृति—अध्याय सप्तम—श्लोक ११६-११७-पृष्ठ ३०२

२ Dr. Altakar—State & Government in Ancient India-Page 209-210.

३ उपरोक्त—Page. 210.

कहलाता था। इस अधिकारी का मुख्य कार्य (लिखित) अभिलेख (Record) रखता था। भूमि का क्षेत्रफल, उपजाऊ या बीहड़ भूमि का नाप, गाँवों का क्षेत्रफल, जनसंख्या द्वारा वेष्टित भूमि, नगरों की सीमाएँ आदि सब प्रकार की पूर्ण सूचना इस कार्यालय में रहती थी। भूमि का क्रय-विक्रय नियमानुसार होता था। साधारणतया लोकप्रिय संस्था की स्वीकृति ऐसे कार्यों के लिए प्राप्त की जाती थी और क्रय-विक्रय के अभिलेखों पर जिला संस्थाओं की मुहर होती थी। ऐसी मुहरों के प्रमाण नालन्दा आदि स्थानों की खुदाई से मिल चुके हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि कार्यालय स्वीकृत प्रणाली के अनुसार, सुनिश्चित नियमों का पालन करता हुआ, कार्य करता था। इस पद्धति में अपवाद के लिए स्थान नहीं था। यदि स्वयं 'विषयपति' अर्थात् जिलाधीश भी किसी भूमि को प्राप्त करना चाहता था तो उसे पूरी औपचारिकता का पालन करना होता था। विशेषाधिकार या उच्च कुलीनता आदि कोई मुख्य बात कार्यालय की कार्यवाही में बाधा बनकर नहीं आती थी, वरन् उनका पालन करते हुए समाज में अच्छी परम्परा स्थापित करते थे। इस प्रकार जिला-शासन का गठन आधुनिक जिला-शासन की अपेक्षा अधिक विकेन्द्रित एवं जनप्रिय था और फिर भी ऊँच-नीच के भेद बिना सफलतापूर्वक संचालित होता था, यह विशेषता थी।

उप-जिला प्रशासन (Sub-divisional Administration)—विषय (जिला) प्रशासन एवं स्थानीय छोटी प्रशासनिक इकाई के मध्य में उप-जिला प्रशासन भी संगठित था। यह भिन्न भिन्न स्थानों एवं युगों में भिन्न भिन्न रूप में रहा है। मनु ने एक ग्राम से आरम्भ करके फिर दस ग्रामों की दूसरी इकाई और दस दस ग्रामों की दस इकाइयों से अर्थात् १०० ग्रामों की तीसरी इकाई और फिर ऐसी दस इकाइयों की अर्थात् १००० ग्राम की चौथी इकाई का वर्णन किया है।[१] इससे १०० ग्रामों वाली इकाई का अर्थ हम वर्तमान समय के उप-जिलों (Sub-Divisions) के समकक्ष संगठनों से समझ सकते हैं। शासन में सुविधा की दृष्टि से मनु ने यहाँ एक सामान्य सिद्धान्त बना दिया था। अतः उप-जिला लगभग १०० ग्रामों के क्षेत्र तक विस्तृत होता था। महाभारत के अनुसार दशम प्रणाली का यही रूप प्रस्तावित नहीं किया गया।[२] वहाँ इस प्रकार की संस्थाओं में २० अथवा ३० ग्रामों की इकाई का वर्णन है। डॉ० अल्टेकर ने इतिहास में ऐसे उदाहरण लिखे हैं जो इन विचारों की पुष्टि करते हैं। हैदराबाद राज्य में आठवीं और नवीं शताब्दी में दस, बारह और तीस गाँवों तक के जिले थे। गुजरात और कर्नाटक में भी तीस गाँवों वाली इकाइयाँ थीं।[३] ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदी में राजस्थान में तनकूप, गुजरात में गडहडिका तथा बुन्देलखण्ड में खटन्डा बारह बारह गाँवों की इकाई के प्रधान कार्यालयों के स्थान (H. Os.) थे। इन्हें विभिन्न स्थानों में पाठक, पेठ, स्थली अथवा भुक्ति कहा जाता था। "खर्वटक" एवं "द्रोणमुख" भी उप-जिलों के ही नाम थे। इन क्षेत्रों के अधिकारी होते थे और अपने क्षेत्र

---

१ मनुस्मृति-सप्तम अध्याय-श्लोक ११५.

२ महाभारत—XII 87.

३ Dr. Altekar—Rashtrakutas—Page 138.

में भूमि विवाद, साधारण न्याय तथा नियम और व्यवस्था सम्बन्धी सभी कार्य करते थे। इनके निकटतम उच्च अधिकारी "विषयपति" या जिलाधीश ही होते थे। इनकी नियुक्तियाँ आदि अधिकांश केन्द्र द्वारा की जाती थीं। इन अधिकारियों को प्रशासन में सहायता देने के लिए स्थानीय रूप से वंशानुगत राजस्व अधिकारी भी होते थे, जो स्थानीय भूमि सम्बन्धी सम्पूर्ण सूचनाप्राप्त होते थे। राजस्थान के कुछ राज्यों में इन्हें "चौधरी" तथा "कानूगो" के नाम से आज भी पुकारा जाता है। दक्षिण में भी ये प्रथाएं थीं। इन्हें कर्नाटक में "नद्गावुन्डा" तथा महाराष्ट्र में 'देशाग्रमाकूट" कहा जाता था। मराठा युग के देशपाण्डेय, सरदेशपाण्डे, देशमुख आदि उन्हीं से सम्बन्धित थे। अतः यह कहा जा सकता है कि उप-जिला स्तर पर भी व्यवस्था होती थी और राज्य के कर्मचारियों की सहायता एवं स्वायत्तता के हेतु स्थानीय प्रतिनिधि भी उनके साथ सहयोग रखते थे अभिलेखों एवं अन्य आवश्यक सूचनाओं को स्थानीय रूप से अक्षुण्ण एवं प्रमाणित बनाने के लिए ही वंशानुगत पद्धति के आधार पर स्थानीय सहायक रक्खे जाते थे। यह प्राचीन काल की शासन पद्धति की बड़ी महत्वपूर्ण विशेषता थी। उप-जिला स्तर की अन्य समस्याओं का समाधान भी यही संस्था करती थी; जैसे धार्मिक एवं परोपकारी संगठनो की व्यवस्था तथा साधारण विवादों के निर्णय आदि आदि। परन्तु उप-जिला प्रशासन सदैव जिला प्रशासन के सहायक के रूप में ही कार्य करता था और इसके अन्तर्गत 'तालुके' अथवा तहसील की भाँति छोटी इकाइयाँ होती थीं। उनके सम्बन्ध में अब तक अधिक सूचना प्राप्त नहीं हो पाई। परन्तु इतने विशद संगठन में एक स्थान की कड़ी का अनुपस्थित रहना असंगत लगता है अतः भावी शोध इसी अभाव-पूर्ति करने में सम्भव होगी, ऐसी आशा है। प्राप्त वर्णन प्राचीन प्रशासन को एक पूर्ण विकसित राज्य और जागरूक जनता का संगठन सिद्ध करने में पूर्ण सफल है।

प्रश्न

1. Give a brief account of the administrative system of the Mauryas.
2. "The Arthashastra constitutes the most complete statement of Hindu idias on Government". Discuss.
3. Give a brief account of the salient features of the Mauryan system of administration.

तेरहवाँ अध्याय

प्रशासन (३) स्थानीय सरकार

(Administration (III) Local Self Government)

प्रस्तावना—पहले अध्याय में राजकीय प्रशासन का अध्ययन कर लेने के बाद यह स्वाभाविक है कि हम स्थानीय स्वशासन की ओर अग्रसर हों। प्राचीन काल में प्रजातंत्रात्मक परम्पराएँ आद्योपान्त सर्वत्र व्याप्त थीं। इसलिए यह तो निश्चित है कि प्राचीन भारतवर्ष में स्थानीय संस्थाएँ संगठित थीं और उन्हीं संस्थाओं द्वारा स्थानीय जीवन व्यवस्थित एवं संचालित होता था। उस समय भारतवर्ष ग्राम-प्रधान देश था, परन्तु अनेक राजधानियाँ तथा बड़े नगर भी पर्याप्त मात्रा में थे, यह इतिहास से सिद्ध है; परन्तु फिर भी वर्तमान समय के विशाल नगरों की भाँति उस समय इतनी बड़ी जनसंख्या के नगर नहीं से थे। स्थानीय स्वशासन की दृष्टि से उस समय भी ग्राम, नगर एवं राजधानियों के लिये पूर्ण रूप से स्वतन्त्र संगठन स्थापित किये जाते थे। चाहे राजतंत्र रहा हो अथवा प्रजातन्त्र, किन्तु नगरों आदि की स्वायत्त संस्थाएँ सदैव जीवित रहीं। प्राचीन काल के पश्चात् मध्यकाल, मुस्लिम काल तथा आंग्ल युग तक भी ये स्थानीय संस्थाएँ किसी न किसी रूप में चलती आई हैं। इन्हीं संस्थाओं के कारण अंग्रेजों की यह धारणा बनी थी कि भारतवर्ष का प्रत्येक ग्राम "लघु गणराज्य" (Little Republics) हैं। वास्तव में तत्कालीन स्वायत्त संस्थाएँ नगरों को पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर एवं स्वशासित बनाये रखती थीं। उस समय भी राजधानियों का *स्थानीय शासन प्रबन्ध आज के बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता आदि विशाल नगरों की भाँति* विशेष ढंग से होता था तथा साधारण नगरों एव ग्रामों की स्वायत्त प्रणाली आजकल की नगरपालिकाओं तथा ग्राम पंचायतों की भाँति होती थी। इन सब प्रकार की स्वायत्त संस्थाओं का अध्ययन भली प्रकार करने के लिए प्रत्येक का विस्तृत वर्णन आवश्यक है। इसलिए अगली पंक्तियों में राजधानी, नगर एवं ग्राम स्वायत्त संस्थाओं पर ही क्रमशः विचार किया जाता है।

प्रमुख नगर एवं राजधानियों का स्वायत्त प्रशासन:—वैदिक काल में बहुत बड़े बड़े नगरों की परम्परा रही हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। उस समय की सभ्यता अधिकांश ग्रामीण वातावरण से आच्छादित थी। इसलिए बड़े नगरों का वर्णन अल्प मात्रा में और यदा-कदा मिलता है। उत्तर वैदिक काल में भी नगरों का वर्णन सामाजिक जीवन की मुख्य विशेषता के रूप में मिलता है वह भी अधिक नहीं। किन्तु उपलब्ध प्रसंग यही सिद्ध करते

हैं कि बड़े बड़े नगरों का भी अस्तित्व था और समाज तथा राज्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान था। सिकन्दर महान् के आक्रमण के समय पंजाब में ऐसे विशाल नगरों का बाहुल्य था। इन नगरों में स्वायत्त प्रशासन था और अपनी परिषदों द्वारा स्थानीय व्यवस्था की जाती थी। सम्भवतः इन संस्थाओं का संगठन उन चुनावों के आधार पर होता हो जो नगर को कई भागों में विभाजित कर आनुपातिक-प्रतिनिधित्व-प्रणाली के अनुसार सम्पन्न होते थे। इन परिषदों के सदस्य अनुभव और अवस्था का ध्यान रखते हुए निर्वाचित होते थे। गुप्तकाल के पश्चात् से हमें इस प्रकार के नगरों की व्यवस्था का अच्छा वर्णन मिलता है। उस समय नगरों की समिति अथवा परिषद् की अध्यक्षता के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से अधिकारी नियुक्त किया जाता था, जिसे "पुरपाल" कहते थे। अंग्रेजों के समय में जैसा हिन्दुस्तान में ज़िलों की स्वायत्त संस्थाओं का अध्यक्ष जिलाधीश होता था। इसी प्रकार शासन को दृढ़ बनाने एवं नागरिकों के पथ-प्रदर्शन के लिए राज्य के कर्मचारियों को पदेन कार्य करना होता था। इतना अवश्य है कि अंग्रेजों के समय में राजकीय अधिकारियों की भावना 'जन-सेवा' न होकर 'राज्य-सेवा' अधिक थी। प्राचीन काल में इस व्यवस्था का उद्देश्य सब प्रकार से लोकहित था। आज जैसा राजस्थान सरकार ने निश्चय किया है तथा कुछ सीमा तक उत्तर प्रदेश तथा आंध्र प्रदेश भी कर रहे हैं। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण (Democratic-Decentralization) की योजना में स्थानीय निकायों के साथ राज्य के कर्मचारियों को भी उत्तरदायी स्थान दिया जा रहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि राजस्थान राज्य का वर्तमान विकेन्द्रीकरण का चरण हमारी प्राचीन परम्पराओं के पूर्ण अनुरूप है। यदि ऐसे नगर चाहरदीवारी से बन्द होते थे तो वहाँ एक "कोट्टपाल" भी होता था। कई बार कोट्टपाल और पुरपाल दोनों पद एक ही व्यक्ति के द्वारा संचालित होते थे। कभी कोट्टपाल के अधीन अनेक नायक होते थे, जिन्हें 'दण्डनायक' कहा जाता था। पुरपाल और कोट्टपाल सुयोग्य व्यक्तियों में से चुने जाते थे। इसलिए यह सम्भव है कि उस समय मस्तिष्क और शरीर के सुन्दर से गुणों का समन्वय आदर्श माना जाता हो।

इन नगरों की व्यवस्था के लिए जो समिति या परिषद् होती थी, वही नगर का शासन संचालन करती थी। इस समिति को कहीं "गोष्टी", "पंचकुल", "चौकड़ीका" आदि शब्दों से पुकारा जाता था। इस संस्था में नगर के सब प्रमुख भागों के प्रतिनिधि होते थे। इस सम्बन्ध में नगरों को कई भागों में बाँटा जाता था। अंग्रेजी में इन्हें "वार्ड्स" कहते हैं, राजस्थान में कुछ भागों में (जैसे उदयपुर आदि) इन्हें "वाड़ा" तथा कोटा आदि स्थानों पर "पाड़ा" कहते हैं। कुछ अन्य स्थानों पर "टोड़ी" (अलग बसा हुआ मोहल्ला), "पुरा" आदि नामों से भी शहर के भागों को पुकारा जाता था और प्रत्येक मोहल्ले से कम से कम एक प्रतिनिधि इन संस्थाओं में अवश्य लिया जाता था। डॉ० अल्टेकर के मतानुसार राजस्थान के "बपसोप" गांव में आठ भाग थे जिन्हें "वाड़ा" कहते थे और प्रत्येक वाड़ा से दो प्रतिनिधि लिये जाते थे।[१] इन प्रतिनिधियों का चुनाव अनुभव, अवस्था, चरित्र एवं

१ · डॉ० अल्टेकर—State and Government in Ancient India—Page-215

लोकप्रियता के आधार पर होता था। किन्तु वर्तमान समय की भांति चुनाव लड़ना नहीं पड़ता था। लोकमत के अनुसार सर्वसम्मति से बिना संघर्ष सुयोग्य व्यक्तियों का नाम निर्धारित कर लिया जाता था और वे पूर्ण योग्यता के साथ जनहित में संलग्न होते थे। सम्पूर्ण काम के लिए छोटी छोटी समितियों का निर्माण होता था और बारी बारी से प्रत्येक सदस्य को हर समिति में कार्य करने का अवसर मिलता था। बारी बारी से नम्बर करने के कारण ही उन सदस्यों को "वारिक" शब्द से सम्बोधित किया गया है।[१] अर्थात् वे लोग जो बारी बारी से काम करते हैं। इस स्थान पर हमें वर्तमान समय में क्रियाशील स्विट्जरलैंड की संघीय परिषद् का स्मरण हो आता है। जहाँ अभी प्रतिवर्ष सदस्य अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के पद पर परिवर्तित होते रहते हैं। प्राचीन काल में भारतवर्ष में बड़े नगरों की व्यवस्था के लिए यही पद्धति अपनाई हुई थी। इन समितियों में सदस्यों की संख्या साधारणतया तीन होती थी। यह संख्या कम-ज्यादा भी हो सकती थी। दो (सियादोनी), तीन (ग्वालियर), तथा पांच (राजपूताना) तक सदस्य होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। इन समितियों के मुख्य मुख्य कार्य निम्नलिखित होते थे :—

परिषद् के निर्णयों को कार्यान्वित करना, आवश्यकतानुसार कर, शुल्क आदि संकलन, जनहित के लिए नये कार्य आरम्भ करना, स्वास्थ्य आदि लोकहित के कार्यों की व्यवस्था, न्यासकोष (Trust Funds) का प्रबन्ध, आवश्यक धन तथा ऋण चुकाने की व्यवस्था करना आदि प्रमुख कार्य थे।

इस संस्था के कार्यों को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए स्थायी कार्यालय एवं कर्मचारी भी होते थे। कार्यालय को "स्थान" कहते थे, जहाँ से सारा कार्य किया जाता था। कार्यालय का मुख्य अधिकारी "कर्णिक" (Secretary) कहलाता था जो स्थायी कर्मचारी होता था। कार्यालय के पत्र-व्यवहार तथा लेखों आदि की सुरक्षा का उत्तरदायित्व इसी अधिकारी का होता था। इसकी सहायता के लिए अनेक छोटी श्रेणी के कर्मचारी होते थे। नगर के विभिन्न प्रकार के कर, शुल्क, चुंगी, मापा (बिक्री कर) यात्रा कर आदि के संग्रह के लिए कई अधिकारी नियुक्त होते थे और यह इस संस्था की आय का मुख्य साधन होता था। इस प्रकार ये संस्थाएँ अपने सब काम स्वीकृत नियमानुसार विधिवत् पद्धति से करती हुई लोकप्रिय एवं सफल रहती थी। ये संस्थाएँ उत्तर भारत में बहुत थीं। महाराष्ट्र में इन संस्थाओं को "निगम सभा" कहते थे। वहाँ यह सभा सम्पत्ति के आवर्तन परिवर्तन का पंजीकरण (Registration) भी करती थी। उपर्युक्त वर्णन यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतवर्ष में नगरों की व्यवस्था राज्य कर्मचारियों के सहयोग तथा स्थायी नागरिकों के द्वारा संचालित होती थी और संभवतः संगठन, शक्ति, अधिकार और कर्त्तव्य आदि की दृष्टि से वस्तुतः उचित अर्थ में स्वायत्त संस्थाएँ थीं।

राजधानियों का स्वायत्त प्रशासन:—वर्तमान समय में भारतवर्ष के विभिन्न विशाल नगरों की स्थानीय व्यवस्था निगमों (Corporations) द्वारा ही की जाती है; क्योंकि

---

१ वर्तमान वर्पवारिक जोगनंद। Bombay. G. (As quoted by Dr. Altakar).

नगरपालिका आदि दूसरी संस्थाएँ समुचित व्यवस्था करने में समर्थ नहीं हो पातीं। यह अनुभव प्राचीन भारतवर्ष में भी किया जा चुका था। उस समय इतने बड़े-बड़े नगर अधिक तो नहीं थे परन्तु राजधानियाँ अवश्य ही बड़े नगरों के समान विस्तृत एवं विशाल थीं इसके अतिरिक्त एक बार राजधानी रह चुकने के बाद उस नगर की विशालता में अन्तर नहीं आता था। इसलिए ऐसे नगरों की शासन व्यवस्था विशेष प्रकार से की जाती थी। ईसा से पूर्व तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी में पाटलिपुत्र की स्वायत्त प्रणाली आदर्श मानी जा सकती है। राजधानी होने के कारण यहाँ सब प्रकार के लोग, विभिन्न देशों के दूत, प्रतिनिधि एवं नागरिक भी रहते थे। परन्तु फिर भी स्वायत्त शासन के साधारण सिद्धान्त स्थानीय सरकारों के अधीन ही थे। पाटलिपुत्र की व्यवस्था तीस सदस्यों की परिषद् द्वारा की जाती थी और प्रशासन की सुविधा के लिए इस परिषद् के तत्वावधान में पाँच उप-समितियाँ काम करती थीं। प्रथम समिति का मुख्य कार्य था विदेशियों की देख-रेख, उनकी आवश्यकताएँ पूरी करना तथा उनकी क्रियाओं पर ध्यान रखना। बड़ी राजधानियां तथा व्यावसायिक नगरों में जहां विदेशी अधिकांश रहते थे यह समिति महत्वपूर्ण होती थी। द्वितीय समिति का मुख्य काम था अंकशास्त्र के अनुसार जन्म और मरण का लेखा रखना तथा इनसे संबंधित विशेष सांख्यिकी सूचना प्रस्तुत करना और मरण के विभिन्न रोग अथवा कारणों पर प्रकाश डालना। यह समिति बड़ी जनसंख्या के नगरों के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती थी। मौर्यकाल के पश्चात् इस प्रकार की समिति का उल्लेख नहीं सा मिलता है। यह कहा जा सकता है कि इस समिति ने बाद में कोई और रूप धारण कर लिया हो अथवा किसी अधिक महत्वपूर्ण समिति के साथ एकरूप बन गई हो।

तृतीय समिति का कार्य मुख्य रूप से विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन पर ध्यान देना था। कितना माल आता है, कितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं आदि उत्पादन संबंधी कार्य यह समिति करती थी। साधारणतया औद्योगिक नगर एवं दूसरे प्रगतिशील स्थानों पर यह समिति अवश्यमेव रहती थी। चतुर्थ समिति का कार्य था श्रमिकों के लिए उचित श्रम और उसकी उचित मात्रा निर्धारित करना, बाजार की गतिविधि को ध्यानपूर्वक देखकर उचित निर्देश करना तथा बाजार में शुद्ध एवं अमिश्रित सामग्री की व्यवस्था करना आदि। पाँचवीं समिति का कार्य व्यापारियों तथा अन्य संबंधित व्यक्तियों से कर एवं शुल्क एकत्र करना, उनका नियमानुसार लेखा रखना तथा शेष कर आदि के प्राप्त करने की कार्यवाही करना आदि। इसके अतिरिक्त एक समिति और होती थी जिसके मुख्य काम थे लोक-निर्माण के कार्य; यथा—तालाब बनवाना, नहरें खुदवाना, उद्यान लगाना तथा जनता के मनोरंजन के साधन उपलब्ध करना आदि। इसे लोक-निर्माण समिति (Public Works Committee) कहते थे। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र के अनुसार जन-हित के कार्य करने के लिए नागरिकों की अन्य भी कई समितियां और छोटी संस्थाएँ होती थीं। पाटलिपुत्र की स्थिति अन्य राजधानियों की अपेक्षा विशेष प्रकार की थी क्योंकि बहुत बड़ी राजधानी होने के कारण स्थानीय स्वायत्त में राज्य की ओर से बहुत सहयोग मिलता था। अर्थशास्त्र के अनुसार जो विभिन्न अधिकारी

नगरमण्डल में होते थे; जैसे—बाजार निरीक्षक, कर संग्रहकर्त्ता, तोल-नाप निरीक्षक आदि वे सब पाटलिपुत्र में राज्य के ही विशेषज्ञ कर्मचारी होते थे। अन्य नगरों में ये सब पद स्वायत्त संस्था के अधीन होते थे और उनकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करते थे।

राजधानियों तथा बड़े नगरों की स्थानीय व्यवस्था में राज्य का सदैव सहयोग रहता था। विशेष तौर पर आर्थिक सहायता के लिए इन निगम आदि संस्थाओं को राज्य पर ही निर्भर करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त सामाजिक, स्वास्थ्य संबंधी तथा दूसरे क्षेत्रों में भी ये संस्थाएं राज्य का सहयोग लेती हुई कार्य करती थीं।

उपर्युक्त वर्णन प्राचीन काल के निगम आदि मण्डलों का पूरा चित्र उपस्थित करने में असमर्थ है विशेषतः इन संस्थाओं का संगठन, उनके अस्तित्व का युग, सदस्यों का निर्वाचन या मनोनयन, आय के मुख्य साधन तथा व्यय के मुख्य स्रोत आदि के संबंध में कोई स्पष्ट प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है, किन्तु प्राप्त प्रसंगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल के नगरों की स्वायत्त व्यवस्था बहुत उन्नत स्थिति की थी। एक प्रगतिशील समाज में तथा प्रजातंत्र के सिद्धान्तों का सम्मान करते हुए विभिन्न समितियों और उप-समितियों का वर्णन प्राचीन भारत की राजनैतिक जागृति का एक सुन्दर प्रमाण है।

ग्राम्य प्रशासन (Village Administration :—ग्राम भारतवर्ष के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जैसे-यूनान के नगर के आधार पर नगर राज्यों का निर्माण हुआ उसी प्रकार भारतवर्ष का जीवन ग्राम से आरम्भ होकर आज पुनः गाँव तक पहुंच कर पूर्ण होता है। उस युग में जब यातायात के साधन नहीं थे एवं औद्योगीकरण नहीं हुआ था भारतवर्ष के ग्राम वास्तव में अपना विशिष्ट स्थान रखते थे। वेदों में गाँव का प्रसंग आता है, और उनकी समृद्धि के लिए प्रार्थनाओं के वर्णन भी। जातक ग्रन्थों में राज्य की समृद्धि की प्रशंसा करते हुए अनेक प्रगतिशील ग्रामों का उल्लेख किया गया है। जैसा हम पहले कह चुके हैं-भारतवर्ष में प्रशासन, सभ्यता, शिक्षा तथा सामाजिक धार्मिक आदि अनेक उत्थान और पतन हुए, परन्तु भारतवर्ष का ग्रामीण जीवन अक्षुण्ण बना रहा। वास्तव में गांवों का अस्तित्व प्रशासकों के लिए जैसे अनेक समस्याओं का सृजन करता रहा है, उसी प्रकार उनका अस्तित्व अनेक परिवर्तनों से निरपेक्ष रहकर प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं का संरक्षक भी बना रहा। प्राचीन काल में राज्य अथवा साम्राज्य का प्रत्येक कार्य ग्राम के अध्यक्षों के सम्मेलन में स्वीकृत होने पर किया जाता था। वास्तव में राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन के केन्द्र ये ग्राम ही थे। जिसके आधार पर आज भी हमारे राष्ट्र का समृद्ध एवं सांस्कृतिक प्रशासनीय भवन सुरक्षित है।

ग्रामणी (Village Headman):—गाँवों की व्यवस्था साधारणतया ग्रामणी द्वारा की जाती थी। वेद, जातक ग्रन्थ तथा अर्थशास्त्र आदि में ग्रामणी का प्रसंग मिलता है। विभिन्न कालों में ग्रामणी के लिए विभिन्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उत्तर भारत में उसे "ग्रामीक" या "ग्राम्यक", दक्षिण में "मुनन्दा", महाराष्ट्र में "ग्रामकूट", या "पट्टकील", कर्नाटक में

"गवुण्डा", उत्तरप्रदेश में "महट्टक", या "महन्तक" करते थे ।१ राजस्थान के कुछ राज्यों में "पटेल" शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में होता है । यह पद साधारणतया वंशानुक्रम के सिद्धान्त पर आधारित होता था, किन्तु राज्य सरकार इस पद पर नये व्यक्ति की स्वीकृति का अधिकार सदैव अपने हाथ में रखती थी । इस पद के लिए किसी जाति विशेष को प्राथमिकता नहीं दी जाती थी; किन्तु साधारणतया क्षत्रिय लोग अधिक उपयुक्त माने जाते थे । कभी ऐसे भी प्रसंग मिलते हैं जब एक ही गाँव में अनेक ग्रामणी होते थे । अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि जब एक परिवार में अधिक योग्य व्यक्ति हो जाते थे तो सबको अवसर देने के लिए यह व्यवस्था की जाती होगी । ग्रामणी का पद वैदिक काल से ही महत्वपूर्ण रहा है । जातक ग्रन्थों में भी ग्रामणी को 'ग्राम-सम्राट' की तरह चित्रित किया गया है । सम्राट के राज्याभिषेक-उत्सव तथा अन्य महत्वपूर्ण अवसरों पर राज्य की विधानसभाओं में और मन्त्रि-परिषद् में ग्रामणी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण रहता था । उसके कर्त्तव्य भी अनेक थे । गांव की सुरक्षा तथा आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था उनका मुख्य कार्य था । जब जब गाँव पर आपत्ति आती थी, ग्रामणी की अध्यक्षता में सारे गाँव के निवासी अपना कर्त्तव्य पालन करते थे ।२ दूसरा कार्य राजस्व संग्रह करना था । यह कार्य ग्राम अध्यक्ष अपनी छोटी सी स्थानीय समिति के परामर्श से करता था । ग्रामणी इस समिति का पदेन अध्यक्ष होता था और आवश्यक समस्त सूचना एवं लेखों (Records) का संरक्षक होता था । इसके अतिरिक्त गाँव के सामाजिक व आर्थिक जीवन का उचित संचालन ग्रामणी के ही निर्देशन में होता था । उसकी प्रतिष्ठा बनाने के लिए राज्य की ओर से कुछ सम्मान दिया जाता था । राजकीय-कुटीर उसे निवास के लिए मिलता था तथा गाँव के लोग भी उसे राज्य का प्रतिनिधि मान कर समय पर अल्पांश-कर आदि देते थे । शुक्र-नीति के अनुसार ग्रामणी ग्राम-निवासियों के लिए माता-पिता की भाँति होता था ।३ ग्रामणी राज्य और प्रजा दोनों का विश्वासपात्र होता था । राज्य की ओर से वह भूमि संबंधी सूचनाएँ, पत्र, परिपत्र, शेष शुल्क की स्मृति तथा उसकी प्राप्ति का प्रयत्न, ग्राम परिषद् के निर्णयों को सुरक्षित रखना तथा राज्य की विभिन्न शाखाओं से पत्र-व्यवहार आदि कार्य करता था । कहीं-कहीं ग्रामणी की सहायता के लिए कोषाध्यक्ष का अलग पद भी रखा जाता था । तामिल प्रदेश में इस पद की नियुक्ति ग्राम्य परिषद् द्वारा की जाती थी ।४ शुक्रनीति के अनुसार उपर्युक्त दो के साथ चार अन्य अधिकारियों का भी उल्लेख मिलता है । सहसाधिपति (Magistrate), 'भागहार'(Revenue Collector), शुल्कग्रहा (Toll-Collector) और प्रतिहार (Gate-Keeper) संभवतः बड़े गाँवों में ये अधिकारी रहते थे । हर्षचरित-सार के अनुसार ग्रामाक्ष-पटलिक (एक अर्थ अधिकारी) तथा करणि (सहायक लेखक), अक्षपटल (राजकीय आय का कार्यालय), पुस्तकृत (ग्राम की

---

१ Dr. Altekar—State & Government in Ancient India-Page. 220

२ यथा स्वसैन्येन सह ग्रामाध्यक्षादिसैन्यं सर्वाध्यक्षस्य भवति । सांख्यतत्वकौमुदी पृष्ठ ५४.

३ शुक्र-नीतिसार, अनुच्छेद २, पृष्ठ ३४३.

४ Dr. Altekar--State and Government in Ancient India-Page 222.

भूमि संबंधी सूचनाओं वाला अधिकारी), ग्राममहत्तर (ग्रामणी) भी गाँवों के जीवन में सक्रिय पद एवं पदाधिकारी थे। दामोदरपुर ताम्र-पत्र में ग्राम के अधिपति को ग्राममहत्तर कहा गया है। बाण ने भी वही शब्द प्रयोग किया है। ग्रामणी ग्राम के लिए उसी प्रकार था; जैसे-माता-पिता परिवार के लिए। माता प्रेम की प्रतीक है और पिता अनुशासन का। अशोक के समय में यह भावना अधिक व्याप्त हो गई थी।

ग्राम सभा (Village Assembly):—इसे ग्राम-संघ तथा ग्रामसमूह भी कहते थे। साधारणतया गाँव के समस्त गृहस्थी इस सभा में सम्मिलित होते थे। इस सभा के अधिवेशन के लिए सब गृहस्थ ग्रामवासियों को ढोल बजाकर सूचना दी जाती थी। इस सभा के सदस्यों को उत्तर प्रदेश में 'महात्मा', महाराष्ट्र में 'महत्तर', कर्नाटक में महाजन', तमिल में "पैरुमक्कल" कहते थे। ये सब लोग गाँव के बड़े आदमी होते थे। इनकी संख्या अधिक होने के कारण बाद में कुछ प्रतिनिधियों द्वारा शासन चलाने की योजना स्वीकृत हुई और तदनुसार ग्राम पंचायत का प्रारम्भ हुआ। ग्राम का वास्तविक शासन इस सभा द्वारा ही संचालित होता था। ग्रामणी तथा अन्य प्रतिनिधि स्वेच्छानुसार कार्य नहीं करते थे। वैदिक काल से ही गाँव में यही परम्परा थी और यह सभा सब प्रकार की समस्याओं का हल करती थी। खेल-कूद, विनोद, सुरक्षा, आदि सारी व्यवस्था इसी सभा के हाथ थीं ग्रामणी के अवांछनीय व्यवहार अथवा कार्य के लिए यह सभा उसे सचेत कर सकती थी। जातक ग्रन्थों में यह कथा है—एक बार ग्रामणी ने अधिक नशीले पेय एवं पशु-वध निषिद्ध कर दिया था किन्तु जब सभासदों ने इसे ग्राम की स्थानीय परम्पराओं के विरुद्ध होने का कारण बतलाया तो ग्रामणी ने अपनी आज्ञाएँ रद्द कर दीं। अर्थशास्त्र में ग्राम सभा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है, परन्तु ये सभाएँ बाद में अवश्य विद्यमान रही हैं। मध्य भारत में पंच-मण्डली, बिहार में 'ग्राम जनपद' आदि ग्राम परिषदों के ही विभिन्न नाम थे। इन सभाओं के सदस्य कई स्थानों पर गाँव के केवल निर्वाचित सदस्य होते थे। इनकी अवधि एक वर्ष की होती थी और तत्काल पुनर्निर्वाचन वैध नहीं था। ये सब सदस्य अवैतनिक होते थे। दुराचरण के अपराध पर अवधि-समाप्ति के पहले भी कोई सदस्य पदच्युत किया जा सकता था। ग्राम के सब व्यक्तियों को अवसर देने के लिए कहीं-कहीं यह भी नियम था कि एक बार निर्वाचित व्यक्ति अगले तीन वर्ष तक निर्वाचित नहीं हो सकते थे। लोककोष (Public funds) का दुरुपयोग करने के अपराध में केवल अपराधी ही नहीं उसके समस्त बन्धु-बान्धव भी सदैव के लिए निर्वाचन के अयोग्य घोषित कर दिये जाते थे। सभासद् न अधिक युवक और न अधिक वृद्ध होते थे। लगभग ३५ वर्ष से ७० वर्ष की आयु तक के लोग सभासद बन सकते थे। प्रत्याशियों के लिए निजी कुटीर एवं न्यूनतम दो एकड़ भूमि का स्वामित्व अनिवार्य था। परन्तु विद्वान एवं वेदाचार्य, स्मृतिकार तथा दार्शनिक इस सीमा से बाहर थे। साधारणतया प्रत्येक सभा का अपना विधान होता था। मूल रूप से विभिन्न सभाओं के विधान में विशेष अन्तर नहीं होता था केवल सदस्यों की अवस्था पैंतीस या चालीस पुनर्निर्वाचन की तीन, पांच या दस वर्ष बाद, उप-समितियों की संख्या व कार्य कम या अधिक आदि साधारण भेद रहते थे।

कार्य:—ये सभाएँ स्वयं अपने विधान एवं विधियों को संशोधित करती थीं। विभिन्न समितियों का चुनाव भी अबोध बालक द्वारा नाम उठवा कर (By lot) करवाया जाता था। और ये समितियाँ ग्रामोद्यान, ग्राम-वाटिका, जलवितरण, पुष्करिणी, विवाद निर्णय आदि कार्यों में संलग्न रहती थीं। भूमि सर्वेक्षण समिति, देवालय समिति तथा शिक्षा समिति भी होती थीं। इन समितियों में वर्ण व्यवस्था का महत्व नहीं था। न तो प्रत्येक समिति में ब्राह्मण का होना अनिवार्य था और न अछूतों का होना निषिद्ध।

इस प्रकार ग्राम संस्थाओं के मुख्य कार्य कर-संग्रह, भूमि-सुधार, केन्द्र से पत्र-व्यवहार, संकट के समय साधन एकत्र करना आदि थे। कर न देने वालों की भूमि बेचने का अधिकार तथा गांव की पड़त जमीन (Waste Lands) का स्वामित्व एवं क्रय-विक्रय, पंजीकरण आदि भी इसके प्रमुख अधिकार थे। गाँव के निवासियों के परस्पर विवाद निपटाना, आवश्यकतानुसार दण्ड निर्धारित करना तथा गंभीर अभियोगों को आगे स्थानान्तरित करना इनके अधिकार में था। दक्षिण भारत के कुछ अभिलेख यह भी सिद्ध करते हैं कि ये ग्राम सभाएँ साहूकारों की तरह (Bank) लेन-देन का काम भी करती थीं। संकट की स्थिति में ग्राम की सम्पत्ति को गिरवी रखकर अथवा अन्य किसी प्रकार से सहायता प्राप्त करना इसी संस्था का काम था। इसके अतिरिक्त जनहित के कई कार्य करती थीं। उदाहरणार्थ; वन और बीहड़ जमीनों का उपयोग कर गाँव की सम्पत्ति में वृद्धि करना, सिंचाई-योग्य तालाबों का निर्माण, सुधार तथा नहरों की व्यवस्था करना, पेय-जल के कुओं की व्यवस्था, ग्राम भवनों का निर्माण, शिक्षा की व्यवस्था तथा अर्थ व्यवस्था आदि इन संस्थाओं के मुख्य कार्य थे।

इन सभाओं के अर्थ-व्यवस्था के मुख्य साधन निम्नलिखित थे—

(१) राज्य के संगृहीत राजस्व का अल्पांश (दस या पन्द्रह प्रतिशत)।
(२ अपराधियों पर किया हुआ अर्थ-दण्ड।
(३) आवश्यकतानुसार लगाया हुआ अतिरिक्त कर अथवा शुल्क।
(४) विभिन्न संस्थाओं से ऋण।
(५) स्थानीय रूप में व्यापारिक संस्थाओं द्वारा प्रदत्त अनुदान अथवा विवाह आदि के अवसर पर प्राप्त आर्थिक योग।
(६) दानशील नागरिकों द्वारा अनुदान।
(७) स्थानीय संस्था के उद्योगों से प्राप्त लाभ।
(८) केन्द्रिय सरकार द्वारा प्रदत्त सहायता

ये सभाएँ कहीं मन्दिर पर, कहीं पेड़ के नीचे, मठ अथवा हताई (बैठक) पर या कहीं सभा भवन में एकत्र होती थीं। प्रत्येक ग्राम की स्थिति के अनुसार सुविधापूर्वक यह व्यवस्था की जाती थी। उस समय भी पक्ष और विपक्ष की भाँति सभा में वाद-विवाद होते थे और उपद्रवी सदस्यों पर नियंत्रण रखने के लिए पांच काशू (तत्कालीन मुद्रा) दण्ड भी रखा गया था।[१] ग्राम परिषद् के संबंध की जानकारी बहुत सीमित मिलती है। फिर भी तत्कालीन

१ Dr. Altekar--State and Government in Ancient India-Page 237.

कार्यवाहियों का पूरा विवरण रखा जाता था और मुख्य निर्णयों को मंदिर या सभा भवन की भित्तियों पर अंकित करवा दिया जाता था। इसलिए शताब्दियों पश्चात् भी ये प्रमाण उपलब्ध हो सके हैं। कौटिल्य ने ग्राम-सभा या संगठन का उल्लेख न करके, केवल ग्राम-वृद्ध और मुखिया का वर्णन किया है। साथ ही पाँच अथवा दस गाँवों के ऊपर नियुक्त अधिकारी "गोप" और उसके कार्यों का वर्णन भी। "गोप" के लिए अपने अधीन प्रत्येक ग्राम का विस्तृत विवरण रखना अनिवार्य था। उसमें निम्नलिखित सूचनाएँ सम्मिलित थीं १—वह भूमि जिस पर कृषि होती है, जिस पर कृषि नहीं होती ऐसी भूमि, मैदान, नम भूमि, आराम (उद्यान), उपवन, वाट, वन, चैत्य, देवालय, सेतु, श्मशान, सत्र (दानालय), प्रपा (जलशाला या प्याऊ), तीर्थस्थान, विवीत, चरागाह तथा पथ (सड़कें) आदि। इसके अतिरिक्त खेतों, वनों, सड़कों तथा दान में प्राप्त भूमि (सम्प्रदान) की सीमाओं तथा क्षेत्रों के लेख रखे जाते थे और भूमि के क्रय-विक्रय तथा कर-मुक्ति आदि की सूचना रखना भी आवश्यक था। ग्राम के संबंध में अन्य सूचनाएँ; जैसे कुल मकानों की संख्या, करद हैं अथवा कर-मुक्त (अकरद), ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्रों की पृथक् पृथक् संख्या, ग्राम के निवासी कृषक, ग्वाल (गोरक्षक), व्यापारी (वैदेहक), शिल्पियों (कारु), दास मजदूर तथा जानवरों की संख्या, प्रत्येक व्यक्ति का हिरण्य, विष्टि, शुल्क, दण्ड आदि के रूप में राज्य को योग, प्रत्येक कुल में स्त्रियों और पुरुषों की संख्या और उनकी आयु, जाति के अनुसार प्रत्येक का उद्यम, आय, व्यय तथा चरित्र का लेखा आदि भी रखने की व्यवस्था का विधान था।

ग्राम सभा के सदस्यों को सम्मान देने के लिए तथा अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक बनाए रखने के लिए उन्हें "ग्रामवृद्ध" की उपाधि से विभूषित किया जाता था। इस सभा की समितियों में साधारणतः पाँच सदस्य होते थे। बृहस्पति २ ने भी पांच सदस्यों वाली समिति का उल्लेख किया है। पंचमण्डली, पंचकुल, पंचकुली आदि नाम इसी आधार पर प्रचलित हुए थे।

ग्राम समितियों का अधिकारक्षेत्र:—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त ग्राम संस्थाएँ निम्नलिखित कार्य भी करती थीं—भूमि-कर एकत्रित करना, अकाल आदि के संकट में करों में छूट का प्रबन्ध, सार्वजनिक भूमि पर जनहित के लिए ऋण प्राप्त करना, ऊसर भूमि को कृषि योग्य बनवाना, पथ-निर्माण तालाब-कुओं आदि की देखभाल, सार्वजनिक भूमि का विक्रय, न्याय संपादन (जिसमें दीवानी और फौजदारी मामले सम्मिलित होते थे), देवालयों की संपत्ति का संरक्षण, पंचायत बैंक संबंधी कार्य, शिक्षा की व्यवस्था, शिक्षा प्राप्ति के लिए वृत्तियाँ देना आदि। न्याय के क्षेत्र में ग्राम पंचायतों के साधारण अधिकार तो सर्वत्र ही मान्य रहे हैं परन्तु कहीं-कहीं; जैसे चोल शासकों के समय में, पंचायतों के ऐसे मामलों के निर्णय किये जाने की सूचना प्राप्त होती है जिसमें किसी के द्वारा हत्या का अपराध भी किया

---

१ अर्थशास्त्र २।३५.

२ द्वौ त्रयः पंच वा कार्य्याः समूहहितवादिनः।
कर्त्तव्यं वचनं तेषां ग्रामश्रेणिगणादिभिः॥ वीरमित्रोदय—पृष्ठ ४२७.

गया हो।[१] दूसरी विशेषता इस स्थानीय स्वायत्त शासन की यह थी कि शासक वर्ग इनके क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। मध्यकालीन भारत में भी इन परम्पराओं का पर्याप्त सम्मान था। शिवाजी, राजाराम आदि पंचायतों के क्षेत्र के विषयों संबंधी प्रश्नों को, जो सीधे उनके पास जाते थे, पुनः पंचायतों के पास ही भेज देते थे।[२] मुगल शासक भी इस परिपाटी का निर्वाह करते थे। बीजापुर सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह के समय की एक घटना इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर उदाहरण है। बापाजी नामक मुसलमान अपने मुखिया-पद के अधिकार संबंधी विवाद में मसूर ग्राम पंचायत में असफल हो गया। बापाजी ने सुल्तान से निर्णय की प्रार्थना की। सुल्तान ने स्वयं हस्तक्षेप न कर सारा प्रश्न एक दूसरे ग्राम पैठन की पंचायत के समक्ष भेज दिया। वहाँ पर असफल हो जाने के बाद पुनः सुल्तान के समक्ष उपस्थित होने पर सुल्तान ने स्पष्ट यह कहा कि वह पंचायत के निर्णयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता।[३] अतः यह कहा जाना सच है कि प्राचीन भारत की ये स्वायत्त संस्थाएँ वास्तव में यथार्थ और आदर्श का सुन्दर समन्वय थीं। अत्यधिक शक्तिशाली भी थीं और पूर्ण भी। ग्राम्य-जीवन के लगभग समस्त क्षेत्रों में उनकी सत्ता व्याप्त थी। प्रजा की भावनाओं की प्रतिनिधि ये संस्थाएँ अपने क्षेत्र में पूर्ण सार्वभौम थीं। शासक वर्ग न तो हस्तक्षेप करते थे और न उनमें इस दुस्साहस की क्षमता थी। दशकुमारचरित के अनुसार राजा ने एक जनपद अध्यक्ष से एक ग्रामणी को सताने की प्रार्थना की थी। इससे ग्राम की संस्थाओं के नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक सुदृढ़ आधार का भान होता है।

केन्द्र एवं ग्राम की संस्थाओं का सम्बन्ध:—कुछ स्मृतियों के अनुसार तो ग्राम की समस्त शक्तियाँ सम्राट अथवा केन्द्रिय सरकार द्वारा प्रदान की जाती थीं, परन्तु यह अपवाद-सा प्रतीत होता है। वास्तव में ग्रामीण संस्थाएँ प्रारम्भ से ही आत्मनिर्भर एवं स्वतंत्र रूप से संगठित रही हैं। इसीलिए सत्ता परिवर्तन के बाद भी वे इसी रूप में बनी रही थीं; सम्राट द्वारा समय-समय पर उनसे सम्पर्क करने अथवा उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि ग्रामों की संस्थाएँ स्वतंत्र होती थीं और अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं। यह कहा जा सकता है कि समस्त राज्य के कार्य में संगति रखने के लिए अथवा केन्द्रिय राजाज्ञाएँ प्रसारित करने के लिये कुछ निर्देशात्मक नियन्त्रण अवश्य रखा जाता था। विशेषकर गामों के आय-व्यय का निरीक्षण केंद्र के अंकेक्षकों द्वारा अवश्य रखा जाता था। इसके अतिरिक्त दो या अधिक ग्रामों के मध्य किसी विवाद की उत्पत्ति पर केन्द्र का निर्णय ही अंतिम होता था। इस प्रकार केन्द्र का नियंत्रण किसी न किसी रूप में अवश्य रहा। फिर भी स्थानीय संस्थाओं की प्रशासनीय रूपरेखा पूर्णतया प्रजातन्त्रात्मक थी, जिसमें समस्त नागरिकों को समानता तथा स्वतन्त्रता के साथ भाग लेने का अवसर प्राप्त होता था। इन्हीं समानताओं

---

१ साउथ इण्डियन एपिग्राफी रिपोर्ट्स १६०० सं० ६४, ७७; १६०३ सं० २२३; १६०६ सं० २५७, ३५२।

२ डॉ० अल्टेकर—Village Communities—Page 45, 46.

३ उपरोक्त—पृष्ठ ४४।४५.

सर चार्ल्स मेटकाफ ने ये शब्द कहे थे "भारतीय ग्राम छोटे प्रजातंत्र हैं, जिनमें उनकी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तुएं उपलब्ध हैं और वे किसी भी प्रकार के बाह्य संबंधों से लगभग स्वतंत्र हैं। वे जहाँ अन्य कोई वस्तु स्थायी नहीं रहती, स्थायी प्रतीत होते हैं"। एक के उपरान्त दूसरे राजवंश नष्ट होते हैं विद्रोह के उपरान्त विद्रोह होते हैं......किन्तु ग्राम्य जीवन जैसा का तैसा बना रहता है......ग्राम्य-जातियों की इस एकता ने ही...मेरी धारणा में भारत के लोगों को ..बनाए रखने में सब कारणों से अधिक योग प्रदान किया है।....यही उनके द्वारा अधिकांश में दासता से मुक्ति तथा स्वतन्त्रता के उपभोग का कारण रहा है। १

उपर्युक्त समस्त वर्णन से यह धारणा बन ही जाती है कि इन स्वायत्त संस्थाओं पर केन्द्र का प्रभाव केवल पथप्रदर्शन एवं सामान्य निर्देशन की दृष्टि से ही थोड़ा बहुत था। वास्तविक अधिकार ग्राम्य संस्थाओं को प्राप्त थे और बहुत विस्तृत क्षेत्र में उदारतापूर्वक उनका उपयोग किया जाता था। गाँव की सुरक्षा, कर-संग्रह, राजस्व-संग्रह, विवाद-निर्णय, जनोपयोगी कार्य, आपत्ति निवारक शुल्क आदि, शिक्षा, पाठशालाओं की व्यवस्था, निर्धन आश्रम, अर्थव्यवस्था, देवालय संरक्षण आदि सभी आवश्यक कार्य ये संस्थाएं करती थीं। अतः यह सिद्ध होता है कि वर्तमान समय में, किसी भी राष्ट्र की स्थानीय संस्थाओं की अपेक्षा प्राचीन भारत की ये स्वायत्त संस्थाएं अधिक शक्तिशाली थीं। अब विकेन्द्रीकरण आदि की जो योजनाएं बनाई जा रही हैं, वे वास्तव में भारत के लिए नवीनता नहीं है। तत्कालीन स्थानीय संस्थाएं ग्राम्य निवासियों की हितरक्षा में बहुत सफल हुई थी। नैतिक, सांसारिक तथा बौद्धिक उन्नति के क्षेत्र में गांवों की उन्नति का समस्त श्रेय इन्हीं संस्थाओं को दिया जाता है। इस दृष्टि से आज भी भारतवर्ष को अपने अतीत से शिक्षा प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर है।

प्रश्न

1. "On the whole, Kautilya gives us a picture of a highly-organised system of administration under a powerful bureaucracy at the centre, though much scope was left for local self-government". Illustrate with reference to the central administrative machinery and local institutions.
2. Indicate the broad pattern of Village administration in ancient India. To what extent can it serve as a basis for the organisation of our villages at the present day ?

---

१ रिपोर्ट १८३२, भाग ३, पृष्ठ ३३२,

चौदहवाँ अध्याय

न्यायपालिका

(Judiciary)

प्रस्तावना:—भारतवर्ष में नियम एवं न्याय का सदैव ही उच्च स्थान रहा है। प्रत्येक स्मृति, शास्त्र, पुराण, वेद, वेदांग आदि नियम को समाज का आधार एवं न्यायपालिका को मानव के सब प्रकार के हितों का संरक्षक मानते हैं। वर्त्तमान समय में भी न्यायपालिका को नागरिकों के हित एवं राज्य के संविधान का संरक्षक माना जाता है परन्तु यह मान्यता नवीन नहीं है। प्राचीन भारतवर्ष में ये सिद्धान्त इतनी कुशलता के साथ व्यवहार में लाये जा चुके हैं, जिस सीमा तक अभी वर्त्तमान नियम व न्यायपालिकाएँ नहीं पहुँची हैं। आजकल धारा सभाओं एवं व्यवस्थापिकाओं ने अधिनियम बनाने का एकाधिकार सा मान लिया है। प्राचीन परम्पराएँ, अर्वाचीन आवश्यकताएँ तथा सामाजिक जीवन के शाश्वत एवं आधारभूत सिद्धान्त नियम-निर्माण में वह स्थान नहीं रखते, जो प्राचीन काल में उन्हें प्राप्त था। तत्कालीन परिस्थितियों से नियमों को धर्म की संज्ञा दी गई थी और ये धर्म लगभग इस प्रकार प्रयुक्त होते थे कि समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार इनका उचित प्रयोग सुगमता से सम्भव हो जाता था। धर्म का स्थान बहुत महत्व का था तथा उसका क्षेत्र भी व्यापक और विस्तृत माना गया था। समस्त हिन्दू दर्शन में धर्म का स्थान सर्वोच्च है। साधारणतया धर्म में धार्मिक, नैतिक एवं परम्पराओं के साधारण नियम सम्मिलित होते हैं। वर्त्तमान नियम अथवा अधिनियमों की अपेक्षा प्राचीन धर्म वास्तव में अधिक प्रभावशील एवं महत्व का था।

धर्म की व्याख्या:—"धर्म" शब्द की उत्पत्ति "धृ" धातु से हुई है, जिसका अर्थ है "धारण करना"। इस प्रकार धर्म का अर्थ उन सिद्धान्तों से है जो किसी भी उद्देश्य को धारण कर सके अर्थात् सुरक्षित रखकर निर्वाह कर सके। ऋग्वेद में धर्म का प्रयोग अधिकांश अधिनियम या नियम के अर्थ में हुआ है। उपनिषदों में धर्म की रचना के संबंध में कहा गया है कि धर्म "शक्ति की भी शक्ति और सत्ता की भी सत्ता" है। धर्म से बढ़कर विश्व में कोई चीज नहीं है। इसीलिए धर्म की सहायता से, निर्बल व्यक्ति भी बलवान् व्यक्ति पर शासन करता है। धर्म और सत्य दोनों समान हैं। इसलिए जब वह सच बोलता है तो धर्म और जब धर्म की अभिव्यक्ति करता है तो सच बोलता है।[1] इसलिए धर्म का स्थान सम्राट

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद्।

या क्षत्रिय की शारीरिक एवं सैनिक शक्ति से भी ऊपर माना गया है। धर्म की इस मान्यता का प्रभाव प्राचीन हिन्दू राजनैतिक विचारों में बहुत गहरा रहा है। धर्म का एक अर्थ "कर्त्तव्य" से भी लिया जाता था और धर्मशास्त्रों का यह आदेश था कि प्रत्येक वर्ण को अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। कौटिल्य ने धर्म के चार अर्थ बताये हैं-(१) धर्म अर्थात् चरित्र या सामाजिक कर्त्तव्य, (२) धर्म अर्थात् सत्य पर आधारित नीति, (३) धर्म अर्थात् राज्य के नियम (राजशासन) एवं (४) धर्म (व्यवहार) प्रमाणों पर आधारित। कौटिल्य के मतानुसार सफल सम्राट को धर्म का अनुसरण करना चाहिए। सम्राट ही धर्म का संस्थापक होता है और धर्म का उचित पालन उसे स्वर्ग का अधिकारी बनाता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सम्राट को छः प्रकार के व्यसनों, और काम, क्रोध लोभ, मद आदि पर नियंत्रण रखना चाहिए। कौटिल्य ने शांतिमय व्यवस्था करने के लिए चार साधन भी प्रस्तावित किये हैं, जो धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं अभिलेख कहे जाते हैं। अशोक ने इसी धर्म के आधार पर सम्राट के पद के लिए नया सिद्धान्त घोषित किया था जिसमें सम्राट को पिता एवं प्रजा को सन्तान के तुल्य समझना धर्म माना था और "सर्वभूतहिते रताः" का सिद्धान्त सम्राट के लिए आदर्श स्वीकार किया था। इस प्रकार प्राचीन काल में धर्म बहुत अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था।

धर्म का स्थानः—प्राचीन भारतवर्ष में धर्म को समाज में सार्वभौम माना जाता था। धर्म ही राज्य का नियम था और नियम ही राज्य में सर्वोपरि था। डॉ० वेनीप्रसाद के मतानुसार प्राचीन भारतवर्ष में सरकार आस्टिन के अर्थ में सार्वभौम नहीं होती थी, क्योंकि वह सरकार केवल प्रशासन करती थी और वह भी उन नियमों के आधार पर जिनमें संशोधन का अधिकार उसे प्राप्त नहीं था। वह सरकार केवल स्वीकृत नियमों का ही समाज के हित में पालन करती थी।१

डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार भी धर्म का अर्थ उन सब स्वीकृत मान्य परम्पराओं के योग से है, जिससे मानवमात्र का हित सुरक्षित होता है। डॉ० धावन का विचार है कि प्राचीन भारत में राज्य का कर्त्तव्य धर्म का संशोधन या परिवर्त्तन करना नहीं था वरन् धर्म का पालन करना था।२ डॉ० जायसवाल के मतानुसार मनु ने धर्म का ही वास्तविक सार्वभौम शासक स्वीकार किया है, सम्राट को नहीं।३ डॉ० राधाकुमुद के मत से हिन्दू दर्शन में धर्म ही राज्य का वास्तविक सार्वभौम था और धर्म का ही शासन था, उसका पालन करने के लिए सम्राट दण्ड का प्रतिनिधि था।४ इस प्रकार धर्म प्राचीन भारतवर्ष में नियम के स्थान पर बहुत महत्वपूर्ण माना गया है।

उपर्युक्त वर्णन के साथ ही आधुनिक समय में धर्म की प्रतिष्ठा के संबंध में कुछ शंकाएँ भी की जाती हैं। डॉ० वी. पी. वर्मा अपनी "Hindu Political Thought"

१ Dr. B. Prasad—Theory of Government in Ancient India-Page 9.
२ Dr. Dhawan—The Political Philosophy of Mahatma Gandhi.
३ Dr. Jayaswal—Hindu Polity-Page 323.
४ Dr. R. K. Mukerji—Chandragupta Maurya and His Times. Page 79.

नामक पुस्तक में यह व्यक्त करते हैं कि शुक्र, कौटिल्य आदि ने धर्म को कहीं भी राज्य का तत्व नहीं माना है। धर्म को "शक्ति की भी शक्ति" कहते हुए भी यह राजनैतिक क्षेत्र में केवल नैतिक सिद्धान्त ही रहा। व्यावहारिक जीवन में धर्म का उल्लंघन करने अथवा पालन न करने पर सम्राट पर कोई राजकीय दबाव नहीं था और ऐसी स्थिति में धर्म का पालन भी सम्भव नहीं था। इसलिए धर्म को राज्य की सार्वभौम सत्ता स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस संबंध में डॉ० वर्मा ने दो आधार प्रस्तुत किये हैं:-(१) ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन भारत के संबंध में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जब धर्म की आज्ञाएँ सर्वोपरि मानी गई हों। (२) यदि धर्म सार्वभौम था तो राज्य के सात तत्वों की भाँति यह भी राज्य के तत्वों में सम्मिलित होना चाहिए था। परन्तु धर्म वास्तव में केवल सम्राट पर एक नैतिक प्रभाव था, कोई वास्तविक प्रतिबन्ध नहीं।[१]

उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्राचीन भारतवर्ष में धर्म अथवा नियम वास्तव में सम्राट से ऊपर, सर्वोच्च शक्ति तथा सम्राटों का सम्राट और सर्वशक्तिमान् था। अर्थशास्त्र में यह संकेत किया है कि स्वेच्छाचारी सम्राट का सर्वनाश होता है।[२] इसका तात्पर्य है कि यदि सम्राट नियमों का पालन नहीं करेगा तो वह स्थिर नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में नियमों की सर्वोच्चता पर ही ध्यान आकर्षित किया है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो भारतवर्ष का सम्पूर्ण संगठन धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। चाहे साधारण स्वास्थ्य के नियम हों अथवा व्यक्तिगत जीवन से संबंधित सिद्धान्त अथवा पारिवारिक जीवन के प्रश्न, सब की व्याख्या धर्म की सहायता से, धर्म के के द्वारा ही की गई है। इसलिए धर्म के साथ, समाज की सबसे बड़ी सत्ता, लोकमत का सदैव सहयोग रहता था। आज बीसवीं शताब्दी में भी विश्व में धर्म का बहुत प्राधान्य है; तो तत्कालीन भारत में धर्म की मान्यता राज्य, सरकार और सम्राट से अधिक थी इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। अत: धर्म का स्थान प्राचीन भारतवर्ष में सर्वोत्कृष्ट माना जाना सर्वथा उचित है। इसलिए मनुस्मृति अर्थशास्त्र, महाभारत आदि में धर्म को सम्राट से ऊपर माना गया है। सम्राट भी नियम बनाता था, परन्तु वह केवल सहायक अथवा प्रक्रिया संबंधी नियमों की स्वीकृति होती थी। ऐसे नियम नहीं बना सकता था जो आधारभूत बन सकें अथवा उसे स्वेच्छाचारी बना सकें।[३] इस प्रकार धर्म अर्थात् नियम का स्थान वास्तव में सर्वोपरि था।

न्याय की धारणा (Conception of Justice) :—प्राचीन भारतवर्ष में न्याय की स्थापना करना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया था। शुक्रनीति के अनुसार यह "प्रतिपादित किया गया है कि न्याय की स्थापना करते हुए सम्राट को दुष्टों के लिए दण्ड की व्यवस्था करना चाहिए।" तथा व्यवहार (अभियोग) आदि का निर्णय सम्राट को लोभ और क्रोध से मुक्त रहते हुए मुख्य न्यायाधीश, अमात्य एवं ब्राह्मण और पुरोहित के साथ मिलकर

१ Dr. V. P. Varma—Hindu Political Thought, अनु० ३, पृष्ठ ८३ से १३८.
२ अर्थशास्त्र, भाग १, अनु० ३, पृष्ठ ११
३ Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page 324.

धर्मशास्त्रों के अनुसार करना चाहिए।"१ इस प्रकार न्याय सम्पादन सम्राट बहुत सावधानी एवं शास्त्र की आज्ञाओं के अनुसार करते थे। उस समय का न्याय पूर्ण रूप से धर्मशास्त्रों के नियमों पर आधारित था और तत्कालीन नियमों के स्रोत मुख्य रूप से वेद, तथा समस्त धर्मशास्त्र (Codes of Law) थे। धर्मशास्त्रियों ने नियम के आधारों, तत्कालीन परम्पराओं, रीति-रिवाज एवं रूढ़ियों आदि को ध्यान में रखकर नियमों का निर्माण किया था और उनका आधार वेदों को ही माना था। इसीलिए धर्मशास्त्र पवित्र एवं अनुकरणीय माने जाते थे। बहुत समय तक प्राचीन भारत के नियम परम्पराओं द्वारा ही सुरक्षित रहे। इसके विपरीत यह भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि प्राचीन काल में न्यायसम्पादन राज्य का कर्त्तव्य न माना जाता था।२ इसीलिए मनुस्मृति जैसे ग्रंथ यह स्वीकार करते हैं कि न्यायालय की स्थापना के पश्चात् भी पीड़ित व्यक्ति शक्तिप्रयोग, कुटिल चाल (छल) और धरना आदि साधनों का प्रयोग कर सकता है।३ नारद, प्रसिद्ध स्मृतिकार भी इसी प्रकार के विचारों से सहमत है। यह भी मान्यता दीर्घ काल तक रही थी कि हत्याएँ, राज्य विरुद्ध अपराध नहीं था वरन् एक साधारण अपराध था जिसके लिए हत्या होने वाले दल को मुआवजा (Compensation) दे देना पर्याप्त दण्ड था। परन्तु यह मान्यताएँ सदैव नहीं रहीं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतवर्ष में न्याय की धारणा बहुत उज्ज्वल और प्रशस्त थी।

कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के संबंध:—प्राचीन भारतवर्ष में राज्य के इन दोनों प्रमुख अंगों के सम्बन्ध बहुत अच्छे रहे हैं। फिर भी न्याय स्थापना की दृष्टि से न्यायपालिका को सदैव ही पृथक् समझा गया था। न्यायपालिका रूप, संगठन तथा अस्तित्व में स्वतन्त्र मानी गई थी (Independent in Form and independent in Spirit)। कुछ प्राचीन हिन्दू न्यायशास्त्र न्यायपालिका की इस स्वतन्त्र स्थिति के लिए निम्नलिखित आधार स्वीकार करते हैं:—

(१) न्यायाधीश के पद पर सामान्यतः अभिवक्ता (Lawyer) ही नियुक्त होते थे।

(२) साधारणतया यह नियम ही था कि अभिवक्ता ब्राह्मण ही होते थे।

(३) अपराध का दण्ड दो रूपों में दिया जाता था। एक तो दण्ड अपराध के लिए तथा दूसरा उस अपराध के कारण जो दुष्कर्म या पाप हुआ, उसके लिए। इस प्रकार पाप का दण्ड केवल ब्राह्मण न्यायाधीश ही निर्धारित कर सकते थे।

(४) ब्राह्मण अपराधियों को दण्डित करने के लिए राजा समर्थ नहीं माना गया था, ब्राह्मण न्यायाधीश ही आवश्यक था।

---

१ शुक्रनीतिसार—पृष्ठ २८३.

२ Dr. Altakar—State & Government in Ancient India-Page 240.

३ धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पंचमेन बलेन च ॥ मनु० अध्याय ८. श्लोक ४९.

उपर्युक्त आधारों में वे कारण भी सम्मिलित हो गए हैं जो ब्राह्मण न्यायाधीशों की नियुक्ति के आधार थे। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण लोगों के लिए यह भी मान्यता थी कि वे न्यायप्रिय होते हैं तथा किसी प्रकार के अनुचित दबाव अथवा प्रभाव में नहीं आते। इतिहास में ऐसे पर्याप्त उदाहरण हैं जब ब्राह्मण मन्त्री अथवा ब्राह्मण न्यायाधीशों ने विभिन्न अवसरों पर, शुद्ध न्यायोचित परामर्श देते हुए अथवा निर्णय घोषित करते हुए सहर्ष जनहित के लिए अपना पदत्याग कर दिया था। जातक ग्रंथों में भी ऐसे प्रसंग उपलब्ध हैं जहाँ पुरोहित ये सब कार्य करते थे और सम्राटों के प्रभाव में अनुचित रूप से नहीं आते थे। अतः यह स्पष्ट है कि न्यायपालिका और कार्यपालिका के मध्य संबंध तो था किन्तु न्यायपालिका अपने कार्य-क्षेत्र में स्वतंत्र थी।

न्याय सम्पादन प्रक्रिया:—प्राचीन काल की न्याय व्यवस्था पूर्ण रूप से वैज्ञानिक आधार पर संगठित थी। प्रत्येक साधन और प्रकार जो तत्कालीन समय में न्याय सम्पादन के लिए उपयोग में लाये जाते थे, यह सिद्ध करते हैं कि वह समाज बहुत उन्नत, सभ्य और न्यायप्रिय था और वर्त्तमान युग की संस्थाओं से सरलता के साथ तुलना योग्य भी। अब हम क्रमशः प्रत्येक प्रणाली का अध्ययन करेंगे।

(१) न्याय समिति पद्धति (Jury System):—प्राचीन वैदिक काल में न्यायालयों को सभा भी कहते थे। वास्तव में न्यायाधीशों की सहायता के लिए ये सभाएँ होती थीं जिनमें समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति होते थे। यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया था कि न्याय-सम्पादन में समाज को सहयोग करना चाहिए और इसीलिए यह सभा संगठित होती थी। डॉ० जायसवाल के मतानुसार यह सभा आधुनिक भाषा में न्याय समिति (Jury) थी, जो न्याय वितरण में सहायक होती थी। इस न्याय समिति के सदस्यों की संख्या सदैव विषम होती थी जिससे मतदान में सुविधा रहती थी। न्याय समिति के सदस्यों से धर्म के अनुसार सत्य-भाषण की अपेक्षा की जाती थी। जो न्याय समिति मौन रहती है अथवा धर्मानुकूल कार्य नहीं करती है, वह अनैतिक है।[१] न्याय समिति के कार्य आदि का विशद विवरण शुक्रनीतिसार में अच्छा दिया है। बृहस्पति सूत्र एवं नारदस्मृति में भी वर्णन मिलता है। इन ग्रंथों के अनुसार इस समिति (Jury) में सात, पांच अथवा तीन सदस्य संख्या होती थी।[२] वे लोग कार्यपरीक्षक (The examiners of the cause) एवं वक्ताध्यक्ष (President Speaker कहे जाते थे। मृच्छकटिक में न्यायाधीश के मुख से ये वाक्य

---

१ नारदस्मृति—प्रस्तावना III, 18 तथा *Dr. Jayaswal—Hindu Polity-Page* 325. (Foot Note)—"Either the Judicial Assembly must not be entered at all, or a fair opinion delivered. That man who, either stands mute or delivers an opinion contrary to justice is siner". Narad-Intro. III 10 (Jolly).

२ शुक्रनीतिसार—अनु० ४, ५-२६-१७="लोक वेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा।
तत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा॥
श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्त्तव्याः सुविचक्षणाः।

कहलाये गये हैं 'हम ही अपराध का प्रमाणित निर्णय करने योग्य हैं, शेष राजा के हाथ में है।'[१] अर्थात् इस न्याय समिति के निर्णय मान्य होते थे और सम्राट को निर्णय कार्यान्वित करने का अधिकार था। बृहस्पति के मतानुसार यह न्याय समिति का पृथक् क्षेत्र था (कर्म प्रोक्तम् पृथक् पृथक्) कि वह सत्य पर ध्यान दे अथवा उपस्थित विषय के किसी अन्य पक्ष पर। इस प्रकार न्यायाधीशों के निर्णय के पश्चात् भी न्याय-स्थापना की सुरक्षा का पर्याप्त साधन उपस्थित था। यह सिद्ध होता है कि प्राचीन न्याय व्यवस्था में आधुनिक युग के समान न्याय समिति को उचित एवं प्रमुख स्थान प्राप्त था।

(२) न्याय सम्पादन और सम्राट (King and Justice):—प्राचीन काल में सम्राट का स्थान प्रत्येक रूप में प्रमुख था और परिषद् में सम्राट-(King-in-council) मुख्य न्यायाधीश माना जाता था। फिर भी सम्राट स्वयं कोई अभियोग नहीं सुनता था। परिषद् में-सम्राट पुनर्प्रार्थना (अपील) के लिए सर्वोच्च न्यायालय होता था। नारदस्मृति, बृहस्पति तथा याज्ञवल्क्य आदि सब इस विचार का समर्थन करते हैं। राजतरंगिणी में ऐसा एक उदाहरण बहुत ही स्पष्ट है। सम्राट यशस्कर के न्यायाधीशों द्वारा निर्णय हो जाने के पश्चात् जब प्रार्थी सब जगहों से निराश हो चुका, तब उसने अपना सारा विषय सम्राट यशस्कर के सामने उपस्थित किया और सम्राट ने उसे सुना। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सम्राट द्वारा मौलिक अभियोग सुनने की प्रथा बहुत पहले नष्ट हो चुकी थी और इसीलिए ऐसे प्रसंग एव प्रमाणों का अभाव है। वास्तव में राजा को अकेले न्याय सम्पादन का अधिकार नहीं था। न्याय राजा के नाम से संपादित अवश्य होता था। सिद्धान्त रूप में न्यायालय की अध्यक्षता सदैव राजा द्वारा ही की जाती थी चाहे वह उपस्थित हो अथवा नहीं। न्यायालय से दिया हुआ निर्णय सम्राट की आज्ञा ही समझी जाती थी। जब किसी अपराधी या अभियोगी को आमंत्रित किया जाता था तो यही अर्थ होता था कि सम्राट ने उसे बुलाया है। इस प्रकार न्यायपालिका स्वतंत्र थी; किन्तु इस स्वतन्त्रता के कारण सम्राट की प्रतिष्ठा में किसी प्रकार की कमी नहीं होती थी।

(३) न्यायपालिका की विशेषताएँ:—प्राचीन काल में न्यायव्यवस्था में अन्य अनेक प्रमुख विशेषताएँ थीं। उनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं—

क—तत्कालीन न्यायपालिका सम्पूर्ण कार्य विवरण लेखरूप में सुरक्षित रखती थी, तथा निर्णय भी लेखबद्ध किये जाकर संगृहीत किये जाते थे। निर्णयों से संबंधित अन्य लेख, पत्र आदि भी सुरक्षित रखे जाते थे।

ख—न्याय खुले रूप में सम्पादित होता था, गुप्त रूप से नहीं और कभी एक न्यायाधीश द्वारा भी निर्णय नहीं दिया जाता था। निर्णय की प्रतिलिपियाँ दोनों दलों को दी जाती थी।

---

१ मृच्छकटिक—

आर्य चारुदत्त ! निर्णये वयं प्रमाणं, शेषे तु राजा। Act. IX।

ग—अभियोगों की संख्या का न्यूनाधिक होना न्याय की विशेषता एवं निर्बलता से संबंधित समझा जाता थ। यदि न्याय कुशलतापूर्वक प्रदान किया जायगा तो अभियोग कम होंगे और इसके विपरीत मुक़दमे बढ़ते जायेंगे यह मान्यता प्रचलित थी।

घ—शुद्ध न्याय (Purity of Justice) एवं नियम का शासन (Rule of Law) सर्वोच्च सामाजिक एवं राजनैतिक आदर्श स्वीकार किये गये थे। न्याय का वितरण वास्तव में निष्पक्ष रूप में होता था। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहां पूर्ण निष्पक्षता के द्वारा निर्णय दिए गए हैं। सुदत्त के विरुद्ध राजकुमार जेता[१] का विवाद एक ऐसी ही घटना है। सुदत्त एक साधारण नागरिक (गृहपति) था। वह अनाथों के प्रति बहुत सहानुभूति रखता था, अतः सम्मानित समझा जाता था। जेता राजकीय घराने से संबंधित था। राजकुमार जेता के अधिकार में नगर के निकट ही एक उद्यान था। उदार सुदत्त ने इस उद्यान को क्रय करने का विचार किया। यह राजकुमार के पास गया। उसने कहा कि मैं इसे आराम (Rest-House) बनाना चाहता हूं। राजकुमार ने कहा—"आर्यपुत्र (अय्यपुत्त), यह उद्यान उस समय तक नहीं विक्रय किया जा सकता, जब तक एक के पास एक मुद्रा रखकर करोड़ों मुद्राओं से समस्त उद्यान आच्छादित नहीं हो जाता।" इस पर सुदत्त ने उत्तर दिया "यह मूल्य देना स्वीकार है, मैं उद्यान को क्रय करता हूं।" इसके बाद राजकुमार इस विनिमय को अस्वीकार करना चाहते थे। तब दोनों निर्णय के लिये न्यायाधीश के सम्मुख उपस्थित हुए। न्यायाधीशों ने सारी बातें सुनकर निर्णय किया कि राजकुमार ने जो मूल्य निश्चित किया था, जब वह सुदत्त दे रहा है तो उद्यान दिया जाना ही चाहिए। राजकुमार ने विनम्रतापूर्वक निर्णय स्वीकार किया। इस निर्णय में विनिमय के सिद्धान्त, न्यायाधीश की स्वतन्त्रता अथवा प्रक्रिया की ही प्रधानता नहीं है, किन्तु एक साधारण दानशील नागरिक की अपने गुरु के प्रति समर्पण की भावना भी प्रधान तत्व है (सुदत्त, बुद्ध के आगमन पर उनके विश्राम के लिए यह उद्यान चाहता था)। प्राचीन भारत के न्याय सम्बन्धी अनेक उदाहरणों में से यह भी एक ज्वलन्त उदाहरण है। उस समय राजकीय परिवार और साधारण नागरिक, नियमों के समक्ष समान समझे जाते थे।

ङ—प्राचीन काल में भी न्याय क्षेत्र में आने वाले दल प्रश्निन (Plaintiff), अभिप्रश्निन (Defendant), तथा मध्यमसि (Arbitrator) कहलाते थे। इसका तात्पर्य है कि न्यायपद्धति पूर्ण विकसित थी। प्रत्येक दल का तकनीकी नाम स्वीकृत था तथा पंच-फैसला अथवा मध्यमसि के द्वारा भी विवाद सुलझाने की प्रथा भली भाँति प्रचलित थी।

च—न्याय-समिति (Jury System) प्रथा भी पूर्ण रूप से व्यवहार में आती थी, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

छ—न्याय सम्पादन के समय अपराध का रूप, उद्देश्य (ध्येय), अवस्था (वय) तथा अपराधी की सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) ध्यान में रखी जाती थी। प्राचीन काल में जाति के अनुसार दण्ड की व्यवस्था थी। ब्राह्मण की हत्या के लिए १००० गाय,

---

१. Dr. Jayaswal—Hindu Polity-Page 327.

क्षत्रिय की हत्या के लिए ५०० गाय, वैश्य की हत्या के लिए १०० गाय तथा शूद्र की हत्या के लिए केवल १० गाय का दण्ड दिया जाता था। १

ज—विभिन्न अभियोगों में साक्षी अपर्याप्त होने पर परीक्षा-प्रणाली (Ordeal system) भी अपनाई जाती थी। स्मृतियों में ऐसे प्रसंग बहुत हैं। अग्नि-परीक्षा का विवरण अधिकांश पढ़ने-सुनने को मिलता रहता है। इसके अनुसार अभियुक्त को निरपराधी सिद्ध होने के लिए लोहे का गर्म गोला अपने हाथ में लेकर सात कदम चलना पड़ता था। इसके बाद गोला फेंक दिया जाता था और हाथों को कपड़ा आदि लगाकर बाँध दिया जाता था। तीन दिन बाद पुनः प्रस्तुत होने पर यदि हाथ ठीक रहते तो उसे निरपराधी' घोषित कर दिया जाता था, अन्यथा 'दोषी' ठहराया जाकर दण्डित किया जाता था। इसी प्रकार जल-परीक्षा, विष-परीक्षा, भार-परीक्षा आदि भी प्रचलित थी। २

झ—प्राचीन काल में अभिवक्ता (Pleader) साधारणतया नहीं थे जो विभिन्न दलों की ओर से न्यायालय में प्रस्तुत होते हों; किन्तु कुछ विद्वान यह मानते हैं कि मनु ने 'विप्र' शब्द का प्रयोग अभिवक्ता के लिए ही किया है। नारदस्मृति की असहायकृत मीमांसा में ऐसा उदाहरण अवश्य है जहाँ शुल्क प्राप्त कर एक अभिवक्ता ने दूसरे दल की ओर से न्यायालय में उपस्थित होकर विवाद (Arguments) प्रस्तुत किया था। उस अभिवक्ता का नाम स्मार्त दुर्धर था। उसने एक व्यक्ति को ऋण न चुकाने के लिए प्रोत्साहित कर यह कहा था कि यदि तुम मुझे एक सहस्र ड्रामा (तत्कालीन मुद्रा का नाम) फीस रूप में दो तो मैं न्यायालय से तुम्हें ऋणमुक्त करवा लूँगा। शुक्रनीतिसार में भी न्यायालय में अपना मान्य प्रतिनिधि भेजने की प्रथा का प्रसंग मिलता है और उस प्रतिनिधि का शुल्क भी ६ प्रतिशत से ½ प्रतिशत तक स्वीकार किया गया था। विवादग्रस्त सम्पत्ति जितनी अधिक होती, शुल्क उसी अनुपात से कम होता जाता था। ज्यों-ज्यों न्याय अधिक विस्तृत, व्यापक और तकनीकी बनता गया, अभिवक्ताओं का प्रवेश व प्रसार भी बढ़ता गया। परन्तु फिर भी आजकल की भाँति अभिवक्ताओं की बहुत बड़ी संख्या उस समय नहीं थी। केवल कुछ लोग, जो स्मृतियों के पूर्ण ज्ञाता थे, उन्हें ही यह कार्य सौंपा जाता था। राज्य की ओर से उन्हें कोई मान्यता अथवा स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य नहीं था।

इस प्रकार ये विशेषताएँ प्राचीन भारत की न्याय प्रणाली को एक विकसित प्रणाली सिद्ध करने में सहायक हैं।

न्यायमन्त्री एवं मुख्य न्यायाधीश:—डॉ० जायसवाल के मतानुसार न्यायमन्त्री को 'प्राड्विवाक' कहा जाता था और वह दो रूपों में काम करता था। प्रथम तो वह मुख्य न्यायाधीश होता था तथा द्वितीय रूप में वह न्याय-मंत्री भी।३ न्याय-मंत्री के रूप में वह विधि-मंत्री (Minister of Law) का कार्य भी करता था और मंत्रियों में उसका पद बहुत

१ Dr. Altekar—State & Government in Ancient India-Page 251.

२ उपरोक्त—पृष्ठ २५३.

३ डॉ० जायसवाल—Hindu Polity पृष्ठ ३२६.

महत्व का माना जाता था। मंत्रि परिषद् में प्रतिनिधि प्रधान, सचिव, मंत्री के पश्चात् विधि एवं न्याय मंत्री का पद होता था। राज्य के सर्वोच्च न्यायालय की अध्यक्षता न्याय मंत्री मुख्य न्यायाधीश के रूप में करता था। इसीलिए इसे 'प्राड्विवाक' (First Judge) कहा जाता था। न्यायमन्त्री के रूप में यह न्याय समिति के बहुमत से प्रक्रिया के नियम सम्राट की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता था। शुक्रनीतिसार में यह वर्णन बहुत सुन्दरता से किया गया है। तदनुसार न्यायालयों के समक्ष साक्षी, प्रलेख, शपथ, परीक्षा तथा अन्य साधनों जैसे प्रत्यक्ष साक्षी (Direct evidence), अनुमान (Inference), उपमान (Analogy) आदि का उपयोग किया जाता था।

विधि मंत्री के रूप में उसे "धर्माधिकारी" तथा शुक्र नीति के अनुसार 'पण्डित' भी कहा जाता था। इस रूप में वह नियमों को विश्लेषण तथा उनकी उपयोगिता पर विचार करने के पश्चात् सम्राट की स्वीकृति और अस्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता था।[१] यह प्रसंग यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारत की नियम प्रणाली अवश्य सुधारों का सदैव स्वागत करती थी। साधारणतया हिन्दुओं के नियम परम्परागत माने जाते थे तथा परिवर्तन को अच्छा नहीं माना जाता था। परन्तु फिर भी शुक्रनीति का प्रसंग यह सिद्ध करता है कि भारतीय नियम प्रणाली नियमों को सदैव समयानुकूल बदलने में समर्थ थी। इसलिए समय-समय पर नियम प्रत्यक्ष-विधि-निर्माण द्वारा, साधारणतया व्याख्या (Interpretation) द्वारा और यदा कदा प्राचीन ऋषियों के नाम पर रचित कृतियों द्वारा समयानुकूल बने रहते थे। लोकेच्छा का भी नियम परिवर्तन अथवा नियम निर्माण में बहुत प्रभाव रहता था। इस प्रकार न्याय एवं विधि मंत्री अपने पद से संबंधित कार्य जनता के हित के लिए करने में सदैव व्यस्त रहता था।

न्यायालयों के प्रकारः—डॉ राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार प्राचीन भारतवर्ष में न्यायालयों की एक क्रमिक शृंखला थी जिसमें धर्मस्थीय (Civil), कण्टकशोधन (Criminal), ग्रामन्यायालय एवं न्याय की अन्तिम संस्था सर्वोच्च न्यायालय तथा परिषद्युक्त सम्राट (King in-council) मुख्य थे।[२] इनमें दीवानी, फौजदारी तथा धर्म न्यायालय भी सम्मिलित थे। डॉ० अल्टेकर के मतानुसार न्यायालयों का संगठन निम्न प्रकार से किया गया था।

१. अधीनस्थ राजकीय न्यायालय Subordinate Royal Courts)—ये न्यायालय अधिकांश प्रदेशों के मुख्य कार्यालयों के साथ स्थापित होते थे, जैसे स्थान ८०० ग्रामों की संगठन की इकाई, द्रोणमुख (४०० गाँवों का संगठन) एवं खरवाटिका जिसका संगठन द्रोणमुख से आधा होता था। ये न्यायालय राजा की मुद्रा द्वारा राजा के नाम पर न्याय

---

१ वर्त्तमानाश्च प्राचीना धर्म्माः के लोकसंश्रिताः।
शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना॥
लोकशास्त्रविरुद्धाः के पण्डितस्तान् विचिन्त्य च।
नृपं संबोधयेत् तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः॥ शुक्रनीति—पृष्ठ ९९-१००

२ Dr. R. K. Mukrerji—Studies in Ancient Hindu Polity.

सम्पादित करते थे, इसलिए बाद के युग में इन्हें 'मुद्रिता' भी कहा गया है। नारदस्मृति के अनुसार इनके अतिरिक्त मण्डल न्यायालय (Circuit Courts) भी होते थे। मौर्यकाल में इन प्रान्तीय न्यायालयों में तीन न्यायाधीश और तीन सहायक न्यायसदस्य Jurors) होते थे। उस समय राजकीय कर्मचारी अधिक प्रभावशाली नहीं हो सकते थे। यह न्यायप्रणाली भारत के प्राचीन समय में लगभग निरन्तर चलती रही।

लोकप्रिय न्यायालय (Popular Courts)—उपर्युक्त न्यायालयों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में लोकप्रिय न्यायालय भी बहुत थे और यह प्राचीन न्यायालय प्रणाली की विशेषता थी। वैदिक काल में "सभा" एक ऐसी ही संस्था थी। गांवों में सीमा-विवाद तथा मन्दिर, ब्राह्मण, साधु, स्त्रियाँ, अल्पवयस्क, वृद्ध तथा अपंग व्यक्तियों के वाद धर्मस्थ (Unofficial Jurors) न्यायालय द्वारा निर्णीत होते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार लोकप्रिय न्यायालय तीन प्रकार के थे—

(१) पूग (२) श्रेणी, तथा। (३) कुल।१

वृहस्पति के मतानुसार कुल न्यायालय की अपील श्रेणी में तथा श्रेणी न्यायालय की अपील पूग न्यायालय में होती थी। कुल न्यायालय में वे ही लोग सम्मिलित होते थे जो किसी न किसी प्रकार कुल से सम्बन्धित होते थे।२ यह न्यायालय एक व्यावहारिक संस्था के रूप में था। जब कुल न्यायालय का निर्णय असन्तोषप्रद होता था, तब वाद श्रेणी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत होता था। ये श्रेणी न्यायालय व्यावसायिक संगठनों की संस्था थी, जो ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से भारतवर्ष में बहुत प्रधान बन गये थे। बौद्ध ग्रंथ तथा महाभारत में भी इनका उल्लेख मिलता है। श्रेणी में चार या पांच सदस्यों की कार्यकारिणी समिति होती थी और वही न्यायालय का कार्य भी करती थी। ये संस्थायें १८वीं शताब्दी तक महाराष्ट्र में कार्य करती रही हैं, इसके प्रमाण उपलब्ध हैं।

पूग-न्यायालय ऐसा संगठन था जिसमें विभिन्न जाति एवं व्यवसायों के ऐसे लोग सम्मिलित होते थे जो उसी नगर के निवासी हों। प्राचीन काल की "सभा" इसी प्रकार की संस्था प्रतीत होती है। तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित "ग्राम्यवादी" संभवतः इसी ग्राम न्यायालय 'पूग' का सदस्य होता होगा। महाराष्ट्र में कुछ समय पश्चात् यही पूग न्यायालय गोट न्यायालय के नाम से प्रसिद्ध हो गये। सर हेनरी मेन का मत है कि ये समस्त लोकप्रिय न्यायालय भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना तक कार्य करते रहे और इसी कारण ग्राम स्तर पर कोई राजकीय न्यायालय कार्य नहीं कर सके। राजकीय न्यायालय की व्यवस्थित स्थापना होते ही ये पंचायत न्यायालय समाप्त ही हो गए। प्राचीन काल में राज्य की यह स्पष्ट नीति रहती थी कि ये न्यायालय कार्य करते रहें और इनके निर्णयों का पालन होता रहे। राज्य का पूर्ण सहयोग इन्हें प्राप्त होता था। याज्ञवल्क्य के मतानुसार ये न्यायालय सम्राट

---

१ नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेण्यो यः कुलानि च। II ३६ (याज्ञवल्क्य)

२ जातिसम्बन्धिबंधूनां समूहः। मिताक्षरा। as quoted by Dr. Altekar on Page 247. F. Note.

द्वारा मान्यता प्राप्त होते थे। मध्यकाल में अनेक उदाहरण हैं जब राजाओं ने सीधा कोई भी अभियोग सुनना अस्वीकार कर दिया, शिवाजी, राजाराम, साहू आदि ऐसे ही शासक हुए हैं। बीजापुर का शासक इब्राहीम आदिल भी इसी प्रकार सीधा अभियोग नहीं सुनता था। इसका तात्पर्य है कि शासक इन लोकप्रिय ग्राम न्यायालयों की प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहते थे।

ग्राम न्यायालयों की प्रतिष्ठा बनाये रखना, सैद्धान्तिक रूप में बहुत सुन्दर वस्तु थी। स्वायत्त शासन की भावना प्रेरित करने के लिए, केंद्र का प्रशासनीय भार कम करने के लिए, तथा न्याय की सुगमता व सरल रूप में प्राप्ति की दृष्टि से यह अत्युत्तम सिद्धांत था। इन न्यायालयों के अधिकार (न्याय) क्षेत्र की कोई सीमाएं निर्धारित नहीं थीं। गंभीर अपराधों से लेकर साधारण अपराधों तक का निर्णय ये ही न्यायालय कर सकते थे। इसके पश्चात् क्रमशः उच्चतर न्यायालयों में पुनर्प्रार्थना के लिए क्षेत्र था ही।

हिन्दू न्याय शास्त्र के अनुसार प्राचीन भारत में निम्नलिखित आधारभूत सिद्धांत स्वीकार किये ये थे:—

(१) न्याय प्रक्रिया सदैव स्वतंत्र वातावरण में हो, गुप्त नहीं।

(२) अभियोग क्रमानुसार लिये जाकर समाप्त किये जायं।

(३) न्याय प्राप्ति में विलम्ब की निन्दा की गई थी।

(४) कार्यपालिका न्यायपालिका से पृथक् थी व हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी।

(५) न्यायाधीशों से निष्पक्ष रहने की अपेक्षा की जाती थी तथा अभियोग काल में वे दोनों पक्षों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रख सकते थे।

(६) फौजदारी अभियोगों में क्रिया के ध्येय (Intention) पर विचार किया जाता था।

(७) अपराध के लिए प्रोत्साहन (Abetment), (धन, शस्त्र अथवा भोजनादि की सहायता द्वारा) देना भी दण्डनीय अपराध माना गया था।

(८) अभियुक्त दबाव, आत्मरक्षा तथा अल्पायु को स्वरक्षा के लिए आवश्यक सिद्ध करता हुआ यत्न कर सकता था। अल्पायु के लिए कुछ लोग ८ वर्ष, कुछ १५ वर्ष तक की अवस्था मानते थे।

(९) सन्देह का लाभ सदैव अभियुक्त को प्राप्त होता था।

(१०) दण्ड विधान समयानुकूल सरल एवं कठिन था। अर्थदण्ड, कारावास, वनवास, अंगभंग तथा मृत्युदण्ड उस समय प्रचलित थे।

अर्थदण्ड, सबसे अधिक लोकप्रिय था। कारावासियों से अधिकांश जन-मार्गों पर कार्य कराया जाता था। अंगभंग का दण्ड अधिकांश चोरों को दिया जाता था। वनवास का दण्ड विशेषाधिकारप्राप्त लोगों को दिया जाता था और मृत्युदण्ड अधिकतर हत्यारे, देश-द्रोही, डाकू अथवा चरित्रहीनों को दिया जाता था। अपराधी के सम्बन्धियों को अनावश्यक रूप से कोई पीड़ा नहीं पहुंचाई जाती थी।

न्यायिक प्रक्रिया (Judicial Procedure):—सर्वप्रथम प्रार्थी (वादी) प्रार्थना-पत्र लिखता था, जिसमें उसे अपने अधिकार एवं वाद को संक्षेप में प्रस्तुत करना पड़ता था। उसके बाद प्रार्थनापत्र में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं होता था। तब प्रतिवादी को सूचना द्वारा आमन्त्रित किया जाता था। और तत्सम्बन्धी लिखित प्रलेख आदि भी प्रस्तुत करने को कहा जाता था। अभियुक्त अपराध स्वीकार या अस्वीकार कर सकता था . अथवा स्थगन आदेश (estoppel) या निर्णीत तथ्य (res judicate) का सहारा (Plead) ले सकता था। प्रार्थनापत्र तथा लिखित वक्तव्य पर विचार कर लेने के पश्चात् न्यायाधीश दोनों दलों को साक्षी प्रस्तुत करने के लिए आमन्त्रित करता था। साक्षी मौखिक अथवा प्रलेख रूप में (Documentary) हो सकती थी। प्रलेखों के रूप में साक्षी अधिक प्रभावशाली होती थी। दीवानी अभियोगों में आधिपत्य का प्रभाव भी माना जाता था। जब सब प्रकार की साक्षी खत्म हो जाती थी और निर्णय सम्भव नहीं होता था, तब परीक्षा प्रणाली (Ordeal System) का पालन होता था। यह प्रक्रिया धर्मस्थीय (Civil) और कण्टकशोधन (Criminal) दोनों प्रकार के न्यायालयों में लगभग समान रूप से कार्यान्वित होती थी। न्यायालयों के क्षेत्र पृथक् पृथक् थे। श्री नरेन्द्रनाथ ला के मतानुसार धर्मस्थीय न्यायालयों के क्षेत्र में निम्नलिखित विषय सम्मिलित थे —

(१) संविदा (Contracts)।

(२) स्वामियों के अधिकार एवं कर्तव्य।

(३) सेवकों के अधिकार और कर्तव्य।

(४) दास प्रथा।

(५) ऋण।

(६) क्रय एवं प्रथमाधिकार (Pre-emption)।

(७) भेंट एवं उपहार।

(८) डकैती।

(९) आक्रमण (Assault)।

(१०) अपयश (Defamation)।

(११) स्वामित्व के अधिकार।

(१२) सीमा-विवाद।

(१३) भवन एवं उनका स्थान निर्धारण।

(१४) उपज, चरागाह एवं मार्गों की क्षति।

(१५) विवाह एवं दहेज।

(१६) सहकारिता के कार्य।

(१७) उत्तराधिकार, आदि आदि।[१]

---

१ N. N. Law—Studies in Ancient Hindu Polity-PP. 119, 120.

कण्टकशोधन न्यायालयों के क्षेत्र में निम्नलिखित विषय सम्मिलित थेः—

(१) नागरिकों तथा व्यापारियों की रक्षा।
(२) अवांछनीय लोगों का दमन।
(३) गुप्तचरों द्वारा अपराधियों का पता लगाना।
(४) सन्देहात्मक या वास्तविक अपराधियों को बन्दी बनाना।
(५ शव परीक्षा।
(६) राज्य के विभिन्न विभागों में अनुशासन।
(७) अंगभंग, अपराध के लिए दण्ड।
(८) मृत्युदण्ड की व्यवस्था।
(९) बलात्कार, आदि आदि।

प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो व्यक्ति साक्षी के लिए उपस्थित होते थे, उनके लिए यह धारणा थी कि वे भविष्य में प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं और इस संसार में अपार यश के भागी होते हैं। वास्तव में अभियोग में सत्य की खोज की जाती थी। न्यायालय के सम्मान की रक्षा के लिए कुछ ऐसे व्यवहार भी दण्डनीय माने गये थे जो न्यायालय के समक्ष अनुचित हों। उदाहरणार्थः —

(१) प्रश्न का उत्तर सीधा और स्पष्ट न देना।
(२) वक्तव्य में अन्तर होना।
(३) सम्बन्धित प्रश्नों का निरन्तर उत्तर न देना।
(४) अप्रासंगिक वक्तव्य।
(५) अपने ही साक्षी के वक्तव्य को अस्वीकार करना।
(६) गुप्त रूप से बिना आज्ञा साक्षी से वार्तालाप करना।
(७) निश्चित समय में अपना अभियोग सिद्ध न कर सकना।
(८) अवांछनीय वक्तव्य, आदि आदि।[१]

निम्नलिखित व्यक्ति साक्षी रूप में उपस्थित नहीं किये जा सकते थे :—

साला, बहनोई, मित्र, बन्दी, साहूकार, ऋणी, शत्रु, पराधीन, दण्डित, सम्राट, श्रोत्रिय, ग्राम-सेवक, कोढी, जाति-निष्कासित, चांडाल, घमण्डी, स्त्रियां, राज्य-कर्मचारी, साधु, हस्तसामुद्रिक-विशेषज्ञ, लुटेरे, ठग आदि।

न्यायाधीश के गुणः—यद्यपि प्राचीन भारतवर्ष में न्यायपालिका स्वतंत्र थी और उसमें कार्यकारिणी का हस्तक्षेप नहीं था, तथापि शुद्ध न्याय सम्पादन के लिए न्यायाधीश का स्वतन्त्र, निर्भीक तथा स्पष्टवक्ता होना आवश्यक माना जाता था। मृच्छकटिक के अनुसार न्यायाधीश विद्वान्, बुद्धिमान्, वक्ता, गम्भीर और निष्पक्ष होना चाहिए। उसे पूर्ण जानकारी

१ अर्थशास्त्र—भाग ३-खण्ड १।

प्राप्त कर लेने के पश्चात् विचारपूर्वक निर्णय घोषित करना चाहिए। उसे निर्बल का संरक्षक एवं दुष्टों के लिए आतंकपूर्ण होना चाहिए। उसे हृदय शांत, मस्तिष्क केवल न्याय और सत्य पर केन्द्रित तथा स्वयं को सम्राट के क्रोध से परे रखना चाहिए। शुक्रनीति के अनुसार सम्राट का यह कर्त्तव्य स्वीकार किया गया है कि ऐसे न्यायाधीश, जो भय, लोभ अथवा क्रोध के कारण बिना विचारपूर्वक निर्णय करते हैं, उन्हें आदर्श दण्ड मिलना चाहिए।[१] इस प्रकार न्यायाधीशों में उपर्युक्त गुण तथा कर्त्तव्यपरायणता आवश्यक समझी गई थी और शुद्ध न्याय व्यवस्था के लिए यह अनिवार्य स्थिति थी।

उपसंहार:-उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में नियम और न्याय की पूर्ण व्यवस्था थी तथा न्याय की धारणा बहुत स्पष्ट एवं व्यापक थी। नियम की पवित्रता का सदैव ध्यान रखा जाता था। धर्मशास्त्रों में ये नियम सुरक्षित रहते थे और समय, स्थिति एवं आवश्यकतानुसार उनका संशोधन, परिवर्त्तन भी होता रहता था। न्यायालय आवश्यकतानुसार जातिधर्म (rules of castes), जनपदधर्म (local customs), श्रेणीधर्म (bye-laws of guilds), कुलधर्म (family traditions) का भी पालन करते थे।[२] इसके अतिरिक्त नियमों को समयानुकूल बनाने के लिए एक सचिव को पूर्ण रूप से उत्तरदायी माना जाता था। रीति-रिवाजों पर आधारित होते हुए भी प्राचीन भारत के नियम प्रगतिशील रहते थे। ब्राह्मणों अथवा क्षत्रियों द्वारा उनके स्वार्थ सुरक्षित नहीं बनाये जाते थे, वरन् जनहित तथा समाज कल्याण की व्यवस्था के लिए सिद्धान्त स्वीकार किये जाते थे। अतः भारत की नियम-प्रणाली एवं न्याय व्यवस्था जड़ नहीं, जीवित थी, जो न सम्राट की इच्छा से और न विधानसभा के प्रस्तावों से, वरन् मन्थर गति से होने वाले समाज के मूलभूत परिवर्त्तनों एवं संशोधित रीति-रिवाजों के साथ गम्भीर विचारपूर्वक समयानुकूल रूप धारण करती थी।

प्रश्न

1. Describe the organization of the judiciary in ancient India.
2. Explain the approach to law and Government as embodied in the Manu-Smriti.

   How does it compare with the modern approach ?

---

१ शुक्रनीतिसार—(As quoted by Dikshitar-Page 229.

२ जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्। मनुस्मृति VII, 41.

पन्द्रहवाँ अध्याय

कर-सिद्धान्त

(Principles of Taxation)

प्रस्तावना:—भारतवर्ष में प्राचीन काल से यह उक्ति लोकप्रिय रही है कि कंचन सब गुणों से युक्त होता है।[१] राज्य भी इस सिद्धान्त में अपवाद नहीं है। प्रत्येक राज्य की समृद्धि और स्थिरता उसकी अर्थ-व्यवस्था पर ही निर्भर करती है। राज्य के प्रशासन का मूल आधार यही अर्थ-व्यवस्था होती है। प्राचीन भारत में यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया था; किन्तु वास्तविक महत्व भी उस समय इसी को दिया गया था। राज्य की धारणा के सप्तांग सिद्धान्त में 'कोष' एक महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया गया था। वास्तव में कोष का अभाव अथवा निर्बलता राज्य की स्थिति को निर्बल बना देती है और राज्य की समृद्धि उसको सुदृढ़ बना देती है। इसलिए प्राचीन काल में सम्राट हर प्रकार से राज्यकोष को पूर्ण रखने का यत्न करता था। उस समय कोष की निर्बलता भयंकर राष्ट्रीय आपत्ति समझी जाती थी। इस विषय में अर्थशास्त्र,[२] महाभारत[३] तथा कामन्दक[४] आदि सभी एकमत हैं। इसलिए कर देना जनता का प्रमुख कर्त्तव्य समझा जाता था। कर के संबंध की धारणाएँ, प्रकार, सिद्धान्त आदि पर प्राचीन भारतवर्ष में विशद विचार किया गया था और वे सिद्धान्त कुछ सीमा तक आज भी व्यवहार्य हैं, अतः उनका अध्ययन परमावश्यक है।

कर का महत्व:—राज्य की दृष्टि से कोष का पूर्ण होना, एक अनिवार्य स्थिति होती थी; किन्तु नागरिक द्वारा कर देने की दार्शनिक पृष्ठभूमि भी पर्याप्त रूप में विकसित थी। प्राचीन भारतीय लेखों के मतानुसार यह मान्यता थी कि जो सम्राट अपनी प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता था, अपने कर्त्तव्य के लिए पारिश्रमिक का अधिकारी भी होता था और यह धनांश जो सम्राट को शांति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए मिलता था, उसे 'कर' की संज्ञा दी गई थी। महाभारत में इस संबंध में बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। 'मन्दु' जो प्रथम शासक था, उसे सुरक्षा के उपलक्ष्य में जनता ने, प्रति ५० गायों के क्रय या विक्रय पर एक गाय, स्वर्ण का पचासवां भाग, अनाज का दसवां भाग, आदि देना

---

१ सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।

२ कोशमूलाः कोशपूर्वाः सर्वारम्भाः तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षेत। अर्थशास्त्र II 2.

३ कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत्। महाभारत XII ११९, १६.

४ कोशमूलो हि राजेति प्रवादः सार्वलौकिकः। कामन्दक XIII, ३३.

स्वीकार किया था । यह द्रव्य पा लेने पर जन-सुरक्षा का भार सम्राट पर होता था, और इसमें असफल होने पर सम्राट को पदच्युत करना या दूसरे का निर्वाचन संभव माना गया था। शांतिपर्व के अनुसार छः प्रकार के व्यक्तियों को छोड़ देना चाहिए:—

१. वह अध्यापक जो अध्यापन नहीं करता है,
२. वह ब्राह्मण जिसे वेदों का ज्ञान नहीं है,
३. वह शासक जो सुरक्षा स्थापना में असमर्थ है,
४. वह धर्मपत्नी जो स्नेही जीवनसाथी न हो।
५. वह ग्वाला जो नगर में रहने की अभिलाषा करता हो और
६. वह नाई जो जंगल में रहना चाहता हो (अर्थात् जो संसार त्यागकर साधु बनकर जंगल में जाना चाहता हो।

वैदिक साहित्य में कर संबंधी प्रसंग बहुत कम हैं। संभवतः उस समय सम्राट के अधिकार इस क्षेत्र में बहुत सीमित, यदा-कदा और अनिश्चित रहे होंगे। उस समय 'बलि' शब्द प्रचलित था जिसका अर्थ है स्वेच्छा से दी हुई भेंट या उपहार। यह अधिकांश देवताओं को प्रसन्न करने के लिए दी जाती थी; किन्तु बाद में यही प्रथा सम्राट के संबंध में भी कार्यान्वित होने लगी। धीरे-धीरे इन प्रथाओं में परिवर्त्तन हुआ। वैदिक काल में ब्राह्मण वेदों का अध्ययन करते थे, क्षत्रिय रक्षा करते थे, और शूद्र निर्धन होते थे। केवल वैश्य वर्ग व्यापार में व्यस्त रहते थे, इसलिए वे लोग कर अधिक देते थे।[१] परन्तु अन्य वर्ग भी सामर्थ्य के अनुसार कर देते थे। कृषक एवं पशुपालक भी कर देते थे। कृषक अपनी उपज का कुछ भाग देते थे और पशुपालक, जो तत्कालीन समाज में अधिक महत्वपूर्ण थे, अपनी आय का कुछ भाग देते थे। वे मुख्यतया गाय, बैल अथवा घोड़ों के रूप में कर चुकाते थे और उनके पशुओं का कुछ भाग राज्य का ही समझा जाता था।[२] इसके अतिरिक्त सम्राटों को अपने अधीन शासकों से भी कुछ आर्थिक योग (Tribute) प्राप्त होता था। राज्य का कोष परिपूर्ण करने के लिए ये सारे साधन बहुत नियमित तथा सुगम थे। हॉपकिन्स के मतानुसार ये कर बहुत स्वेच्छाचारी, कुचलने वाले और जनता को पीस देने वाले थे।[३] किन्तु यह दृष्टिकोण सर्वथा अनुचित है। अर्थशास्त्र, स्मृतियाँ एवं धर्मसूत्र इस संबंध में पूर्ण दर्शन तथा करों की मान्यता की पृष्ठभूमि प्रकट करते हैं। उसका अध्ययन करने पर यह भ्रम कि प्राचीन भारत में कर पीस देने वाले थे, दूर हो जाता है। अतः कर संबंधी धारणा का अध्ययन अनिवार्य है।

कर-संबंधी धारणाएँ:—प्राचीन भारत में कर-संबंधी सिद्धान्त एवं धारणाएँ अत्यन्त महत्व की थीं। वैधानिक दृष्टि से कर नियमों द्वारा निश्चित एवं निर्धारित होते थे

---

१ अन्यस्य बलिकृत । A. B. VII. 29. as quoted by Dr. Altekar--State and Government in Ancient India-Page 257.

२ एनं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु । A. V., IV—उपरोक्त । पृष्ठ २५८.

३ "Taxation in the Vedic-Period was oppressive and grinding." Hopkins-India Old and New—Page 240.

और धर्मशास्त्रों में उनका उल्लेख होता था। इसलिए राज्य का प्रकार अथवा राजाओं का व्यक्तित्व कर-संबंधी विषयों में कोई परिवर्त्तन नहीं कर सकता था। राजा और प्रजा में करके विषय में कोई विचार-भेद भी उत्पन्न नहीं होता था। इस प्रकार 'कर' के सिद्धान्त संवैधानिक नियमों के रूप में निर्धारित एवं सुरक्षित थे। महाभारत में यह कहा गया है कि धर्मविरुद्ध कर लगाने वाला शासक स्वयं अपने नाश के बीज बोता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण भी हैं, जहाँ इन सिद्धान्तों का उल्लंघन करने के प्रयास असफल रहे हैं। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्त मौर्य भविष्य में युद्ध करने के लिए कुछ धन संग्रह करना चाहता था, परन्तु अपने महासचिव कौटिल्य सहित यथासंभव प्रयत्न करते हुए भी सफल नहीं हो सका। चन्द्रगुप्त ने दूसरे साधनों से धन एकत्र किया, मंदिरों से सहायता माँगी, जनता से 'प्रणय' (Token of affection) रूप में धन मांगा, ८ करोड़ हल्के सिक्के चलाए, किन्तु करों में कोई परिवर्त्तन नहीं कर सका। इससे यह सिद्ध होता है कि नियमों की प्रतिष्ठा थी और शासक किसी भी परिस्थिति में स्वेच्छाचारिता द्वारा करवृद्धि नहीं कर सकता था। इस प्रकार निर्धारित नियमों के विषय में उस समय कुछ प्रमुख सिद्धान्त प्रचलित थे, जो निम्नलिखित हैं:—

(१) **कर–सम्राट का वेतन** (वेतन सिद्धान्त)—राज्य के विभिन्न नियमों द्वारा जो कर निर्धारित किये जाते थे, वही सम्राट का वेतन होता था। राजा समाज की सेवा करता था, सुरक्षा की व्यवस्था करता था, इसीलिए वह वेतन का अधिकारी होता था। यह वेतन उसे विभिन्न करों के संग्रह के रूप में प्राप्त होता था। महाभारत के अनुसार बलि का छठा भाग, शुल्क अपराधियों से आर्थिक दण्ड एवं उनकी सम्पत्ति के राज्यीयकरण (Forfeiture) आदि जो धर्मानुसार संग्रह किये जाते थे, सम्राट का वेतन ही होता था।[१] नारद स्मृति के अनुसार भी कर, सम्राट का वेतन ही होता था, इसलिए राज्य में सब प्रकार के शुल्क तथा उपज का छठा भाग, सम्राट को वेतन रूप में प्राप्त होता था जो जनता की सुरक्षा एवं व्यवस्था के लिए उसे पुरस्कारस्वरूप प्राप्त होता था। यही सिद्धान्त कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी प्रतिपादित किया है।

(२) **कर-संबंधी दैवी सिद्धान्त:**–प्राचीन भारत में राजनैतिक दार्शनिकों ने उपर्युक्त वेतन-सिद्धान्त को और भी विकसित किया था और अन्त में इसे दैवी सिद्धान्त का रूप दे दिया था (Divine Theory of Taxation)। शुक्रनीतिसार के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया है कि भगवान (ब्रह्मा) ने सम्राट का सृजन इस प्रकार से किया है कि वह स्वामी के रूप में प्रजा के निरन्तर पालन व विकास की व्यवस्था करता रहे और दास के रूप में करों द्वारा वेतन प्राप्त करता रहे।[२] अर्थात् इस दासयुक्त स्वामी का वेतन दैविक सत्ता द्वारा निर्धारित किया गया था। वह इससे अधिक नहीं ले सकता था, क्योंकि उसे ऐसा अधिकार नहीं

---

१ बलिपष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥ महाभारत, शांतिपर्व—अध्याय ५१-१०,

२ स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा॥ शुक्रनीतिसार I, पृष्ठ १८८

था। साथ ही प्रजा पर, जो वास्तव में स्वामी थी, यह दायित्व था कि वह राजा को 'स्वभाग'-निर्धारित कर देकर उसकी रक्षा करे।

यहाँ इस प्रसंग पर विचार करना सर्वथा उचित होगा कि मनुस्मृति के अनुसार दैवी-सम्राट के समक्ष आत्मार्पण की नीति का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु प्राचीन भारत में ऐसा सिद्धान्त जो शासक को स्वेच्छाचारी बनने के लिये प्रेरणा दे, कभी सह्य नहीं हुआ। अतएव ऐसे अवसर पर मानवों के गुरु मनु के सिद्धान्त अस्वीकार कर, असुरों के गुरु शुक्र के सिद्धान्त स्वीकार किये जाते रहे हैं।

प्रथम सिद्धान्त (वेतन सिद्धान्त) राज्य के सामाजिक जीवन में बहुत प्रभावशाली रहा है। यदि राजा आंशिक रूप में भी अपना कार्य करने में असफल होता था तो उसे क्षति के अनुपात का द्रव्य लौटाने को बाध्य होना पड़ता था तथा उसे किसी न किसी रूप में क्षति पूर्ति करनी ही होती थी। महाभारत में कर्त्तव्यपालन में असफल रहने वाले शासक को क्षतिग्रस्त जलयान (Ship which leaks) की उपमा दी गई है, जिसमें रहना भयानक होता है। अथवा जंगल में जाने वाले नाई के समान है, जिस पर विश्वास नहीं किया। जा सकता। इसी प्रकार अपने कर्त्तव्यपालन में असफल शासक भी परित्याग के योग्य है। यह धारणा कर-सिद्धान्तानुसार उचित ही थी, जहां कर राजा का वेतन होता था और राजा सुरक्षा की व्यवस्था करने के पुरस्कार रूप में वेतन ग्रहण करता था।

कर-संग्रह के सिद्धांत (Canons of Taxation)—प्राचीन भारत में कर-संग्रह के लिए कुछ स्वीकृत एवं मान्य सिद्धांत थे, जिनका पालन अवश्यम्भावी था। जनता से कर लेने का मुख्य उद्देश्य यह था कि संगृहीत-संपत्ति के बल पर राज्य में ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे कृषि, समाज-कल्याण, समृद्धि एवं विकास निरन्तर होता रहे। इसलिए इन करों में मुख्य भाग सम्राट के लिए होता था और भूमि की उपज का निश्चित भाग उसे प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त बाजार के व्यापार में जो लाभ होता था, उसका दशांश अथवा परिस्थिति के अनुसार निश्चित भाग सम्राट को मिलता था। मनुस्मृति, आपस्तम्ब तथा बौद्धायन आदि इस विषय में एकमत हैं।१ राज्य का कोष परिपूर्ण करने के लिए शुल्क आदि अन्य साधन भी प्रचलित थे और इस क्षेत्र में प्रारम्भ में शासकों को पर्याप्त स्वतंत्रता भी थी, किन्तु बाद के धर्मशास्त्रों में इस क्षेत्र को भी राजाओं के लिए मर्यादित कर दिया था। फिर भी लालची या आकांक्षी शासकों के लिए पूरे बन्धन नहीं लगाये जा सके। उदाहरणार्थ, नन्द राजाओं ने धन संग्रह के लिए चर्म या बालों वाले चमड़े पर भी कर लगा दिये थे। अर्थशास्त्र में यह प्रसंग आता है कि हिमालय के देशों और मगध साम्राज्यों में चर्म व्यापार बहुत विकसित हो गया था।२

कर-संग्रह का कार्य शासक का प्रधान कार्य था, इसलिए जितनी बुद्धिमानी और सावधानी से यह कार्य किया जाता था उतना ही राजा और प्रजा के लिए श्रेयस्कर माना

---

१ डॉ० जायसवाल—Hindu Polity Foot Notes· Page 336.

२ उपरोक्त।

जाता था। उस समय कर-संग्रह तथा कर-निर्धारण के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर एवं उपयोगी सिद्धांत स्वीकृत किये गये थे। उनमें से मुख्य मुख्य निम्नलिखित हैं:—

(१) महाभारत में यह कहा गया है कि सम्राट को अधिक तृष्णा करके अधिक कर-संग्रह के द्वारा अपनी एवं दूसरों की नींव निर्बल नहीं बनानी चाहिए।१

(२) जनता पर इस प्रकार कर लगाया जाय कि वह भविष्य का कर-भार वहन करने के लिए और भी दृढ़ होती जाय और यदि आवश्यकता हो तो उससे भी अधिक कर देने की क्षमता बढ़ती जाय। महाभारत में यह प्रसंग बड़ी सुन्दर उपमा द्वारा स्पष्ट किया गया है। लिखा है—हे भारत! यदि बछड़े को दूध पीने दिया जाय तो वह सशक्त बनता जाता है और अधिक पीड़ा और भार सह सकता है। इसलिए शासक को यह सिद्धांत ध्यान में रखकर कर-दोहन करना चाहिए। अधिक दुग्ध-दोहन से बछड़ा निर्बल हो जाता है और अन्त में स्वयं स्वामी को हानि होती है।२

(३) महाभारत के अनुसार तीसरा सिद्धांत यह था कि महत्वपूर्ण एवं बड़े कार्य वह राज्य कर सकता है, जहां सामान्य कर-संग्रह किये जाते हों। अत्यधिक कर-संग्रह करने वाले राज्य द्वारा यह सम्भव नहीं होता। जहां देश की सुरक्षा एवं प्रशासनीय संगठन मितव्ययता के आधार पर व्यवस्थित हैं, वहां स्वाभाविक रूप से महत्वपूर्ण एवं विशाल कार्य सम्पादित हो सकते हैं।३ अपव्यय करने वाले शासक का जनता द्वारा भी विरोध किया जाता था। ऐसा राजा अतिखादी अर्थात् अधिक खाने वाला समझा जाता था।४ (Eating too much).

(४) महाभारत के अनुसार कर-संग्रह इस प्रकार किया जाना चाहिए कि कर-दाता उसे भार अनुभव न करें। शासक को इस सम्बन्ध में बागवान या मधुमक्खी की तरह से कार्य करना चाहिए जो पौधों को बिना पीड़ा पहुंचाये फल, फूल या मधु इकट्ठा करते हैं।५

---

१ नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया। महाभारत, १२वाँ अध्याय, ८७-१८।

२ वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना।
भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत॥
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर।
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्॥ महाभारत XII, 87, 20, 21. Translated as—
"If calf is permitted to suck is grows strong, O Bharata, and can bear (heavy weight) and Pain". Overnuilching is to weaken the calf & consequently harms the nuilcher himself—Dr. Jayaswal-Hindu Polity Page 339.

३ यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृपः।
संजातमुपजीवन्स लभते सुमहत् फलम्॥ महाभारत XII 41, 22

४ प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्। उपरोक्त XII 87, 19.

५ मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्। उपरोक्त XII 88, 4.

(५) राज्य को जब कर-वृद्धि करनी हो तो मन्थर गति से उस समय करनी चाहिए जब जनता की समृद्धि भी क्रमशः अग्रसर हो रही हो और मृदु-पद्धति का अनुसरण करना चाहिए ताकि किसी प्रकार का विरोध न हो।[१]

(६) कर-संग्रह के लिए उचित स्थान, उचित समय और उचित प्रकार आदि बातों का भी ध्यान रखना अत्यावश्यक है।[२] कर-संग्रह का कार्य कभी भी दुःखदायक नहीं होना चाहिए। महाभारत में लिखा है कि गाय को दोहना चाहिए किन्तु उसके स्तनों को कष्ट देना उचित नहीं।[३] (Milch the Cow but do not bore the udders)।[४]

(७) राज्य के विभिन्न क्षेत्रों से कर-संग्रह के विभिन्न सिद्धांत थे। औद्योगिक क्षेत्र में उद्योग-कर के लिए महाभारत में लिखा है कि उत्पादन, श्रम तथा लाभ की सम्भावनाओं को देखकर ही कर निर्धारित किया जाय।[५] अन्यथा श्रम, सम्पत्ति तथा अन्य आवश्यक तत्वों का ध्यान न रखने पर कर की अधिकता के कारण व्यवसाय को क्षति हो सकती है और अन्त में सम्राट को भी हानि होने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक क्षेत्र में कलाकृतियों के सम्बन्ध में कर-नीति का उदार होना अनिवार्य है। कलाकार के जीवन-स्तर, सामग्री-व्यय आदि अन्य तत्वों पर भी विचार करना आवश्यक है।[६]

(८) आयात और निर्यात के सम्बन्ध में महाभारत में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है कि आयात पर उनके मूल्य, प्राप्तिस्थान की दूरी, आयात-व्यय आदि का ध्यान रखकर कर निर्धारित करना चाहिए। राज्य के लिए हानिकारक या निष्फल वस्तुओं का आयात कर-नीति द्वारा ही निरुत्साहित करना चाहिए, जिससे राज्य का धन व्यर्थ की वस्तुओं पर नष्ट न हो और उपयोगी वस्तुओं के लिए बचत हो सके।[७] यही सिद्धांत मनुस्मृति द्वारा भी इसी प्रकार से उल्लिखित किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में आयात नीति तथा कर-नीति का बहुत गहरा सम्बन्ध था और राज्य पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात् इसे निश्चित करता था।

महाभारत में वर्णित सिद्धांतों के अतिरिक्त मनुस्मृति, अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीतिसार में भी कर-संग्रह के लिए विभिन्न सिद्धांत दिये गये हैं। उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं:—

---

१ अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्। ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत्॥
दमयन्निव दम्यानि शश्वद्भारं विवर्धयेत्। मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत्॥ महाभारत 7, 8.

२ न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत्। आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथा कालं यथाविधि॥ उपरोक्त

३ वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्। उपरोक्त XII 88, 4.

४ Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page 337.

५ फलं कर्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत्।
फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित्संप्रवर्तते॥ महाभारत XII 87, 16,

६ उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत्।
शिल्पं प्रति करानेवं शिल्पिनः प्रति कारयेत्॥ उपरोक्त XII 87, 14.

७ विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्। योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान्॥ उपरोक्त 87, 13 = तथा मनुस्मृति–सप्तम अध्याय पृष्ठ १२७।

(१) व्यावसायिक वस्तुओं पर कर निर्धारित करने के लिए उत्पादन से उत्पादक को स्वयं तथा राज्य को क्या लाभ होता है। इस तत्व को ध्यान में रखना चाहिए। यह सिद्धांत समस्त औद्योगिक क्षेत्र के सम्बन्ध में व्यवहार्य होना चाहिए।१

(२) मनुस्मृति के अनुसार राजा को चाहिए कि क्रय, विक्रय, मार्ग-व्यय, भत्ता, रक्षा आदि का व्यय, दुकान, मकान आदि का व्यय सब बातों पर विचार कर व्यापारियों से कर प्राप्त करे।२ जैसे जोंक, बछड़ा और भौंरा अपने भक्ष्य पदार्थ में से थोड़ा-थोड़ा खाते हैं तैसे राजा भी देश से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर प्राप्त करे। पशुओं के और स्वर्ण के व्यापार में जो लाभ हो उसमें से पचासवां भाग, अन्न के लाभ में से आठवां, छठा अथवा बारहवां भाग कर-रूप में प्राप्त करे। वृक्ष, मांस, शहद, घी, सुगन्धित पदार्थ, औषध, रस, फूल, मूल, फल पत्र, शाक, तृण, चर्म तथा बांस के बने हुए पदार्थ और मिट्टी, पत्थर के पात्रों के साथ में से छठा भाग कर प्राप्त करे। राजा को चाहिए कि धन के अभाव में म्रियमाण होने पर भी वेदपाठी ब्राह्मण से कर न ले, उसके राज्य में श्रोत्रिय-ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित भी नहीं होना चाहिए।३ मनुस्मृति में आगे यह भी व्याख्या की गई है कि शिल्पियों से तथा दूसरे लोगों से किस प्रकार कितना कर संग्रह करना चाहिए और इस कार्य में राजा और प्रजा के बीच परस्पर प्रेम का प्रदर्शन होना चाहिए।

(३) अर्थशास्त्र के अनुसार लाभदायक आयात कर से मुक्त होना चाहिए तथा हानिकारक आयातों को अत्यधिक आयात कर लगाकर रोकना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो दुर्लभ वस्तुएं हैं तथा भविष्य में जो राष्ट्र के लिए उत्पादक सिद्ध हो सकती हैं; उन्हें कर-मुक्त कर देना चाहिए।४

(४) अर्थशास्त्र के अनुसार कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जिनका निर्यात नहीं होना चाहिए, वरन् कर-मुक्ति द्वारा उनके आयात को प्रोत्साहित करना चाहिए। उदाहरणार्थ; शस्त्र, कवच, लौह, रथ, रत्न, धान्य, पशु, आदि।५ इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुएं ऐसी भी थीं; जैसे सुरा, विदेशी वस्तुएं आदि। जिन पर कर लगाने के बजाय सहायता पहुंचाने के सिद्धांत का अनुसरण किया जाता था। वास्तव में कर लाभ पर लिया जाता था, मूल सम्पत्ति पर नहीं। आर्थिक व्यवस्था को स्थिर बनाने के लिए यह अनिवार्य था कि उद्योग में वृद्धि करने वाली वस्तुओं का आयात प्रोत्साहित किया जाय एवं हानिकारक वस्तुओं के आने को सम्भवतः स्थगित कर दिया जाय।

---

१ मनुस्मृति—अध्याय सप्तम, श्लोक १२८, १२९.
२ उपरोक्त—श्लोक १२७।
३ उपरोक्त—श्लोक १२८ से १३३।
४—अर्थशास्त्र—द्वितीय भाग-श्लोक २१ व २४ :—
"राष्ट्रपीड़ाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यादफलं च यत्।
महोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद्बीजं तु दुर्लभम्॥ (२१)।
५ शस्त्र-वर्म-कवच-लौह-रथ-रत्न-धान्य-पशूनामन्यतममनिर्वाह्यम्—अर्थशास्त्र–भाग २, श्लोक २१।

(५) शुक्रनीति के अनुसार एक ही वस्तु पर एक से अधिक बार कर नहीं लगाना चाहिए।१

उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में कर-पद्धति बहुत ही सामान्य, उचित एवं ठोस सिद्धांतों पर आधारित थी। वर्तमान अर्थशास्त्रियों की भाषा में उस समय के अर्थ सम्बन्धी नियमों के निर्माताओं के सामने कर-दाताओं की योग्यता तथा उन पर न्यूनतम भार रखने आदि के तत्वों का पूर्ण महत्व होता था।२ भूमि-कर सबसे अधिक महत्व का स्रोत था और उत्पादन के अनुपात से निर्धारित किया जाता था। अन्य प्रमुख साधन विशेष तौर पर व्यापार, यातायात, खानें, नमक, शुल्क, नौकाशुल्क, अर्थदण्ड, तथा वन-उत्पादन आदि थे। इसके अतिरिक्त जनता द्वारा वैकल्पिक अनुदान, दान तथा स्वामी-विहीन सम्पत्ति भी राज्य की आय के साधन थे। धातुओं और खानों का राज्य एकाधिकारी था। कौटिल्य के मतानुसार निम्नलिखित साधनों से भी राज्य की आय एकत्रित की जा सकती थी:—

कर-संग्रह अधिकारी ग्रामीणों तथा नागरिकों से किसी विशेष व्यवसाय के नाम पर जो वास्तव में विद्यमान नहीं हो, धन संग्रह कर सकता है। इस कार्य में कुछ लोगों से जो विश्वस्त हों खुले रूप में बहुत बड़ी धन-राशियां अन्नदान के रूप में ली जा सकती हैं, जिससे कि दूसरे प्रजाजन सम्पत्ति-योग देने में संकोच न करें। गुप्तचरों द्वारा यह प्रचार करवाया जाय कि कम सम्पत्ति देने वाले बाद में पश्चात्ताप करेंगे तथा सम्पत्तिशालियों से सामर्थ्य के अनुसार अधिक से अधिक स्वर्ण देने की प्रार्थना करें। जो लोग सम्राट को सम्पत्ति द्वारा सहयोग देंगे, वे सम्मानित किये जायेंगे। गुप्तचर मन्दिरों आदि संस्थाओं का धन भी राज्य के लिए एकत्रित कर सकते थे। ऐसे मृतकों की सम्पत्ति जिसको ब्राह्मण भी उपयोग में न ला सकें, काम में ली जा सकती थी। धार्मिक संस्थाओं के अधीक्षक भी राज्य के समस्त बड़े-बड़े नगरों के देवताओं की सब प्रकार की सम्पत्ति को राज्य के कोष के लिए एकत्र कर सकते थे। कभी अचानक रात्रि को किसी देवता की स्थापना, यज्ञ की वेदी, अथवा साधुओं के लिए किसी पवित्र स्थान की स्थापना अथवा किसी अशुभ शकुन की निवृत्ति आदि के लिए भी भेंट तथा आपत्ति-निवारण के लिए जनता से धन एकत्रित किया जा सकता था। कभी यह घोषणा करके कि सम्राट के उद्यान में अचानक एक वृक्ष के समय से पूर्व फल और फूल उत्पन्न हुए हैं या यह असत्य प्रचार करके कि नगर के किसी वृक्ष में किसी दुष्टात्मा का निवास है (जबकि वास्तव में किसी आदमी को छुपाकर विभिन्न प्रकार के उपद्रव कराये जावें)। गुप्तचरों द्वारा साधुवेश में सम्पत्ति इकट्ठी कराई जा सकती थी। या यह प्रचार करके कि एक अनेक मुंह वाला सर्प दिखाया जायगा—उसे देखने के हेतु जनता से धन संग्रह किया जा सकता था। अथवा गुप्तचर, स्वर्णकार एवं व्यापारियों से उनके व्यवसाय में भागीदार बनकर उनकी अनुचित आय को राज्य में ला सकते थे। वेश्या-गुप्तचर सती स्त्री के रूप में चरित्रहीन व्यक्तियों को जाल में फंसाकर उनकी सम्पत्ति का अपहरण कर सकते थे, या दो विग्रही दलों में

१ वस्तुजातस्यैकवारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः। शुक्र—चतुर्थ अध्याय २।
२ बनर्जी—Public Administration in Ancient India. Page 180.

एक को विषपान कराकर दूसरे पर विष देने का अभियोग लगाकर सब की सम्पत्ति राज्य के लिए प्राप्त की जा सकती थी।[१] इस प्रकार कौटिल्य द्वारा राज्य का कोष पूर्ण रखने के लिए जो साधन प्रतिपादित किये गये है वे अनुचित एवं अनैतिक प्रतीत होते हैं। डा० जोशी का मत है कि कौटिल्य ने कर संग्रह के जो साधन बताये हैं, वे धर्मशास्त्रों के विरुद्ध, अनैतिक एवं अनुचित हैं। किन्तु श्री दीक्षितार का मत है कि ये कर, यद्यपि धोखे से संग्रह किये जाते थे तथापि अनेक कारणों से इन्हें अनुचित नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, कौटिल्य का ग्रंथ राजतंत्र पर व्यावहारिक नियमावली के रूप में है। इसलिए आवश्यकतानुसार कर संग्रह के प्रकार साधारण स्थिति में अनुचित प्रतीत होते हुए भी अत्यन्त आवश्यकता की स्थिति में उचित सिद्ध होते हैं। दूसरे दान अनुदान लेना, दानशील संस्थाओं के दुरुपयोग में आने वाले धन को प्राप्त करना, जनता से मनोरंजन द्वारा, दुश्चरित्रों से दण्ड द्वारा धन एकत्रित करने के साधन अनुचित नहीं हो सकते और वे भी गम्भीर आवश्यकता के समय। तीसरे, यज्ञ, दुष्टात्मा की घोषणा आदि के द्वारा भी जनता का मनोरंजन ही होता था। चौथे, स्वर्णकार तथा इसी प्रकार के अन्य व्यवसाय वाले लोग अनुचित एवं अशुद्ध ढंग से धनोपार्जन करते हैं। मनु ने ऐसे लोगों को दिन के ठग कहा है। कौटिल्य भी इस अनुचित धन से उन व्यक्तियों को वंचित करने के लिए इस प्रकार के साधन प्रस्तावित करता है, जो उचित ही था। पांचवें कौटिल्य के समय की परिस्थिति में ये साधन अनुचित नहीं कहे जा सकते। ऐसे लोगों को दण्डित किये बिना राज्य में शांति एवं सुरक्षा सम्भव नहीं थी। मनु ने भी ऐसे लोगों को राज्य के मार्ग में कांटे बताया है, जिन्हें किसी भी मूल्य पर दूर करना चाहिए।[२]

इस प्रकार कौटिल्य द्वारा प्रस्तावित सिद्धांत इस आधार पर उचित माने जा सकते हैं कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है, अथवा "आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति।" फिर कौटिल्य ने स्वयं यह लिखा है कि उपाय केवल दुष्ट एवं आचारभ्रष्ट लोगों के प्रति व्यवहार में लाये जायं, दूसरे लोगों के प्रति कदापि भी नहीं। वास्तव में यह उपाय नियम नहीं, अपवाद थे।

राज्य द्वारा संग्रहीत सम्पत्ति का व्यय दो रूपों में किया जाता था। प्रथम, नित्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तथा दूसरे, जनसेवा के उन कार्यों के लिए जो दीर्घकाल में जाकर लाभदायक होने वाले हैं। शुक्रनीतिसार के अनुसार यह व्यय दो नामों से पुकारा जा सकता था, एक, सामान्य व्यय तथा दूसरा, उत्पादक-व्यय (Ordinary Consumption & Productive Consumption)। पहले प्रकार के व्यय में [illegible], रनिवास का व्यय, भोजनालय, ईंधन, पान, चिड़ियाघर, सेना, मधुशाला आदि सम्मिलित होते थे। दूसरे प्रकार के व्यय में वे कार्य सम्मिलित होते थे, जो थोड़े समय बाद राज्य के लिए विशेष आय के साधन बन जाते थे—जैसे सिंचाई आदि।

---

१. अर्थशास्त्र—पृष्ठ २७१-२७६।

२. दीक्षितार—Hindu Administrative Institutions—Pages 181-184.

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजनीति में कर सिद्धांत स्वीकार किये गये थे। यदि सम्राट सुरक्षा नहीं कर सकता था तो उसे कर-संग्रह का अधिकार भी नहीं था। कुछ लोग सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं मानवीय आधारों पर कर से मुक्त किये जाते थे। जनता का धन जनता के हित के लिए ही उपयोग में लाने का एक माना हुआ सिद्धांत था। इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत के राज्य वास्तव में लोक-कल्याणकारी राज्य की विशेषताओं से युक्त थे।

प्रश्न

1. Comment upon the sources of revenue and principles of taxation in ancient India.

सोलहवां अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(Inter State Relation)

प्रस्तावना:—यह वर्णन पहले किया जा चुका है कि राज्य की धारणा में सात अंग सम्मिलित होते हैं और मित्र उनमें से एक है। अन्य अंगों मे स्वामी (Sovereign) भी महत्वपूर्ण अंग हैं। जिस प्रकार आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों में राज्य की सार्वभौमिकता एक स्वीकृत सिद्धान्त है और उसके समस्त आंतरिक एवं बाह्य रूपों का विश्लेषण किया जाता हैं, उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी यह तत्व पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया था। निकटस्थ एवं दूरस्थ देशों में से मित्र राज्यों को राज्य का आवश्यक अंग माना जाता था और राज्य की सार्वभौम सत्ता की मान्यता भी हर प्रकार से पूर्ण थी। प्रत्येक राज्य आंतरिक रूप में तो स्वतन्त्र होता ही था, बाह्य रूप में भी उसका स्वतन्त्र होना अनिवार्य था। इसी स्थिति का स्पष्टीकरण उस सिद्धान्त से होता है जिसे प्राचीन काल में "मण्डल सिद्धान्त" (Theory of circle of states) कहा जाता था। इसे प्रभाव मण्डल Sphere or Influence) स्वातन्त्र्य सिद्धान्त (Doctrine of Independence, स्वराज्य या अपराधीनत्व का सिद्धान्त), अथवा हित-सिद्धान्त (Doctrine of Interst or Enterprize) भी कहा जाता था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सार्वभौमिकता उस समय तक पूर्ण नहीं मानी जाती थी जब तक भीतरी एवं बाहरी रूप से विद्यमान न हो। साथ ही राष्ट्रीय परिवार में प्रत्येक देश के संबंध भी बहुत महत्वपूर्ण समझे जाते थे। उन्हीं को निर्धारित करते हुए यह मण्डल सिद्धान्त-प्रतिपादित हुआ था वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में यह हिन्दुओं के शक्ति-संतुलन (Balance of Power) के सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप था। इस सिद्धांत की व्याख्या अर्थशास्त्र, महाभारत, मनुस्मृति, कामन्दक तथा शुक्रनीतिसार आदि सभी प्राचीन ग्रंथों में की गई है। प्राचीन भारत में अनेक स्वतन्त्र राज्य विद्यमान थे और उनके परस्पर संबंध अधिकांश मण्डल सिद्धान्त की दिशा में संचालित होते थे।

प्राचीन अंतर्राष्ट्रीय संबंध:–डॉ० अल्टेकर के मतानुसार प्राचीन भारत में विभिन्न देशों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन दो भागों में बाँटा जा सकता है:—(१) युद्धकालीन संबंध एवं (२) शांतिकालीन संबंध।[१] वास्तव में युद्ध और शांति के समय में विभिन्न राष्ट्रों के बीच संबंधों में परिवर्तन तो होता है, परन्तु इस प्रकार का स्पष्ट विभाजन फिर भी संभव नहीं

---

१ डॉ० अल्टेकर—State and Government in Ancient India-Page 286.

होता। प्राचीन भारत में वैदिक काल में ये संबंध अधिकांश शांतिमय थे; क्योंकि उस समय राज्य अधिकांश प्रारम्भिक रूपों में ही संचालित हो रहे थे। परस्पर प्रतिस्पर्धा के कारण कभी-कभीसंघर्ष हो जाते थे। उत्तरवैदिक काल में भी राज्यों के आकार-प्रकार एवं कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं हुए थे। धर्म और संस्कृति राज्यों के जीवन में प्रधान रहती थीं। वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों की परम्परा प्रचलित हुई, जिससे एक राज्य अपना बड़प्पन स्थापित कर अधीनस्थ क्षेत्रों की सीमाएँ निर्धारित करता था। जब किसी सम्राट या राजा की सेनाएँ दृढ़ एवं साम्राज्य समृद्धिशाली होता था तब वह अपने विस्तार की योजना बनाता था। युद्धसंबंधी वर्णन करते हुए मनुस्मृति में लिखा है कि जब अपनी सेना को मन से प्रसन्न और अन्न से पुष्ट समझे तथा शत्रु की सेना को उसके विपरीत समझे; तब शत्रुओं के ऊपर चढ़ाई करे।[१] इस प्रकार प्राचीन धर्मशास्त्रों में भी समय और स्थिति के अनुसार विस्तार करना न्यायोचित समझा गया था। युद्ध का पूर्ण रूप से त्याग संभव नहीं समझा गया था। यद्यपि अशोक आदि हिन्दू सम्राटों ने ऐसे प्रयोग किये हैं; किन्तु राज्य की सुरक्षा के लिए सैनिक तैयारी सदैव आवश्यक रहती थी। इसी दृष्टि से प्राचीन भारत में समस्त क्षत्रिय वर्ग को यही कार्य सौंपा गया था और वे सदैव युद्ध के लिए सन्नद्ध रहते थे।[२] इस स्थिति का पूर्ण अनुभव करने के पश्चात् ही प्राचीन भारतीय दार्शनिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि पूर्ण रूप से युद्ध का परित्याग तो नहीं किया जा सकता, पर उसकी संभावना को न्यूनतम बनाया जा सकता है। इस उद्देश्य से विभिन्न राज्यों के बीच न्यायिक शक्ति-संतुलन की दृष्टि से धर्मशास्त्रों ने मण्डल सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। प्राचीन भारतीय शासक जैसे आंतरिक शांति चाहते थे; उसी प्रकार राष्ट्रसंघ या राष्ट्र परिवार में भी शांति की स्थापना चाहते थे शस्त्रों का सहारा न्यूनतम लिया जाय, यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। महाभारत में लिखा है कि "अधार्मिक युद्ध इस जीवन में अपयश तथा दूसरे जीवन में नरक देने वाला होता है।[३] इसलिए प्राचीन भारत में युद्ध को प्रोत्साहित न करते हुए यह 'मण्डल सिद्धान्त' स्वीकार किया गया था।

मण्डल सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के साथ दो मान्यताएँ स्वीकार की जानी चाहिए। प्रथम—ऐसे शासक की विद्यमानता जो विजय की आकांक्षा करता हो और द्वितीय यह कि पड़ोसी राष्ट्र से अधिकांश अच्छे संबंध नहीं होते। पहली मान्यता के संबंध में अधिक सन्देह नहीं होता, किन्तु दूसी मान्यता में "पड़ोसी राज्य शत्रु ही होता है" सन्देह है। वास्तव में यह शाश्वत सत्य नहीं हो सकता कि पड़ोसी राष्ट्र शत्रु ही रहें; किन्तु इसकी संभावना अवश्य रहती है। इतिहास का अनुसरण करें तो ऐसे उदाहरण अवश्य उपलब्ध हैं कि जहाँ पड़ोसी राष्ट्रों में लगभग वैमनस्य ही अधिक रहा है। फ्रांस एवं जर्मनी, रूस एवं पोलैंड, चीन एवं जापान, आदि ऐसे ही उदाहरण हैं जिनके बीच शत्रुता ही अधिक रही है। अतः दोनों

१ यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्। परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥१७१॥ मनुस्मृति-सप्तम अध्याय।

२ अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्। शुक्रनीतिसार, चतुर्थ अध्याय, श्लोक ७॥

३ अधर्मयुक्तो विजयोह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च ॥ महाभारत, १२ अध्याय ६६। As quoted by Dr.Altekar—State & Government in Ancient India-Page. 288.

मान्यताएं अनुभव के आधार पर उचित सिद्ध होती हैं। मण्डल सिद्धांत में विभिन्न ग्रंथों ने बहुत सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। तदनुसार अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में "शक्ति-संतुलन" का यह हिन्दू सिद्धांत वास्तव में "विजिगीषु-सिद्धांत" (Doctrine of Aspirant to conquest) पर आधारित हैं। यह एक विकास वृत्ति (cult of expansion) अथवा पुरुषत्व के सिद्धांत (Ethics of manliness) से संबंधित है। महाभारत के अनुसार इस सिद्धांत का अर्थ निरंतर प्रगति की ओर अग्रसर होते रहना-बराबर ऊपर चढ़ना, गिरना अथवा झुकना नहीं। जीवन की बाजी लगाकर भी ऐश्वर्य प्राप्त करना ही जीवनका उद्देश्य होना चाहिए।[१] इस प्रकार यह सिद्धांत अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for existence) की आवश्यकता सिद्ध करता है। इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संतुलन अथवा वस्तुस्थिति (Equilibrium and status-quo) सदैव ही परिवर्तनशील रहनी चाहिए। कौटिल्य के मतानुसार प्रत्येक राज्य की यह आकांक्षा होती है कि अपनी जनता के लिए शक्ति और सुख का संचय करे। कामंदक भी विजय की आकांक्षा (Aspiration to Conquer) प्रत्येक राज्य के लिए अनिवार्य बताता है। सम्राट को मण्डल का स्वामी अथवा नाभि (Centre of gravity) के रूप में स्थापित करना चाहिए और उसके पश्चात् चन्द्रमा की भांति अपने चारों ओर पूर्ण मण्डल की स्थापना करना उसका कर्तव्य है। यह मण्डल ही अरि (Enemy), मित्र (Ally) मध्यम (Neutral), तथा विजिगीषु (Aspirant) से सम्बन्धित राज्य-मण्डल (Circule of states) है। अपने विस्तार एवं विजय के मार्ग की सब रुकावटों को दूर करने के लिए सम्राट को चाहिए कि अपने समस्त परिजनों की सहायता प्राप्त करे क्योंकि विष का दमन विष से होता है। हीरे से ही हीरा कटता है एवं हाथी से ही हाथी वश में आता है। इसलिए मण्डल-सिद्धांत का उपयोग वांछनीय है। कामंदक ने स्पष्ट लिखा है कि कोप और दण्ड से युक्त मण्डल का अधिपति महाराजा अमात्य और मंत्रियों के सहित दुर्ग में स्थिति करके अच्छे राजमण्डल के विषय का विचार करे। अखण्डमण्डल वाले चन्द्रमा के समान वह सब प्राणियों से शोभित होता है (शशीवाखण्डमण्डल:) इस कारण जीतने की इच्छा वाला सम्पूर्ण मण्डल से युक्त रहे।[२] इस सिद्धांत के समर्थन में भीष्म ने कहा है कि अधिकार वही है जिसे शक्तिशाली व्यक्ति अधिकार समझता है और विजय ही अधिकार का आधार है। मनुस्मृति के अनुसार मध्यम बलशाली राजा के आचरण, जीतने की इच्छा वाले राजा और उदासीन तथा शत्रु राजा के समाचार को प्रयत्नपूर्वक जानते रहना प्रत्येक राजा के लिए अनिवार्य है।[३] शुक्रनीतिसार में किसी भी राज्य के शत्रु-मित्रों की व्याख्या करते हुए भविष्य में संघर्ष की दृष्टि से शक्ति-संतुलन तथा परिस्थितियों की उत्पति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। तदनुसार ज्यों ज्यों शत्रु केन्द्र से दूर होता जाता है उसका महत्व भी कम होता जाता है

१ Mahabharat Characterizes it as the consisting in seaseless upward striving - "To press only up." "Bend not," "Elect glory even at the cost of life"—Sarkar-Hindu Political Institutions.

२ कामंदक—अष्टम सर्ग-श्लोक १, ३ पृष्ठ ७८, ७६।

३ मनुस्मृति—सप्तम् अध्याय-श्लोक १५५।

और स्थान की दूरी के साथ द्वेष, घृणा तथा प्रतियोगी भावना भी स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है। इसलिए कोई भी राज्य शत्रु, उदासीन, या मित्र समझा जाय यह दूरी पर निर्भर करता है। शुक्रनीति के अनुसार प्रत्येक राज्य के समीप सर्वप्रथम शत्रु राज्य होते हैं, उसके पश्चात् मित्र राज्य, तत्पश्चात् मध्यम राज्य और अन्त में अत्यन्त दूरी पर पुनः शत्रु राज्य होते हैं। कौटिल्य और कामंदक के अनुसार भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र में यही सिद्धांत व्यवहार में आते हैं। इस सिद्धांतानुसार विजिगीषु एवं अरि के मध्य में निरन्तर संघर्ष (Tug of war) चलता रहता है। उपर्युक्त (मण्डलचतुष्क) चतुर्वर्ग निम्नलिखित रूप में स्वीकार किया गया था:—

(१) विजिगीषुः—सप्तप्रकृतिक राज्य से युक्त उत्साहवान् श्रमी राजा निरन्तर जीतने की इच्छा करने वाला विजेता अथवा विजिगीषु कहलाता है।[१]

(२ अरिः—विजिगीषु के राज्य की सीमा पर कहीं भी स्थित राज्य का अधिकारी अरि कहा जाता है।

(३) **मध्यमः**—वह राज्य होता है जो विजिगीषु और अरि दोनों के समीप स्थित हो तथा जो इन दोनों को पृथक-पृथक सहायता देने अथवा विरोध करने के योग्य हो।

(४) **उदासीनः**—वह राज्य होता है जो उपर्युक्त तीनों के पश्चात् स्थित हो। साथ ही बहुत शक्तिशाली हो जो विजिगीषु, अरि एवं मध्यम को एक साथ या पृथक-पृथक सहायता देने के योग्य हो अथवा पृथक-पृथक उनमें से प्रत्येक का विरोध कर सके।

उपर्युक्त चारों राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रथम मण्डल की रचना करते हैं। विजिगीषु की दृष्टि से समस्त राज्य या तो उसके मित्र हैं अथवा उसके शत्रु राज्यों के मित्र हैं। ऐसे राज्यों की संख्या आठ हो सकती है और मध्यम और उदासीन के साथ इन राज्यों की संख्या दस हो जाती है। कौटिल्य और कामंदक के अनुसार इन राज्यों का क्रम निम्नलिखित होता है—

(१) विजिगीषु (Aspirant)।

(२) अरि (Enemy)।

सम्मुख—(Frontward) (३) मित्रम् (Ally of aspirant)।

(४) अरि मित्रम् (Enemy's ally)।

(५) मित्र मित्रम् (Aspirant's ally's ally)।

(६) अरि मित्र मित्रम् (Ally of Enemy's ally)।

पीछे की ओर—(Rearward) (७) पार्ष्णिग्राह (rearward enemy)।

(८) आक्रन्द (Rearward ally)।

(९) पार्ष्णिग्राहासार (Ally of Rearward enemy)।

(१०) आक्रन्दासार (Ally of the Rearward ally)।

इस प्रकार उपर्युक्त दस राज्यों का एक पूर्ण दशक-मण्डल निर्मित होता है और मध्यम और उदासीन को मिलाकर बारह राज्यों का मण्डल बनता है। यह शुक्राचार्य का

---

१ कामंदक—अष्टम सर्ग-श्लोक ६ पृष्ठ ७६।

मत है।१ इसमें विजिगीषु सारे मण्डल का केन्द्र होता है। इन बारह राजाओं में ही शत्रु और मित्रों के पृथक-पृथक भेद से मनु ने इसको छब्बीस राजाओं का मण्डल माना है अर्थात् बारह शत्रु, बारह मित्र, दो उदासीन और मध्यम। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार से विचार करने पर कई प्रकार के मण्डलों का निर्माण होता है। बृहस्पति ने अष्टादशक मण्डल (१०८ का मण्डल), विशालाक्ष ने चौवन प्रकार का मण्डल, तीन सौ चौबीस का मण्डल आदि का वर्णन किया है।२ शत्रु का चतुर्दशक मण्डल, विजिगीषु के छः प्रकार के मण्डल-षटक तथा छतीस प्रकार संहतीक मंडल, एक विंशत्क मण्डल (इक्कीस), अष्टक मण्डल, षष्ठिसंज्ञक मण्डल, त्रिंशत्कमण्डल, आदि अनेक प्रकार के मण्डलों का वर्णन मिलता है।३ कौटिल्य के मतानुसार प्रथम चतुष्क मण्डल के प्रत्येक राजा के द्वादश मण्डल के आधार पर क्रमशः ४८ राज्यों का मण्डल बनता है, मध्यम और उदासीन के मण्डल को सम्मिलित करने पर ७२ राज्यों का मण्डल बनता है और इसी प्रकार द्वादश मण्डल के प्रत्येक राजा के द्वादशमण्डल को सम्मिलित करने से १४४ राज्यों का मण्डल भी बन सकता है। जैसे दण्डनीति प्रजा के 'मत्स्य न्याय' को समाप्त करती है उसी प्रकार यह 'मण्डल-सिद्धांत' भी मानव समुदाय में निहित 'मत्स्य न्याय' अथवा गृहयुद्ध को समाप्त करने में समर्थ होता है।

साधारणतया मण्डल सिद्धांत सत्य होता है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह सदैव सत्य सिद्ध होगा। साथ ही यह कहना भी कठिन है कि यह हमेशा असत्य सिद्ध होगा। विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध अधिकांश परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित होते हैं। इसलिए मित्रता एवं शत्रुता के सम्बन्ध में कोई रूढ़िगत नियम स्वीकार नहीं किया जा सकता।

षाड्गुण्यम् (Sixfold incidents):—प्राचीन काल में विभिन्न राज्यों के बीच के सम्बन्ध मुख्य रूप से छः विभिन्न प्रकारों से निर्धारित होते थे, जिन्हें षाड्गुण्यम् कहते थे। कौटिल्य के मतानुसार मण्डल सिद्धांत ही षाड्गुण्यम् का मुख्य स्रोत है। ये छः सिद्धांत निम्नलिखित हैं:—

(१) संधि (Peace)।
(२) विग्रह (War)।
(३) आसन (Mainting apost against an enemy or observance of neutrality)।
(४) यान (Marching or Preparedness for attack)।
(५) समश्रय (Alliance)।
(६) द्वैतभाव (Double dealing or duplicity)।

(१) संधि (Peace):—कामंदक के अनुसार जब राजा बलवान शत्रु से आक्रांत हो जाय और कोई उपाय न सूझे, तब विपदग्रस्त हो काल व्यतीत करता हुआ संधि कर ले, कपाल,

---

१ उदासीनो मध्यमश्च विजिगीषोस्तु मण्डलम्।
उशना मण्डलमिदं प्राह द्वादशराजकम्॥ कामंदक-श्लोक २२ पृष्ठ ८२।

२ कामंदक-अष्टमसर्ग-पृष्ठ ८३ से ८५ तक।

३ उपरोक्त।

उपहार, सन्तान, संगत, उपन्यास, प्रतिकार, संयोग, पुरुषांतर, अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मामिश, उपग्रह, परिक्रय, उच्छिन्न, परिभूषण, और स्कन्धोपनेय, कुल सोलह प्रकार की संधि कुशल नीतिज्ञों ने स्वीकार की हैं। बराबर वाले से मेल करने का नाम कपाल संधि है। द्रव्य से होने वाली उपहार संधि, कन्यादान करने से संतान संधि, श्रेष्ठों के साथ मित्रता संगत संधि (इसे काञ्चन संधि भी कहते हैं), श्रेष्ठ कार्य की सिद्धि के लिए उपन्यास संधि, परस्पर उपकार चुकाने के निमित्त प्रतिकार संधि (राम-सुग्रीव की संधि), एक अर्थ के उद्देश्य से गमन करते हुए अचानक होने वाली संयोग संधि, दोनों के मुख्य योद्धाओं से हमारा प्रयोजन सिद्ध हो ऐसा जिसमें प्रण किया जाता है वह पुरुषांतर संधि, जहां किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा शत्रु का विरोध कराया जाय वह अदृष्टपुरुष संधि, पृथ्वी का कुछ अंश देकर आदिष्ट संधि, अपनी सेना से आत्मामिश संधि, प्राणरक्षा के लिए सर्वस्वदान द्वारा उपग्रह संधि, कोष के अंश या सर्वस्व द्वारा प्रजा की रक्षा के लिए परिक्रय संधि, उपजाऊ भूमि के देने से उच्छिन्न संधि, पृथ्वी से उत्पन्न सब अन्न, फलादि के देने से परिभूषण संधि, तथा जहां थोड़े फलादि थाली में रखकर कंधे पर ले जाकर भृत्य जन देते हैं, उसे स्कन्धोपनेय संधि कहते हैं। इनमें से परस्पर उपकार, मित्रता, सम्बन्ध और भेंट ये चार संधि विशेष रूप से मानी गई हैं।[1]

कौटिल्य के मतानुसार संधियां मुख्यत: दो प्रकार की होती हैं:--

(१) काल संधि (Temporary)।

(२) स्थावर संधि (Permanent।

संधियों की सूची में कौटिल्य ने भी विशद वर्णन दिया है, किंतु उसने मित्र संधि, हिरण्य संधि, भूमि संधि, कर्म संधि, और अनवसित संधि मुख्य बताई हैं। इन संधियों के प्रयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध संचालित होते थे।

(२) **विग्रह (War)**:—शिवतत्व रत्नाकर में विग्रह आठ प्रकार के बताये गये हैं:—

(१) काम-विग्रह (जहां विग्रह का कारण स्त्रियां होती हैं)।

(२) लोभज (जो लोभ के कारण उत्पन्न हो)।

(३) भू-विग्रह (जहां भूमि के कारण विग्रह हो)।

(४) मान सम्भव (जहां मानभंग होना विग्रह का कारण हो)।

(५) अभय–(जहां मित्र अथवा सम्बन्धियों के लिए विग्रह हो)।

(६) इच्छज (जहां आकांक्षा के कारण विग्रह हो)।

(७) मदोट्टिका (जहाँ केवल मूर्खता अथवा जिद्द के कारण विग्रह हो)।

(८) एकद्रव्याभिलाषा (जहां एक विशेष उद्देश्य के कारण विग्रह हो)।

शास्त्रानुसार सम्राट को सोलह प्रकार के विग्रह टाल देने चाहिए। इनका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में होता था।

(३) **आसन**—कुछ विद्वानों के अनुसार आसन का अर्थ उदासीनता अथवा तटस्थता होती है। किन्तु आसन का अर्थ शत्रु के विरुद्ध एक निश्चित स्थान प्राप्त करना उपयुक्त पड़ता

---

१ कामंदक-नवमसर्ग-श्लोक १ से २०।

है। आसन भी शास्त्रों में दस प्रकार के माने गये हैं:—स्वस्थान, उपेक्षा, मार्गरोध, दुर्गसाध्य राष्ट्रस्वीकरण, रामनीय, निकटसन, दुर्गमार्ग, प्रलोपशन एवं पराधीन। इन विभिन्न प्रकार के आसनों का प्रयोग होता रहता था। पुराणों की कथाओं एवं अनेक ग्रंथों की घटनाओं में इनके प्रसंग यदा-कदा मिल ही जाते हैं।

(४) **यान:**—उत्कृष्ट, विजयाकांक्षी, जयशील, प्रकृति के गुणों में अनुरक्त राजा की यात्रा यान कही जाती थी। युद्ध के लिए मिलकर, एकत्र होकर, प्रसंग से एवं उपेक्षा से यह पाँच प्रकार का यान (चढ़ाई) विद्वानों ने स्वीकार किया है। इन्हें क्रमशः विगृह्ययान संधायगमन, संभूयगमन, सम्भूययान, प्रसंगयान तथा उपेक्षायान भी कहते हैं।[1]

गणपति शास्त्री के मतानुसार शक्ति, देश और काल का ध्यान रखते हुए यान निम्न सात प्रकार के माने गये हैं:—संधानज, पार्श्वनिरोध, मित्रविग्रहणी, द्वन्द्वजा, निर्व्याजि, कुलय एवं शीघ्रगामिनी। कौटिल्य ने भी यान की उपयोगिता के संबंध में सुन्दर वर्णन किया है।

(५) **समाश्रय:**—साधारणतया इस शब्द का अर्थ सहायता या समर्थन से होता है किन्तु कुछ विद्वान इसका अर्थ मित्रता रूप में भी लेते हैं। व्यापक दृष्टि से इसका अर्थ अपने मित्रों से सहायता की अपेक्षा करना होता है। इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता, किन्तु यह उपाय भी प्राचीन काल में प्रचलित अवश्य रहा है। इसमें सन्देह भी नहीं है।

(६) **द्वैतभाव:**—डा० शामशास्त्री के अनुसार इसका अर्थ है एक से संधि तथा दूसरे से युद्ध करना। श्रीमूलम् मीमांसा के अनुसार इसका अर्थ हैं केवल वाणी द्वारा दो शत्रुओं में विश्वास उत्पन्न करने की ऐसी नीति जो केवल प्रकट रूप में हो। वास्तव में गुप्त रूप से शत्रुवत् व्यवहार करते रहना, द्वैतभाव है। कामंदक के मतानुसार बली शत्रुओं के मध्य में वाणी से अपने को समर्पण करता हुआ, काक के नेत्र के समान कभी किसी को कभी किसी को देखता हुआ द्वैधीभाव से बरते कि किसी को प्रतीत न हो। उसे द्वैत भाव कहते हैं। यह स्वतन्त्र और परतन्त्र दो प्रकार का होता है।[2] दूसरे शस्त्रों के अनुसार द्वैत भाव पांच प्रकार का माना गया है।

(१) मिथ्याचित्त—हृदय से घृणा किन्तु ऊपर से मित्रवत् व्यवहार।

(२) मिथ्या वचन संजना:—मस्तिष्क में अन्य बात होना और उसके विपरीत भाषण करना।

(३) मिथ्याकरण:—ऐसा काम करना जो ऊपर से हितवर्द्धक प्रतीत हो किन्तु वास्तव में हानिकारक हो।

(४) उभयवेतन:—अपने स्वामी की सेवा में रहते हुए उसके शत्रु से गुप्त रूप से अनुचित वेतन स्वीकार करना।

(५) युग्मप्रवर्त्तक:—दूसरे व्यक्ति के सहयोग के लिए धन और जन एकत्रित करने का बहाना करते हुए अपने उद्देश्यों की पूर्ति करना।

---

१ कामंदक-एकादश सर्ग. श्लोक-१।

२ उपरोक्त-श्लोक २४,२७।

सम्राट उस नीति का पालन करता था जो उसके एवं राज्य के लिए अत्यन्त लाभदायक होती थी, राज्य को विनाश एवं पतन से बचाती थी। राज्य की रक्षा करना शासक का परम धर्म था और इसीलिये युद्ध तक भी करना पड़ता था, किन्तु युद्ध सदैव अन्तिम साधन के रूप में काम आता था। कौटिल्य का मत है कि यदि शांति एवं विग्रह का प्रभाव समान हो तो शांति मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। युद्ध तभी करना चाहिए जब कूटनीति के चारों (साम, दाम, भेद एवं दण्ड) साधन असफल हो जायँ। इस प्रकार ये युद्धकालीन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का क्षेत्र माना जाता था और उपर्युक्त साधन एवं प्रणालियाँ व्यवहार में आती थीं।

इसके अतिरिक्त शांतिकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विषय में भी बहुत सामग्री प्राप्त होती है। वास्तव में राज्य की समृद्धि एवं प्रगति के लिए शांति स्थापना अनिवार्य है और शांति के समय में विभिन्न राज्यों के परस्पर व्यवहार भी अधिक मुक्त रूप से होते हैं। ये संबंध अधिकांश राज्यों के प्रतिनिधियों को परस्पर एक दूसरे राज्य में भेजकर व्यवस्थित किये जाते थे। इन प्रतिनिधियों अर्थात् राजदूतों आदि का विस्तृत विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे।

प्राचीन काल में राजा लोग अपने सामन्तों के प्रति भी एक निश्चित नीति का पालन करते थे। सामन्तों को पालकी, हाथी रखने आदि की कुछ सुविधाएँ मिल जाती थीं और पाँच प्रकार का वाद्य-यंत्रों (शृंग (Horn), शंख, भेरी (Drum) जयघण्ट, एवं टमटा) को रखने का अधिकार भी दिया जाता था और इसीलिए इन्हें महाराजा, सामन्त, महासामन्त, मण्डलेश्वर-आदि की उपाधियों से विभूषित किया जाता था। मध्यकाल में सामन्त वर्ग सम्राट को सम्राज्ञिय अभियानों में सैनिक सहायता देते थे। अन्य उत्सवों आदि पर साम्राज्य की शोभा बढ़ाने में हर प्रकार से सहयोग देते थे। अपने-अपने क्षेत्रों में ये सामन्त लगभग आंतरिक-स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे। छोटे सामन्त स्वाभाविक रूप से कम स्वतंत्र होते थे। बहुत अल्प संख्या में ऐसे सामन्त होते थे जिन पर कठोर नियन्त्रण होता था और समय-समय पर हस्तक्षेप भी किया जाता था। सामन्ती विद्रोह की घटनाएँ भी हुआ करती थीं किन्तु परास्त हो जाने पर उन्हें बहुत अपमान सहने पड़ते थे। कभी-कभी तो, विजेता की घुड़शाला की सफाई का कार्य पराजित सामन्तों को करना होता था और कोष, अश्व, हाथी, आदि सब साधन समर्पण कर देने होते थे। यदि सम्राट दुर्बल होता तो सामन्त लोग स्वतंत्र भी हो जाते थे। केवल नाम के लिए सम्राट के प्रति औपचारिक कार्यवाही करते रहते थे, अपना आर्थिक योग (Tribute) अनियमित रूप में देने लगते थे, और धीरे-धीरे वे पूर्ण स्वतंत्र बन जाते थे। सामन्ती युग का यह इतिहास बहुत विचित्र सा रहा है। इसी अस्थिर व्यवस्था के कारण उस समय कोई निश्चित संस्था, नियम या व्यवस्था नहीं पनप पाई।

इस प्रकार अन्तर्देशीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में प्राचीन भारतवर्ष बहुत आगे बढ़ा हुआ था और विदेशी संबंधों के विषय में विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक सिद्धान्त

एवं व्यवहार के नियम प्रचलित हो चुके थे। जिनका विवेचन आज के युग में भी कुछ सीमा तक उपयोगी तथा पूर्ण रूप से अध्ययन के लिए रुचिकर सामग्री उपस्थित करता है।

प्रश्न

1. Discuss the doctrine of Mandala (Circle of states) and add a short note of appreciation.
2. Discuss the basis and principles of Inter-State relations in ancient India.

सतरहवाँ अध्याय

कूटनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार

(Diplomacy–Theory and Practice)

प्रस्तावना:—आधुनिक समय में विभिन्न देशों के पारस्परिक संबंध एक अनिवार्य स्थिति है। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से अपने संबंध स्थापित करने होते हैं। इन संबंधों को निरन्तर समयानुकूल परिवर्तित एवं परिवर्द्धित करना आवश्यक होता है। इसलिए इस कार्य के संबंध में कुछ निश्चित सिद्धान्त स्वीकार कर लिये गये हैं, जिनका अनुसरण प्रत्येक राष्ट्र अपने ढंग से करता है। इसे कूटनीति (Diplomacy) कहते हैं। और राष्ट्र के जो प्रतिनिधि दूसरे देशों में भेजे जाते हैं, उन्हें कूटनीतिक प्रतिनिधि (Diplomatic Agent) अथवा राजदूत Ambassador) कहते हैं। प्राचीन भारतवर्ष में भी यह विज्ञान बहुत उन्नत था। कूटनीति के सिद्धान्त बहुत प्रचलित थे एवं प्रत्येक प्रभावशाली राज्य उनके पालन में तत्पर रहता था। कई सिद्धान्त तो ऐसे मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण थे, जो आज भी सत्य हैं एवं साधन-सिद्धि के लिए उपयोग में लाये जा सकते हैं।

कूटनीति का अर्थ:—वर्त्तमान समय में शांति और युद्ध का भेद इस प्रकार बताया जाता है कि "शांति के समय संतान अपने पूर्वजों का दफन करती है किन्तु युद्ध काल में पूर्वज अपनी संतान का दफन करते हैं।" किन्तु फिर भी युगों से युद्ध ऐसी आवश्यकता रहा है जो क्रियाशीलता के लिए प्रेरणा, आत्मोत्सर्ग के लिए अवसर तथा प्रसन्नता का स्रोत माना जाता है। राजनीति के मंच पर दो पड़ोसी राष्ट्र उस समय मित्र बनते हैं जब तीसरी शक्ति से भयभीत हों अन्यथा पड़ौसी राष्ट्र मण्डल सिद्धान्त के अनुसार सदैव ही शत्रु राज्य ही होते हैं। इसलिए कूटनीति द्वारा युद्ध (War by Diplomacy) अथवा अथवा युद्ध द्वारा कूटनीति (Diplomacy by War) दोनों में से एक सिद्धान्त का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। श्री पनिकर के शब्दों में कूटनीतिज्ञ को उपाधियां, विशेष अधिकार मताधिकार, तथा अपव्यय की आड़ में कठिन एवं भयंकर काम करते रहने पड़ते हैं। इसलिए विशेष जन-सेवा के सदस्य ही इस कार्य के लिए चुने जाते हैं। प्राचीन काल में राजदूत विशेष रूप की सुन्दर वेशभूषा, सितारे आदि से सजे हुए रहते थे। वह समय तो अब नहीं है। कूटनीतिक विचार-विमर्श भी अत्यन्त गोपनीय होते हैं। प्राचीन काल में ये सब कार्य होते थे और कूटनीतिक सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण माने गये थे। कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया है। उसका मत है कि कूटनीतिक पद्धति के

बिना युद्ध अधिक होंगे। कूटनीतिक पद्धति की पृष्ठभूमि युद्ध की तैयारी में ही निहित होती है। इसलिए कूटनीति के कुछ स्वरूप युद्ध की धमकी के रूप में ही काम में आते हैं और बड़े उपयुक्त साधन सिद्ध होते हैं। प्राचीन काल में भी ऐसे कूटनीतिक साधन प्रचलित थे जिन्हें आज का विश्व उपयोग में ला रहा है। जैसे–साम (Negotiation), दाम (Persuation) भेद (Conciliation) और दण्ड (Threat & War) मनुस्मृति के अनुसार ये चार सिद्धान्त प्राचीन भारतीय कूटनीतिक पद्धति के आधारस्तम्भ थे। उस समय कूटनीतिक के लिए "नय" शब्द का प्रयोग होता था। कौटिल्य ने भी लिखा है कि जो सम्राट 'नय' अर्थात् कूटनीति की वास्तविकता को समझता है वह समस्त पृथ्वी को विजय कर सकता है। ('नयज्ञः पृथ्वीं जयति') इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में कूटनीतिक सिद्धान्त भली प्रकार समझे गये थे एवं उनका व्यवहार भी पर्याप्त मात्रा में होता रहता था।

प्राचीन कूटनीतिः—साधारणतया कूटनीति का प्रादुर्भाव वैदिक काल से ही स्वीकार किया जाता है। ऋग्वेद संहिता में ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए अग्नि देवता से प्रार्थना की जाती थी; क्योंकि अग्नि देवता शत्रुओं के लिए घातक माना गया था। इसी के साथ अपने उद्देश्य की पूर्ति के हेतु गुप्तचरों (Spies) का उपयोग करने का उल्लेख भी मिलता है। सम्राट, जो कूटनीति-संचालन के लिए केन्द्र रहता था, वह पूर्ण रूप से पुरोहित के अनुशासन में रहता था, क्योंकि पुरोहित कूटनीति का विशेषज्ञ होता था और निष्पक्ष परामर्श के लिए अत्यन्त उपयोगी माना जाता था। अथर्ववेद में प्राप्त प्रसंगानुसार भी शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए अधिकांश कृत्रिमता (Artifice), छल (Strategem), माया (Spell and incantation) आदि का ही उपयोग उचित बताया है। इसी प्रकार रामायण, महाभारत के युग में भी ये पद्धतियाँ पर्याप्त रूप में विकसित रही हैं और यही कारण है कि इन युगों में षडयन्त्र (Intrigues) तथा वार्तालाप के प्रयत्न एवं प्रकार एक विशेष वातावरण बनाते रहे हैं। महाभारत में प्राप्त प्रसंग तत्कालीन कूटनीति के बहुत सुन्दर विश्लेषण उपस्थित करते हैं। अत्यन्त विख्यात कूटनीतिज्ञ कनिक ने कूटनीति पर ही धृतराष्ट्र को पूरा भाषण दिया था। उसका तथ्य इस प्रकार है— 'कूटनीति के क्षेत्र में सम्राट को कश्यप (कछुए) की भाँति व्यवहार करना चाहिए, ताकि दूसरों के दोष तो वह देख सके किन्तु स्वयं के दोष प्रकट न होने दे। काँटे (कण्टक) की भाँति शत्रु का यदि प्राणान्त न भी कर सके तो मर्मान्तिक पीड़ा अवश्य पहुंचा सके, हानिकारक शत्रु का विनाश सदैव ही प्रशंसनीय होता है, क्योंकि अग्नि की छोटी सी चिनगारी भी बृहद् वन को भस्म कर सकने में समर्थ होती है, उसी प्रकार शत्रु को कभी निर्बल या छोटा नहीं समझना चाहिए। सम्राट को कभी-कभी बहरा और अन्धा हो जाने का स्वांग करना चाहिए; परन्तु साथ ही इतना सतर्क और जागरूक रहना चाहिए जैसे सोये हुए हरिणों का समूह रहता है। जब कभी शत्रु हाथ में आ जाए तो उस पर किसी भी परिस्थिति में दया नहीं करनी चाहिए, उसे गुप्त अथवा प्रकट साधनों से नष्ट कर देना ही उचित है। यहाँ तक उसके मित्र तथा अन्य सहयोगियों को भी नष्ट कर देना चाहिए। शत्रु के विनाश के लिए योजना बनाकर आगे बढ़ना चाहिए। सर्वप्रथम

शत्रु के सहायकों का विश्वास प्राप्त करना चाहिए और उसके पश्चात् उस पर आक्रमण करने के लिए अचानक भेड़िये की भाँति झपटना चाहिए ताकि वह संभल भी न सके और उसके सहयोगी भी निरपेक्ष रह जायँ। छल (Hypocracy) इस क्षेत्र में बहुत लाभदायक होता है। जिस प्रकार झुके हुए मुँह के बाँस से फलदार वृक्ष की शाखाएँ सरलता से झुका कर फल चुने जा सकते हैं, उसी प्रकार इस प्रयोग द्वारा शत्रु को भी सरलता से नष्ट किया जा सकता है। अपने शत्रु को उस समय तक कन्धों पर ऊँचा चढ़ाये रहना चाहिए, जब तक कि उसे नीचे फैंककर कच्ची मिट्टी के बर्तन के समान टुकड़े-टुकड़े न कर सको। किसी भी परिस्थिति में शत्रु को पलायन का अवसर नहीं देना चाहिए। जहाँ तक संभव हो तत्काल शत्रु का वध कर देना चाहिये। शत्रु चाहे पुत्र, पिता अथवा गुरु ही क्यों न हो, साम, दाम, विष अथवा छल द्वारा नष्ट कर देना ही श्रेयस्कर है। इस क्षेत्र में गुप्तचरों का अधिक उपयोग किया जाय। गुप्तचर मछुवाहों की भाँति अपने कार्य में कुशल होते हैं। सम्राट को उस्तरे की भांति (Razor-like) पैना एवं चमकदार होना चाहिए।" इस प्रकार सम्राट को कूटनीतिक क्षेत्र में कैसा, किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, बड़ा रोचक वर्णन किया गया है। इससे यह भास होता है; जैसे महाभारत-काल में कूटनीति के सिद्धान्त उस समय के मेकेयावली के सिद्धान्तों के समान हों। परन्तु वास्तव में यह बात ठीक नहीं थी। महाभारत के शांतिपर्व में ही दूसरे स्थान पर भारद्वाज ने कूटनीति के सिद्धान्तों की व्याख्या शत्रुजीत के लिए की है; इस स्थान पर वर्णित व्याख्या पहली से भिन्न है किन्तु आधारभूत सिद्धान्त तो समान ही हैं। महाभारत-काल में, जहाँ सुई की नोक के बराबर भूमि भी उचित होते हुए बिना युद्ध के दिया जाना स्वीकार नहीं किया गया था, नैतिकता की न्यूनता अथवा अभाव आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। अतः उपरोक्त कूटनीतिक सिद्धान्त तत्कालीन प्रसंगानुसार महत्त्वपूर्ण ही स्वीकार किये गये थे।

नारदस्मृति के अनुसार कूटनीतिक क्षेत्र में षाड्गुण्य-विधि (Six-fold policy) का प्रयोग अनिवार्य माना गया। तदनुसार सम्राट में निम्नलिखित छः गुणों की विद्यमानता एवं उनका व्यवहार आवश्यक है:—

(१) वाक्-पटुता (Cleverness of speech)
(२) तत्परता (Readiness)
(३) बुद्धि (Intelligence)
(४) स्मृति (Memory)
(५) परिचय (Acquaintance)
(६) दण्डनीति का व्यवहार (Politics)

उपर्युक्त गुणों के सफल व्यवहार के लिए निम्नलिखित सात साधनों का उपयोग करना चाहिए:—

(१) वैमनस्य का बीजारोपण या भेद (Sowing dissension)
(२) दण्ड (Chartizement)

(३) साम (Conciliation)
(४) दान (Gift)
(५) माया (Incantation)
(६) औषधि (Medicine)
(७) जादू (Magic)

कौटिल्य के मतानुसार भी कूटनीतिक क्षेत्र में राज्य को नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता। यहां कौटिल्य, आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् हाब्स, मेकेयावली आदि की भाँति, राज्य की स्वतन्त्रता और उनके लिए नैतिक मर्यादाओं की अव्यावहारिकता की ओर लक्ष्य करता है। राज्य की बहुक्षेत्रीय क्रियाओं में नैतिकता का बन्धन कार्य को कठिन ही बनाता है और कूटनीति का उद्देश्य ठीक इसके विपरीत कठिनाइयों का सरल करना होता है। कौटिल्य ने कूटनीति के मुख्य सिद्धान्त चार ही स्वीकार किये हैं:–साम, दान, भेद एवं दण्ड। कामन्दक के मतानुसार उक्त चार के साथ तीन सिद्धान्त और सम्मिलित करने पर पूर्ण होते होते हैं; जो इस प्रकार हैं —माया, उपेक्षा, और इन्द्रजाल।[१] ये सात उपाय विजय के लिए आवश्यक माने गये हैं। प्राचीन कूटनीति का वास्तविक ज्ञान इन विभिन्न उपायों के विशेष अध्ययन से ही हो सकता है। अतः अब हम इन साधनों का संक्षिप्त वर्णन आरम्भ करते हैं।

कूटनीति के विभिन्न साधन (Instruments of Diplomacy or the seven expedients of Ancient Diplomacy):– प्राचीन काल में कूटनीतिक व्यवहार के सम्बन्ध में अनेक साधनों का प्रतिपादन किया गया था। उनकी प्रकृति प्रभाव एवं प्रकार की विशद व्याख्या अनेक ग्रंथों में प्राप्य है। उपर्युक्त सात साधनों में से प्रत्येक के सबंध में निम्नलिखित वर्णन संभव होता है:—

(१) **साम**:—मत्स्यपुराण के अनुसार यह सिद्धान्त माना गया है कि सब व्यक्तियों के प्रति तथा प्रत्येक समय अथवा सदैव एक ही नीति का अनुसरण सम्भव नहीं हो सकता। संसार में धर्मात्मा (Righteous) या अधर्मी (Unrighteous) दो ही प्रकार के व्यक्ति होते हैं। इसलिए नीति का व्यवहार भी व्यक्तियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार साम भी दो प्रकार का माना गया है। प्रथम–**सत्यसाम**–जो धर्मात्मा लोगों के प्रति और दूसरा–**असत्यसाम**–जो अधर्मी लोगों के प्रति व्यवहार में लाया जाय। कौटिल्य भी इसी नीति का समर्थन करते हुए इस प्रकार पुष्टि करता है कि पराजित सम्राट के प्रति यही नीति अपनानी चाहिए जिससे अधीनस्थ सम्राट स्वामिभक्त बना रहे। प्राचीन धर्म शास्त्र तथा अर्थशास्त्र में सामनीति की अच्छी व्याख्या की गई थी। निर्बल सम्राटों पर अधिकार स्थापित करने के लिए यह बहुत सुन्दर उपाय था। यदि इस नीति द्वारा निर्बल सम्राट वश में नहीं आ सके तब दान (gift) नीति का उपयोग किया जाय। 'शिवतत्व-रत्नाकर' के अनुसार साम पांच प्रकार से प्रयोग में लाया जाता था। किन्तु समय के साथ-साथ

---

१ सामो दानश्च दण्डश्च भेदश्चेति चतुष्टयम्।
मायोपेक्षेन्द्रजालं च सप्तोपायाः प्रकीर्तिताः॥ कामन्दक—सप्तदश सर्ग-श्लोक ३।

अन्य प्रकार लुप्त होते गये। कामन्दक ने भी निम्न पांच प्रकार के साम बताये है -गुण और कर्मों में परस्पर उपकारों का कीर्त्तन, संबंध का आख्यान, आगामी समय में कार्य प्रकाश करना मनोहर मीठी वाणी से 'मैं तुम्हारा हूं' इस प्रकार अपने को अर्पण कर देना आदि साम के पांच प्रकार माने हैं।१

(२) दान:—कूटनीतिक क्षेत्र में दूसरा उपाय दान (gift) माना जाता था साम एवं दान की नीति का अनुसरण अपने से हीन राजाओं के प्रति करना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि यदि शुद्ध साम की नीति वांछित प्रभाव नहीं दिखा सके, तब दान को नीति का प्रयोग होना चाहिए। मत्स्यपुराण के अनुसार दान की नीति बहुत प्रभावशालो होती है। मनुष्य तो क्या संपत्तिदान तथा दूसरे उपहारों के द्वारा देवता भी वश में हो जाते हैं। इसलिये विद्रोही एवं उच्छृंखल व्यक्तियों को वश में करने के लिए अत्यन्त लालची दान उपयुक्त होता है। कौटिल्य का मत है कि जब कभी स्थानीय नेता एवं अधिकारी विदेशियां से मिल जायं तब असंतुष्ट प्रजा के प्रति साम एवं दान की नीति प्रयोग में लानी चाहिए, जिससे वे विदेशियों से अपना संबंध-विच्छेद कर लें। जब अपने राज्य में पूर्ण शांति स्थापित हो, तब विजेता को विदेशियों के प्रति भेद एवं दण्ड नीति का अनुसरण करना चाहिए। इस संबध में यह एक स्वीकृत सिद्धान्त था कि बाहरी आपत्ति दूर करने से पूर्व आन्तरिक आपत्ति दूर होनी चाहिए। मनु ने भी यही सिद्धान्त स्वीकार किया है और दान नीति को साम के पश्चात् महत्व की दृष्टि से दूसरा स्थान दिया है। 'शिवतत्व रत्नाकर' में दान सोलह प्रकार का वर्णित है, परन्तु प्रधानता केवल चार प्रकार के दान को ही दी गई है। जो उपकार, मित्रता, संबंध एवं भेंट कहे जाते हैं। कामन्दक के मतानुसार दान पांच प्रकार का होता था; जैसे राजनैतिक विवाह, संधि आदि।२

(३) भेद:—कूटनीति क्षेत्र में भेद तीसरा उपाय माना जाता है। मत्स्यपुराण के अनुसार अधर्मी राजाओं के प्रति भेद नीति का व्यवहार होना चाहिए। यह नीति वर्तमान समय को "विभाजन कर, शासन करे" (Divide and Rule) नीति के समान ही है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि सुरक्षा अथवा आक्रमण के लिए आंतरिक शांति अनिवार्य है। इसलिए अपने शत्रु को जीतने के लिए उसके परिजनों अथवा प्रजा में भेद की भावना का प्रसार बहुत प्रभावशाली होता था। जब भेद व्याप्त हो जाय, तब उन पर आक्रमण करना सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। मनु इस नीति को अधिक महत्व नहीं देता, किन्तु कौटिल्य बलवान से बलवान सम्राट को झुकाने के लिए भी इस नीति को अत्यन्त प्रभावशाली शस्त्र मानता है। अपने अर्थशास्त्र में उसने भेद उत्पन्न करने के अनेक उपायों की व्याख्या की है। 'शिव-तत्वरत्नाकर' के अनुसार भेद निम्न छः प्रकार का माना गया है:—

(१) प्राणहानि (जिसमें जीवन-मरण का प्रश्न उत्पन्न हो जाय)।

(२) मानभंग (जहां सम्मान की बाजी लग जाय)।

---

१ कामन्दक—सर्ग १७, श्लोक ४ एवं ५।

२ कामंदक।

(३) धनहानि (जहां लालची शासक को धनहानि की सम्भावना हो)।

(४) बंधक (जहां शत्रु के मित्र के मस्तिष्क में कारावास का भय हो जाय)।

(५ दाराविलास (जहां मित्र की धर्मपत्नी को शत्रु द्वारा ले जाने का भय हो)।

(६) अंगभंग (जहां शत्रु द्वारा मित्र से राज्य का कोई भाग छीनने का भय हो)।

कामंदक के अनुसार भेद तीन प्रकार के हैं:—

(१) स्नेह-राग का दूर कर देना, (२) हर्ष उत्पन्न कराना, एवं (३) झिड़कना।१ भेद को साधारण शब्दों में 'फूट डालना' भी कहते हैं। यह नीति बहुत प्रभावशाली होती है। वर्तमान समय में भी यह नीति महत्वपूर्ण समझी जाती है।

(४) दण्ड:—प्राचीन काल के चार प्रधान उपायों में से अन्तिम साधन 'दण्ड' या 'युद्ध की धमकी' था। दण्ड का अर्थ वास्तव में दण्ड देना अथवा संघर्ष आरम्भ करना नहीं है, किन्तु एक कूटनीतिक विरोध है जिसमें शस्त्राशस्त्र का प्रयोग नहीं होता। अधिक से अधिक दण्ड का अर्थ यह होता था कि प्रत्यक्ष युद्ध आरम्भ होने के पूर्व अन्तिम साधन के रूप में युद्ध की आशंका अथवा धमकी प्रकट कर दी जाय। इस साधन का प्रयोग उस समय किया जाता था, जब प्रथम तीन साधन साम, दान एवं भेद अलग-अलग तथा सम्मिलित रूप में व्यवहार में लाने पर भी अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में असफल रहे हों। अर्थशास्त्र में दण्ड के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है। जैसे शत्रु को युद्धक्षेत्र में बन्दी बना लेना, छल-प्रयोग द्वारा युद्ध में अधीन कर लेना, गुप्त षड्यंत्र द्वारा शत्रु पर आघात करना, भयभीत करने के लिए उसके किले पर घेरा डालना, अव्यवस्था के समय शासक को बन्दी बना लेना आदि। कामंदक के मतानुसार दण्ड मुख्य रूप में तीन प्रकार का है:-(१) वध कर देना, (२) धन हर लेना, एवं (३) विशेष कायाकष्ट देना।२ (प्रकट दण्ड गुप्त दण्ड आदि इन्हीं के प्रकार हैं)।

(५) उपेक्षा (Indifference):—प्राचीन समय के राजनीतिक दार्शनिकों ने यह अनुभव कर लिया था कि दण्ड-नीति का व्यवहार समस्त सम्राटों अथवा राजाओं द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। यह सच भी है कि एक साधारण सम्राट या शासक, बड़े सम्राट या शासक से युद्धक्षेत्र में सामना नहीं कर सकता; बल्कि द्वैतभाव अथवा धोखेबाजी से भी वह सफल नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक समस्या उत्पन्न होती है कि निर्बल शासक क्या उपाय करे, मत्स्यपुराण में ऐसी ही स्थिति की कल्पना की गई है और तब 'उपेक्षा' की नीति का प्रतिपादन किया गया है। जब बड़ी शक्तियों से घिर जाय, तब साधारण शक्ति या शासक को 'उपेक्षा' नीति का अनुसरण करना चाहिए। कौटिल्य ने भी उपेक्षा का प्रसंग दिया है, किन्तु भिन्न रूप में न देकर उदासीन व्यवहार का ही एक पक्ष बताया है। उसका

---

१ स्नेहरागापनयनं संहर्षोत्पादनं तथा।
सन्तर्जनं च भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः॥ कामन्दक-सर्ग १७, पृष्ठ १६३।

२ वधोऽर्थग्रहणं चैव परिक्लेशस्तथैव च।
इति दण्ड विधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः॥ कामन्दक, सर्ग १७, पृष्ठ १६३।

मत है कि तटस्थ राज्य को पड़ोसी राज्यों के प्रति चाहे शत्रु हो या मित्र, उदासीन व्यवहार करने की वृत्ति विकसित करनी चाहिए। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय नियम द्वारा भी तटस्थ राज्यों की निरपेक्षता का सम्मान किया जाता था। कोई आक्रामक राज्य ऐसे उदासीन राज्य की क्रियाओं पर ध्यान नहीं देता था। कूटनीतिक विज्ञान के क्षेत्र में 'उपेक्षा' का सम्मिलित होना यह सिद्ध करता है कि यह प्रगतिशील विज्ञान था। इसीलिए उपेक्षा भी साधन रूप में स्वीकार हुआ। इस प्रकार उपेक्षा निर्बल राष्ट्र के विशेषाधिकार के रूप में स्वीकार हुआ था। कामंदक ने उपेक्षा तीन प्रकार की लिखी है:—

(१) अन्याय में – (Immoral) (कीचक जब द्रौपदी की इच्छा करता था, तब भीमसेन ने उसको द्रौपदी का रूप धर कर मार डाला और राजा विराट उसके वध से चुप रहे)।

(२) व्यसन में – (Addiction) भीमसेन को सज्जित देखकर अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए निर्भय हिडिम्बा राक्षसी ने अपने भ्राता बक के मारे जाने में उपेक्षा की थी)।

(३) युद्ध में – (War) (अर्थात् युद्ध में प्रवृत्त हुए के निवारण की कोई चेष्टा न करना)।[१] इस प्रकार उपेक्षा कूटनीतिक क्षेत्र का महत्वपूर्ण साधन था।

(६) माया (Illusion):—कूटनीति के उपर्युक्त पांच प्राचीन सिद्धांतों में ये दो (माया एवं इन्द्रजाल) सिद्धांत और जोड़े गये थे। इसीलिए अर्थशास्त्र में भी माया और इंद्रजाल का प्रसंग मिलता है। ये दोनों सिद्धांत वस्तुतः निम्न श्रेणी की कूटनीति (Base Deplomacy) में सम्मिलित होते हैं। माया का अर्थ है भ्रम उत्पन्न करना। इस पद्धति के अनुसार आक्रामक शत्रु को भ्रम में, या माया में डालने के लिए हर प्रकार का प्रयत्न किया जाता है तथा जब शत्रु अत्यधिक निर्बल प्रतीत हो तब उस पर आघात करने का निर्देश है। इस पद्धति में धूर्तता एवं षड्यंत्र प्रधान होते हैं और अनेक प्रकार से इसका उपयोग किया जाता है। कौटिल्य के मतानुसार तो यह पद्धति मुख्य रूप से 'दण्ड' का ही प्रकार है, जिसे भ्रमयुद्ध (Treacherous Warfare) कहा जा सकता है। परन्तु यहां माया का अर्थ किसी वास्तविक युद्ध से नहीं है। केवल षड्यंत्रों और प्रति-षड्यंत्रों (Intrigues & Counter-intrigues) द्वारा ही शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेना इस उपाय की सफलता है। कामंदक ने 'माया' पद्धति का वर्णन बहुत विस्तार से किया है। तदनुसार विजेता को आज्ञा दी गई है कि वह देवता या स्तम्भ की भांति वेष बनाकर स्थापित हो जाय और जब शत्रु पूजा के हेतु समीप आवे, तब उसकी जीवनलीला समाप्त कर दी जाय। अथवा सम्राट को चाहिए कि शत्रु के पास स्त्री रूप में, शैतान के रूप में अथवा भूत-प्रेत के रूप में जाकर उसकी हत्या कर दे। मुख्य रूप से 'माया' के दो रूप माने गए हैं:—(१) मानुषी एवं (२) अमानुषी या दैवी। मानुषी माया भी तीन प्रकार की मानी गई है—

---

१ कामंदक, सर्ग १७, पृष्ठ २०२।

अ—अन्धकार में लीन होना।

ब—जल बरसाना।

स—इच्छानुसार रूप धारण कर लेना।

महाभारत में वर्णित भीमसेन द्वारा द्रौपदी के रूप में कीचक का वध इसी नीति का उदाहरण है। यह सच है कि कूटनीति के क्षेत्र में इन सिद्धांतों से नैतिक स्तर अवश्य निम्न श्रेणी का बन गया परन्तु संभवतः यह पतन मौर्यकाल के बाद हुआ। क्योंकि अर्थशास्त्र में इनकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई। यदि उसी समय ये स्वीकृत सिद्धांत होते तो कौटिल्य द्वारा इसका विवेचन अवश्य ही किया जाता।

(७) इन्द्रजाल (Camouflage)—शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए इन्द्रजाल एक प्रभावशाली पद्धति थी। शांतिकाल एवं युद्धकाल दोनों समय में इसका उपयोग किया जाता था। इन सिद्धांतों की लोकप्रियता का अधिकांश, अथर्व वेद की लोकप्रियता से माना जाता है। अथर्व वेद में कई प्रकार के जादू, टोने एवं तंत्रों का वर्णन मिलता है, जिनका उद्देश्य केवल अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाना होता था। ये निस्सन्देह निम्न-स्तर के थे। परन्तु फिर भी क्रमशः इनका प्रयोग बढ़ता ही गया। विशेष तौर पर विद्रोही एवं उपद्रवी शासकों को वशीभूत करने के लिए यह साधन उपयुक्त माने जाते थे। बौद्धकालीन ग्रंथ, जो उच्च नैतिक स्तरीय कृतियां है, इस प्रकार के षड्यंत्रकारी एवं अन्धविश्वासी उपायों का उल्लेख करते हैं। कामंदक ने इन्द्रजाल के विभिन्न प्रकारों का वर्णन इस प्रकार किया है-मेघ, अन्धकार, वृष्टि, अग्नि, पर्वत तथा अद्‌भुत-दर्शन और दूरस्थित ध्वजा-पताका, संयुक्त सेना का दर्शन होना, छिन्न-भिन्न पाटित (विदारण) और संस्कृत वस्तु का दिखाना; यह इन्द्र-जाल-विद्या शत्रुओं को भय दिखाने के लिए कल्पना करे।[१] इसके अतिरिक्त शत्रु की सेना को इन्द्रजाल द्वारा अपने शिविर से बाहर ले आना, चरागाहों में ग्राम व प्रासादों की विद्यमानता प्रकट करना (जैसे महाभारत में लाक्षागृह की रचना की गई थी), एक ओर थोड़े से सैनिक प्रकट कर सेना का भ्रम करा देना तथा उस ओर शत्रु के अग्रसर होने पर पीछे से आक्रमण कर शत्रु को नष्ट कर देना, वृक्षों की टहनियों आदि से सज्जित होकर सैनिक का वृक्ष की भाँति खड़े रहकर शत्रु की समस्त गतिविधि को देखना आदि इन्द्रजाल के ही प्रकार थे। वर्तमान समय में भी इन्द्रजाल सैनिक क्रियाओं का मुख्य अंग माना जाता है।

उपर्युक्त समस्त कूटनीतिक साधनों में प्रथम चार प्रधान तथा तीन गौण साधन हैं। कामन्दक ने भी यह स्वीकार किया है कि अन्तिम तीन उपाय, प्रथम चार उपायों के ही रूप हैं। माया, दण्ड का रूप है और उपेक्षा तथा इन्द्रजाल, भेद के रूप माने जाते हैं। कामन्दक का मत है कि वह कूटनीतिज्ञ जो नीति के उपर्युक्त प्रकारों का प्रयोग स्थान, काल और साधनों का ध्यान रखते हुए और अपनी शक्ति का प्रयोग शत्रु के विरुद्ध करता है वह अवश्य सफल होता है तथा जो गृह नीति एवं विदेश नीति में इन सिद्धान्तों का प्रयोग नहीं करता, वह

---

१ छिन्नपाटितभिन्नानां संस्कृतानाञ्च दर्शनम्।
इतीन्द्रजालं द्विषतो भीत्यर्थमुपकल्पयेत्॥ कामन्दक, १७ सर्ग, श्लोक ५६।

केवल नेत्रहीन की भाँति समझा जाता है। छः प्रकार की नीति पर आधारित इन सात उपायों का प्रयोग करने से विजयी सम्राट 'सार्वभौम' की उपाधि का अधिकारी होता है। इस प्रकार कूटनीति के सिद्धान्त प्राचीन भारतवर्ष में बहुत महत्वपूर्ण माने गये थे और उनका व्यवहार भी पर्याप्त रूप में होता था।

राजदूत (Diplomatic Agents):—विदेशों में राजदूत भेजने की प्रथा एवं यह संस्था आधुनिक समय में ही प्रचलित हुई हो ऐसा नहीं है। प्राचीन भारतवर्ष में भी कूटनीतिक नियमावली बहुत प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर चुकी थी। राजदूतों के कार्य एवं उनका प्रतिष्ठित स्थान समाज में सदैव ही गौरवपूर्ण रहा है। साधारणतया राजदूतों का पद ऊँचा एवं प्रतिस्पर्धा के योग्य माना जाता था। वैदिक साहित्य से लेकर वर्तमान समय तक के समस्त ग्रन्थों में दूत का स्थान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। वेदों में अग्नि को देवदूत माना गया है। ऋग्वेद के अनुसार राजदूत दो प्रकार के माने गये थे—(१) दूत, और (२) चर। तैत्तिरीय संहिता में तीसरा शब्द 'प्रहित' (Envoy) भी काम में आया है जो दूत से भिन्न है। प्रसिद्ध विद्वान् सायण द्वारा इन शब्दों की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई है। उनके मतानुसार 'दूत' वह व्यक्ति होता है जो शत्रु की स्थिति एवं सैनिक शक्ति आदि के सम्बन्ध में वास्तविक सूचना प्राप्त करने में कुशल हो। 'प्रहित' वह व्यक्ति होता है जो अपने स्वामी द्वारा किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए भेजा जाय। अथर्व संहिता में भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग हुआ है। डॉ० अल्टेकर का मत है कि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन काल में स्थायी निवास करने वाले राजदूत होते थे; किन्तु फिर भी इतिहास में ऐसे उदाहरण हैं जहाँ स्थायी निवास करने वाले राजदूतों का प्रमाण मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में मेगास्थनीज तथा बिन्दुसार के राज्य में डिमाकस रहता था। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि इन भारतीय राजाओं ने भी अपने राजदूत उन देशों में भेजे हों। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए 'शांति-सन्देश' पहुंचाने तो कुछ लोग गये ही थे। यह भी सन्देह किया जाता है कि यूनानी दूत कुछ समय के लिए ही यहाँ रहे थे, विशेष काल तक नहीं। इतिहास से यह भी पता चलता है कि समुद्रगुप्त के दरबार में लंका आदि देशों ने दूत आये थे और पुलकेशिन (चालुक्य) के राज्य में ईरान (Persia) से। भारतवर्ष से चीन और रोम में दूत भेजे जाने का प्रसंग भी मिलता है। तत्कालीन संस्कृत भाषा में दूत शब्द का प्रयोग ही राजदूत (Ambassador) के अर्थ में हुआ है।[१] इस प्रकार राजदूत प्राचीन भारत में बहुत महत्वपूर्ण पद माना गया था और अत्यधिक महत्व के वैदेशिक कार्य करना इस पद का दायित्व होता था।

राजदूत की योग्यताएँ (Qualifications of the Ambassador):—राजदूत का पद बहुत प्राचीन होने के कारण अधिकांश प्राचीन ग्रंथों ने इस पद पर आसीन होने के लिए कुछ निश्चित योग्यताओं का उल्लेख किया है। मानवधर्म-शास्त्र के अनुसार राजदूत में निम्नलिखित योग्यता होनी चाहिए:—

१ डॉ० अल्टेकर—State & Government in Ancient India-Page 295.

(१) वह उच्चकुलीन हो, (२) सकल शास्त्रों में प्रवीण, (३) अभिप्रायसूचक-वचन स्वर आदि को जानने वाला, (४) प्रेम-द्वेषभाव के सूचक आकार को जानने वाला, (५) क्रोधादि सूचक हाथ चलाने आदि को समझने वाला, (६) अन्याय से धन न लेने वाला और कार्यकुशल हो; ऐसा पुरुष दूत बनाया जाय।[१] इसके अतिरिक्त शत्रु का भी प्रेमपात्र बनने वाले, धन और स्त्री के विषय में पवित्र, कार्यकुशल, पूर्वापर बात को याद रखने वाले, देशकाल को समझने वाले, दर्शनीय शरीर वाले, निर्भय, वाचाल, दूत प्रशंसा प्राप्त करते हैं।[२] राजदूतों में उपर्युक्त योग्यताओं के साथ सुन्दर, मनोहर वाणी, वक्तृत्वकला, स्वामिभक्ति, परिश्रमशीलता आदि गुण भी अनिवार्य समझे गये थे। वास्तव में विदेशी राज्य में जाकर अपने देश का हित साधन करने के लिए उपर्युक्त योग्यताएँ अनिवार्य ही होनी चाहिए। आधुनिक काल में भी हमारे देश में इस कार्य के लिए पृथक् सेवा संगठित की गई है और उसमें सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को ही चुना जाता है। इस प्रकार प्राचीन भारतवर्ष में राजदूतों से सम्बन्धित गुणों का वर्णन यह सिद्ध करता है कि उस समय भी कूटनीति एवं राजदूतों का स्तर बहुत ऊँचा एवं श्रेष्ठ था। महाभारत में भीष्म ने भी राजदूत के लिए सात योग्यताएँ आवश्यक बताई हैं:—उच्चवंशज, कुलीन, कुशल, वक्ता, अच्छा संदेशवाहक, तीव्र स्मृति एवं ईमानदार।

राजदूतों की श्रेणियाँ (Classes of Ambassadors):—उस समय कौटिल्य के मतानुसार राजदूत मुख्य रूप से निम्नांकित तीन श्रेणियों में विभाजित किये जाते थे :—

(१) **निःसृष्टार्थ**—वह कूटनीतिज्ञ जो अनेक प्रकार के कार्य संपादित करता था। उसके लिए मन्त्रियों की भाँति विभिन्न योग्यताएँ आवश्यक होती थीं तथा जो विनिमय या विचारों के आदान-प्रदान के लिए राज्य की ओर से पूर्ण अधिकारों से युक्त रहता था। मन्त्रियों की भाँति यह दूत भी उच्चकुलीन, सकल शास्त्रविशारद, आत्मत्यागी, राज्य एवं राजा के प्रति स्वामिभक्त, शुद्धहृदय तथा चतुर होता था।

(२) **परिमितार्थ**—यह राजदूतों की दूसरी श्रेणी होती थी। इस श्रेणी के दूत वे लोग होते थे जिन्हें एक निश्चित कार्य को पूर्ण करने के लिए उत्तरदायी बनाया जाता था। इसलिए उपर्युक्त योग्यताओं से कुछ कम योग्यता वाला व्यक्ति भी इस पद पर आसीन किया जा सकता था। यह दूत अपने निश्चित उद्देश्य से विचलित नहीं हो सकता था।

(३) **शासनाहार दूत**—यह राजदूतों में साधारण श्रेणी का पद था। इस पद पर आसीन दूत केवल राज्य के संदेशवाहक का कार्य करते थे। सम्राट के द्वारा दिया हुआ संदेश यथास्थान पहुंचा देना तथा उसका उत्तर पुनः सम्राट तक पहुंचा देना मात्र ही इस श्रेणी के दूत का मुख्य कार्य था। प्रतिनिधि के रूप में किसी प्रकार का वार्त्तालाप या विचार-विनिमय (Negotiations) इसके अधिकार में नहीं होता था।

---

१ दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्। इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥६३॥
सप्तम अध्याय—मनुस्मृति।

२ अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्। वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥
उपरोक्त ६४।

रामायण में भी दूतों के प्रकार तीन ही माने गए हैं, किन्तु तत्कालीन शब्दावली कुछ और ढंग की है। उस समय निम्नांकित तीन प्रकार के राजदूत होते थे:—

(१) **पुरुषोत्तम**—वह व्यक्ति होता था, जो अवांछनीय एवं अत्यन्त कठिन कार्य भी, राज्य के प्रति अपने स्नेह एवं स्वामिभक्ति के कारण, करता था।

(२) **मध्यम-नर**—वह व्यक्ति होता था, जिसके ऊपर कोई निश्चित कार्य का भार रख दिया जाता था और फिर वह अपने ढंग से उस कार्य को संपादित करता था।

(३) **पुरुष-अधम**—जो नागरिकों में अत्यन्त निम्न कोटि का व्यक्ति हो तथा जो कार्य उसे सौंपा जाय, वह भी उचित ढंग से सम्पादित न किया जा सके, ऐसा दूत पुरुष-अधम की श्रेणी में आता है।

अग्निपुराण के अनुसार भी राजदूतों की श्रेणियाँ कौटिल्य द्वारा दिये गए वर्गीकरण के अनुरूप ही थी। परन्तु विशेष रूप से यह और कहा है कि दूत एक प्रकार से प्रकट रूप में गुप्तचर है तथा आवश्यकतानुसार वह सत्य का पता चलाने के लिए व्यापारी, वैद्य आदि का स्वांग भी बना सकता है। कामन्दक द्वारा भी यही तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं।[१] शुक्रनीतिसार में दूत मंत्रिमण्डल में प्रथम दस मंत्रियों में से एक माना गया है।

विशेषाधिकार:—राजदूत, एक राज्य का प्रतिनिधि बनकर दूसरे राज्य में जाता है तथा अपने राज्य के हितसाधन में तत्पर रहता है, इसलिए विभिन्न रीति-रिवाज एवं परम्पराओं के होते हुए भी उसे विशेषाधिकार होना अनिवार्य होता है। यही प्रथा प्राचीन भारत में भी थी। किसी भी परिस्थिति में उसकी जीवनरक्षा का भार सदैव ही उस राज्य के सम्राट पर होता था जहाँ राजदूत निवास करता था। उसे कभी भी दण्डित नहीं करना चाहिए और मृत्युदण्ड भी नहीं देना चाहिए अन्यथा दण्ड देने वाला शासक नरक का अधिकारी होता है। राजदूत की हत्या करने वाला शासक नरक का अधिकारी होता है। राजदूत की हत्या करने वाला अधिकारी स्वयं तथा उसकी अनेक आने वाली पीढ़ियाँ अकथनीय पाप की भागी होती हैं।[२] चाहे दूत का व्यवहार अनुचित हो, अथवा उसके राज्य से शत्रुता आरम्भ हो जाय तो भी राजदूत तथा उसके सहायक कर्मचारियों के प्रति अशिष्ट अथवा अवांछनीय व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए था। यदि दूत का व्यवहार बहुत अनुचित हो तो उसे समुचित दण्ड दिया जा सकता था। उदाहरणार्थ–रावण ने हनुमानजी को लंकादहन के पहले दण्डित किया था। डॉ॰ अल्टेकर के मतानुसार प्राचीन काल में भी प्रवेश-अनुमति-पत्र (Passports) अनिवार्य होता था; परन्तु निरन्तर आने-जाने वाले व्यापारियों के लिए यह बन्धन शिथिल होता था। अन्यथा सन्देहात्मक व्यक्तियों का विचरण स्थगित कर दिया जाता था। विदेशियों की क्रियाओं पर ध्यान रक्खा जाता था, ताकि यदि कोई गुप्तचर बनकर आया हो तो उसे रोका जा सके। इस प्रकार राजदूतों तथा उनके सहायकों को कुछ विशेषाधिकार व सुविधाएँ प्राप्त थीं और निश्चित क्षेत्र में वे अपना कार्य करने के लिए स्वतन्त्र थे।

---

१ कामन्दक—पृष्ठ १३१।

२ दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह॥ As quoted by Dr. Altekar—State and Government in Ancient India—Page 296.

राजदूत के कर्त्तव्य—साधारण रूप में राजदूत के कर्त्तव्य अनेक प्रकार से कई क्षेत्रों में व्याप्त होते थे। मनुस्मृति में ये कार्य बहुत विस्तार से वर्णित हैं। सर्वप्रथम युद्ध एवं शांति (संधि) की घोषणा करने का कार्य राजदूत का होता था। दूसरे, मित्रता स्थापित करना अथवा मित्रता भंग करने का कार्य भी राजदूत करता था। जो लोग कुछ सहानुभूतिपूर्ण ज्ञात हों, उनसे मित्रता स्थापित करना तथा विरोधी लगने वाले लोगों से मित्रता भंग करना उसी का कार्य होता था। तीसरे, अपने शत्रु के सम्बन्ध में, उसकी शक्ति, सामर्थ्य एवं सीमा तथा उसके शत्रु, मित्र, एवं अनुयायी आदि का पूरा निश्चय करना भी राजदूत का कार्य होता था। चौथे, विदेश में राजदूत को अपने सम्पूर्ण कार्य इस प्रकार करने चाहिए थे कि वह व्यक्तिगत रूप में कभी कोई संकट न उठाए। कौटिल्य भी उपर्युक्त कार्य ही राजदूत के लिए उचित बताता है और इस बात पर बल देता है कि राजदूत को अपने शत्रु राज्य के अधिकारियों से मित्रता बनानी चाहिए, उसकी सैनिक शक्ति का अध्ययन करना चाहिए, दुर्ग, शस्त्रागार, सेना आदि सब अच्छी एवं बुरी बातों का पूरा ज्ञान करना चाहिए, शत्रु राज्य को जाने वाले मार्ग का तत्काल पूर्णरूपेण सर्वेक्षण करना चाहिए, शिविरयोग्य मुख्य स्थलों को चुन लेना चाहिए ताकि युद्ध के समय, पीछे हटने या आगे बढ़ने अथवा खाद्य सामग्री एकत्रित करने के लिए, उनका उपयोग सुविधापूर्वक किया जा सके, उसे शत्रु राज्य में प्रवेश करने से पूर्व आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए, राज्य द्वारा प्रेषित संदेश राजदूत को उसी रूप में पहुंचा देना चाहिए, जैसा उसे पहुंचाने के लिए दिया गया है चाहे उसके जीवन की ही बाजी क्यों न लग जाय और यह भी ध्यान रखे कि शत्रु ने उसे किस प्रकार तथा किस अर्थ में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त राजदूत का कर्त्तव्य यह भी था कि वह विश्वसनीय प्राप्त सूचना शीघ्रातिशीघ्र अपने देश में पहुंचा दे। इस कार्य के लिए प्राचीन काल में "गूढ़-लेख" (Cipher Code) का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतवर्ष में भी राजदूतों के कार्य विस्तृत, महत्वपूर्ण एवं व्यापक होते थे। उनके स्वयं के व्यवहार के लिए अनेक प्रकार के नियम थे तथा वर्तमान समय की भाँति, उस समय भी 'कूटनीति', एक शांत षड्यंत्र (Silent Conspiracy) तथा 'राजदूत' एक प्रतिष्ठित गुप्तचर था (an honourable Spy)। प्राचीन भारतवर्ष में यह पद बहुत महत्वपूर्ण था।

गुप्तचर प्रणाली (The Institution of Spies):—अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में गुप्तचर प्रणाली अपना विशेष स्थान रखती थी और गुप्तचर समय समय पर राज्य की अद्भुत सेवा करते थे। इसलिए इस प्रणाली का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य लगता है। प्राचीन काल में भारतवर्ष में गुप्तचर अत्यावश्यक समझे जाते थे और उनके कार्य की प्रधानता सर्वत्र स्वीकार की जाती थी। गुप्तचरों की सहायता बिना शत्रु पर विजय प्राप्त करना सम्राट के लिए लगभग असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य माना जाता था। वास्तव में गुप्तचर शत्रु की सेना आदि की पूर्ण सूचना देकर सम्राट को वस्तुस्थिति से अवगत कराते थे जिसके आधार पर भावी योजनाएं बनाकर शत्रु परास्त किया जाता था। इसलिए गुप्तचर

प्रणाली बहुत अधिक प्रचलित थी। तत्कालीन प्रत्येक लेखक ने इस सम्बन्ध में अच्छा वर्णन किया है। गुप्तचर प्रणाली के विषय में निश्चित नियम एवं परम्पराएँ थीं। तदनुसार गुप्तचर शत्रुदेश में सूचना प्राप्त करने के लिए भेजे जाते थे। कामन्दक के अनुसार दूत दो प्रकार के होते थे; एक प्रकट (राजदूत अथवा Ambassadors, जिनका वर्णन हम कर चुके) और एक गुप्त (जो चर या गुप्तचर कहे जाते थे)।[१] उसके मतानुसार बालक, किसान, वनचारी, भिक्षुक, अध्यापक यह दूतों के वेष की मर्यादा है।[२] जड़, मूक, अन्धे, बहरे, षण्ढ, किरात, बौने, कुबड़े तथा और जो इस प्रकार के कार्य करने वाले, भिक्षुक, चारण, दास, अनेक कार्य व कला के जानने वाले, अन्तःपुर की बातें बिना किसी के जाने सुन आवें, छत्र, चंवर, झारी, यान, वाहन (सवारी) के धारण करने वाले महामात्र यह सब बाहर के समाचारों को जाने, तथा इसी प्रकार अच्छी रसोई करने वाला, शय्या करने में चतुर, थोड़ा व्यय करने वाले, शृंगार करने वाले, भोजन कराने वाले, शरीर दाबने वाले, जल, ताम्बूल, फूल, गंध और भूषणों के देने वाले आदि द्वारा चर लोग स्थिर चित्त से परस्पर दौत्य कार्य करते हुए विचरण करें।[३] सम्पूर्ण जगत् की इच्छा को जानते हुए जैसे सूर्य की किरणें जलों को ग्रहण करती हैं, उसी प्रकार सबकी व्यवस्था ग्रहण करते हुए अनेक शिल्पविद्या और अध्यापन विद्या में चतुर दूतगण अनेक प्रकार के रूप धारण किये हुए विचरण करें।[४] महाभारत के अनुसार गुप्तचर साधु, आदि ऐसे वेष में जायँ जिसमें पहचाने न जा सकें तथा उद्यान, मन्दिर, व्यापारस्थल, व्यायामशाला, सभा-भवन, सचिवालय आदि स्थानों पर उन्हें विचरण कर सूचना प्राप्त करनी चाहिए।

कौटिल्य ने भी गुप्तचर प्रणाली का विशद वर्णन किया है।[५] तदनुसार सम्राट को यह आदेश दिया गया है कि मन्त्रिपरिषद् का संगठन कर लेने के पश्चात् गुप्तचरों की रचना करेगा। अर्थात् मन्त्रिपरिषद् के पश्चात् महत्व की दृष्टि से दूसरा ही स्थान गुप्तचर प्रणाली को दिया गया था। अर्थशास्त्र के अनुसार गुप्तचर, शिष्य साधु, गृहस्थ, व्यापारी, तपस्वी, सहपाठी तीक्ष्णप्रकृति, विष देने वाला, भिक्षुणी आदि के वेश में भेजे जाने चाहिए। ये गुप्तचर हर प्रकार की पूर्ण सूचना सम्राट को देते रहते थे। अपने पद पर कार्य करने से पूर्व इन्हें भी सम्राट को सत्य सूचना देने के लिए शपथ ग्रहण करनी होती थी। गुप्तचरों की अनेक विशिष्ट श्रेणियाँ तथा तदनुसार उनके गुणों की व्याख्या भी अर्थशास्त्र में बहुत सुन्दर ढंग से वर्णित है। शत्रु के राज्य में भेद का बीज वपन करने का

---

१ कामन्दक—पृष्ठ १३६, श्लोक ३२।

२ उपरोक्त—पृष्ठ १३७, श्लोक ३६।

३ उपरोक्त—पृष्ठ १३८-१३६, श्लोक ४२ से ४७ तक।

४ उपरोक्त—पृष्ठ १३६, श्लोक ४८।

५ गुप्तचर चार मुख्य कार्य करते थे-(१) सब घटनाओं, विचारधाराओं तथा जनमत का अध्ययन कर उच्चाधिकारियों को सूचित करना। (२) विदेशी राज्यों में भ्रमण कर पूरी जानकारी देना। (३) राज्य में भ्रष्टाचार एवं चरित्रहीनता का अध्ययन करना। (४) राज्य के कर्मचारियों पर सक्सेनाजी का बहुत प्रभाव है। गुप्तचर दोनों लिंगों के होते थे। उपरोक्त।

कार्य भी इन्हें ही दिया जाता था। जनता के संतोष या असन्तोष, का पता भी ये ही लोग लगाते थे। साथ ही सम्राट सूचना के केवल एक स्रोत पर विश्वास नहीं करता था। जब अनेक साधनों से एक ही बात की पुष्टि होती थी, तब उस पर विश्वास किया जाता था। झूठी सूचना देने वाला गुप्तचर दण्डित भी किया जा सकता था। इसलिए गुप्तचरों का पूर्ण स्वामिभक्त होना अत्यावश्यक होता था। यदि वे बन्दी बना लिये जाते थे तो उनके साथ युद्ध के बन्दियों का सा व्यवहार होता था। उन्हें मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था। साथ ही उनकी सफलता उन्हें गौरवपूर्ण ढंग से सम्मानित एवं पुरस्कृत भी किया जाता था।[१] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में शासन व्यवस्था एवं सुरक्षा की दृष्टि से गुप्तचर विभाग बहुत उन्नत एवं महत्वपूर्ण था। जैसे वर्तमान समय में गुप्त सूचना विभाग (Intelligence Deptt.) अत्यधिक महत्वपूर्ण बना हुआ है, प्राचीन भारतवर्ष में भी समाज की ऐसी ही उन्नत एवं विकसित स्थिति थी यह सिद्ध होता है।

युद्ध-नियम (Laws of War):—अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में यदि कूटनीति, राजदूत एवं गुप्तचर विभाग अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में असफल हो जाते थे तब विभिन्न देशों के बीच उत्पन्न विवादों का निर्णय, अंतिम साधन युद्ध द्वारा होता था। इसलिए यह मान्यता बहुत स्पष्ट थी कि युद्ध की आवश्यकता कभी भी हो सकती है। प्राचीन भारत में युद्ध के संबंध में भी अनेक सिद्धान्त, नियम, एवं प्रकारों का वर्णन किया गया है। साधारणतया युद्ध के कारण नीचे लिखे थे:—

(१) साम्राज्ञीय प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए।
(२) आत्म रक्षा के लिए।
(३) अधिक भूमि या सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए।
(४) शक्ति संतुलन प्राप्त करने के लिए।
(५) आक्रमणों के प्रतिकार के लिए।
(६) पीड़ित जनता की मुक्ति के लिए।

युद्ध-प्रणाली के सम्बन्ध में भी आदर्शयुक्त नियम थे। कौटिल्य के मतानुसार युद्ध भी दो प्रकार के होते थे:—(१) धर्म युद्ध (प्रकाशयुद्ध) एवं (२) कूटयुद्ध (शकटयुद्ध)। जब युद्ध के साधारण नियमों का पालन किया जाता था, धर्मयुद्ध होता था और जब उचित-अनुचित नियमों का भेद न रखकर युद्ध किया जाता था, तब कूटयुद्ध होता था। तत्कालीन युद्ध के नियम इस प्रकार थे :—

(१) युद्ध-क्षेत्र में योद्धा को अन्त समय तक डटे रहना चाहिए, पीठ कभी नहीं दिखाना चाहिए।
(२) युद्ध में प्राण लेना तथा प्राण देना श्रेयस्कर माना जाता था।
(३) युद्ध सदैव समान लोगों के बीच होना चाहिए था।
(४) शस्त्रविहीन सैनिक पर आक्रमण नहीं किया जाता था।

१ अर्थशास्त्र—भाग १-अध्याय ११ से १४ तक बहुत सुन्दर वर्णन है।

५) निम्नलिखित व्यक्तियों को नहीं मारा जाता था:—
पैदल सैनिक (जब दूसरा दल सवारी युक्त हो), शिखण्डी, शरणागत, जो शत्रुता समाप्त कर चुका है, सोता हुआ व्यक्ति, आदि।

(६) एक व्यक्ति एक बार में एक ही व्यक्ति से युद्ध करेगा।

(७) सम्राट को केवल विजय के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये अपयशदायक होते हैं।

(८) कृषि, कृषक एवं साधारण जनता को पीड़ित न बनाया जाय तथा उपज सुरक्षित रहे।

(९) शत्रु की भूमि पर भी आग नहीं लगाई जायगी, न वृक्ष नष्ट किये जायँगे।

(१०) घायल सैनिकों को, चाहे वे शत्रु पक्ष के हों, चिकित्सा की सुविधा दी जायगी।

(११) अनुचित युद्ध नहीं किया जायगा तथा शक्ति-प्रयोग केवल उस सीमा तक किया जायगा; जब तक शत्रु आत्मसमर्पण न कर दे।

(१२) वृद्ध, स्त्री पुरुष, बालक तथा शरणागतों को नष्ट नहीं किया जायगा।

(१३) विषाक्त बाणों का प्रयोग (वेदों में—किया जाय, स्मृतियों में—न किया जाय) निषिद्ध था।

(१४) शत्रु पर अचानक, शस्त्रविहीन अथवा असमान अवस्था में आक्रमण नहीं करना चाहिए।

(१५) युद्ध-बन्दियों के साथ व्यवहार अच्छा तथा उपचार की सुविधा देनी चाहिए।[१]

उपर्युक्त नियमादि के पालन के लिए प्रत्येक क्षत्रिय को उत्तरदायी समझा जाता था, और इन्हीं नियमों के अनुसार युद्ध संचालित होता था। इसके अतिरिक्त तत्कालीन जनमत भी बहुत संगठित एवं प्रभावशाली होता था। इन कारणों से युद्ध सम्बन्धी नियमों का पालन सुचारु रूप से होता रहता था। धर्मयुद्धों में तो इन नियमों का पालन बड़ी तत्परता से होता ही था, कूटयुद्धों में भी ऐसे अनाचार या स्वेच्छाचार नहीं होते थे, जैसे आधुनिक समय सामान्यतः हो जाते हैं। नर-मुण्डों का ढेर लगाने का दम्भ या अन्य राक्षसी वृत्तियों को संतुष्ट करने वाली धारणाएँ, प्राचीन भारतवर्ष की युद्ध नियमावली में नहीं थीं। आत्मसमर्पण किये हुए, घायल और भागते शत्रु के प्रति उदारता का व्यवहार किया जाता था। युद्ध-समाप्ति के बाद शरणागत शत्रु पुनः स्वदेश भेज दिये जाते थे। उन्हें दास नहीं बनाया जाता था। ऐसी उदारता सचमुच अब अलभ्य है। युद्ध के फलस्वरूप जो कोष, बहुमूल्य पदार्थ, शस्त्र, खाद्य-सामग्री आदि मिलती थी, वह भी नियमानुसार विजेता राजा द्वारा ले ली जाती थी। नागरिकों की अचल सम्पत्ति पर भी कुछ समय के लिए अस्थायी अधिकार कर लिया जाता

---

१ भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः।
चिकित्स्यः स्यात्स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत्।
निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः॥ महाभारत XII 95. 13-14.

था। इस प्रकार युद्धसम्बन्धी बहुत प्रशस्त नियम विद्यमान थे और [illegible] भली भाँति किया जाता था।

युद्ध-प्रणाली--दूसरे देशों से सम्बन्ध रखने के लिए दण्डनीति, कूटनीति आदि उपायों का पूरी तरह प्रयोग करते रहने पर भी युद्ध आवश्यक हो जाते थे। अतः युद्ध-प्रणाली का संक्षिप्त वर्णन कर देना वृथा न होगा। प्राचीन काल में युद्ध-प्रणाली में समय समय पर संशोधन एवं परिवर्तन होता रहा है; परन्तु तत्कालीन कुछ पद्धतियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण थीं। व्यूहरचना द्वारा युद्ध करना उनमें से एक है। महाभारत में अभिमन्यु के युद्ध में चक्रव्यूह का प्रसंग सर्वविदित है। मनुस्मृति में लिखा है कि राजा को चाहिए कि दण्डाकार, शकटाकार, वराहाकार, मकराकार, सुई के आकार का, अथवा गरुड़ के आकार का व्यूह रचकर शत्रु पर आक्रमण करे और स्वयं पद्माकार व्यूह में रहकर संदेह की दिशा से सेना को आगे बढ़ाये।[१] आक्रमण के लिए कैसा समय, स्थिति तथा मार्ग अनुकूल होता है, आदि बातों पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था। सम्राट की प्रजा, मन्त्रिवर्ग तथा सेना जब तुष्ट एवं पुष्ट हो, तब युद्ध करना उचित माना जाता था। युद्ध के समय नगर की रक्षा का प्रबंध, युद्ध की समस्त सामग्री का साथ रखना, जलमार्ग, जंगलमार्ग आदि की सफाई करवा लेना तथा छहों प्रकार की सेना (पहले राज्य के 'बल' तत्व के प्रसंग में वर्णन किया जा चुका है) को सुसज्जित करने के पश्चात् युद्ध करना हितसाधक माना जाता था। इसके अतिरिक्त मित्र यदि छुपकर शत्रु से मिला है और जो सेवक किसी कारण से चला जाकर फिर आ गया है तो इन दोनों से बहुत सावधान रहना चाहिए; क्योंकि ये दोनों परम कष्टदायक शत्रु होते हैं।[२] इस प्रकार पर्याप्त रूप से विस्तृत वर्णन मिलता है।

उपर्युक्त वर्णन यह सिद्ध करने में समर्थ है कि प्राचीन भारत में कूटनीति शास्त्र, राजदूतों का आदान-प्रदान, उनके कठिन कार्य, गुप्तचर प्रथा तथा युद्ध-शास्त्र एवं युद्ध-प्रणालियाँ पूरी तरह से अपनाया हुआ शुद्ध ज्ञान था। यह सम्पूर्ण संस्थाएँ भारत के तत्कालीन समाज एवं राज्य को उत्कृष्ट रूप से समुन्नत एवं सभ्य राष्ट्र सिद्ध करती हैं। सबसे अधिक महत्व की बात यह थी कि इन सब शास्त्रों एवं विद्याओं का मूल आधार नैतिकता थी। युद्ध जैसी भयंकर परिस्थिति में फँस जाने पर भी तत्कालीन समाज अपने नैतिक दायित्वों को नहीं भुलाता था। भौतिक मूल्य कभी भी नैतिक मूल्यों पर विजय प्राप्त नहीं कर सके थे। महाभारत-काल में जाकर कूटनीति और युद्ध-नीति अवश्य अधिक कुटिल होने लगी थी, जब "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा" अथवा "सूच्यग्रं न दास्यामि" की बातें

---

१ दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा॥
यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥ मनुस्मृति--सप्तम अध्याय-१८७, १८८॥

२ मनुस्मृति—सप्तम अध्याय-श्लोक १८२-१८६।

चलने लगीं; किन्तु तो भी युद्ध के अधिकांश नियमों का पालन होता था। युद्ध के पश्चात् सायंकाल परस्पर मिलने-जुलने की प्रथा निरन्तर प्रचलित रही। अतः यदि यह कहा जाय कि प्राचीन भारत की कूटनीति आधुनिक काल की कूटनीति के समक्ष रखी जाय तो अधिक नीतिमय एवं सफल सिद्ध होगी, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्रश्न

1. Give the qualifications, duties & privileges of a Duta (envoy) in ancient India.
2. "The doctrine of Sadgunya (Six-fold Policy) was the corner stone of Diplomacy in ancient India"—Discuss.
3. State & Comment upon the main principles of diplomacy accepted in ancient India.

अठारहवाँ अध्याय

प्राचीन भारत में साम्राज्यवाद

(Imperialism in Ancient India)

प्रस्तावना—राज्यों के सम्बन्ध में वर्णन करते समय उनका वर्गीकरण तथा स्वरूप के विषय में पर्याप्त विवरण पहले के अध्यायों में दिया जा चुका है। परन्तु फिर भी साम्राज्यवाद का पृथक् वर्णन एक आवश्यकता सी अनुभव होती है। प्राचीन भारत में वैदिक काल से साम्राज्यों की स्थापना होती आई है और लगभग प्रत्येक काल में एक न एक साम्राज्य अवश्य रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। इन साम्राज्यों के रूप, गुण, आकार आदि के अनुसार नामावली में भी भेद रहा करता था और तदनुसार ही उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव रहता था। इन्हीं प्रश्नों का अधिक स्पष्ट अध्ययन करना अनिवार्य है।

प्रकार— वैदिक काल में नृपतंत्र (Monarchy) मुख्य रूप से चार प्रकार का माना जाता था—(१) नृपतंत्र या राज्य (Monarchy)

(२) महाराज्य (Great & High Monarchy)

(३) आधिपत्य (Over-Lordship)

(४) सार्वभौम (Pan-Country-Sovereignty)[१]

जहाँ तक नृपतन्त्र का प्रश्न है इसकी मान्यता के सम्बन्ध में विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। महाराज्य के सम्बन्ध में विशेष विवरण प्राप्त नहीं हैं; किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक दृष्टि से समान राज्यों में आंशिक प्रधानता अथवा प्राथमिकता लिये हुए राज्यों को यह संज्ञा दी जाती थी। अपने समीपस्थ राज्यों की अपेक्षा यह राज्य बड़ा होता था। सम्भवतः शासन प्रणाली की दृष्टि से भी महाराज्य अपेक्षाकृत उन्नत होता था। आधिपत्य अवश्य ही ऐसा राज्य था जो अन्य समीपस्थ प्रदेशों पर स्वामित्व के अधिकारों का प्रयोग करता था तथा संरक्षक के रूप में ऐसे प्रदेशों को अपने आधिपत्य में रखता था। प्राप्त प्रसंग में "समन्त पर्यायी स्यात्"[२] का उल्लेख है। इसके द्वारा पड़ोसियों के संरक्षण के लिए व्यवस्था करने की इच्छा प्रकट होती है। इसका तात्पर्य है कि एक राज्य अपनी सीमाओं से परे दूसरे राज्यों पर भी अधिकार रखता था और प्रभाव-

---

१ आत्रेय ब्राह्मण—As quoted by Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page 359.

२ उपरोक्त।

पूर्ण ढंग से उनका प्रयोग करता था। सम्राट खारवेल, अपनी विजयों के कारण अधिपति एवं चक्रवर्ती आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है।१ सार्वभौम बनने की आकांक्षा प्रत्येक शासक की होती थी। सार्वभौम का साधारण अर्थ यह होता था कि वह अपनी स्वाभाविक भौगोलिक सीमा तक, समुद्री तट तक तथा उस क्षेत्र के निवासी समस्त मानव मात्र पर शासन करता था। यह नृपतन्त्र का ही वृहत् रूप तथा एक महत्वपूर्ण प्रकार था। शतपथ में वर्णित जन-राज्य (Nation State) से यह बिल्कुल भिन्न था। सार्वभौम का साहित्यिक अर्थ यह भी होता है कि जो सार्व (समस्त + भौम (भूमि) समस्त भूमि तथा उससे संबंधित समस्त प्राणियों का अधिष्ठाता हो। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में चतुरान्त साम्राज्य की सीमाएँ चारों दिशाओं में निर्धारित होना आवश्यक बताया है।२ तत्कालीन भारतीय साम्राज्य की सीमाएँ कन्याकुमारी से हिमालय तक वर्णित हैं। इस प्रकार साम्राज्यीय प्रणाली में दो प्रकार अधिक प्रयोग में आते थे, एक तो आधिपत्य प्रणाली और दूसरी सार्वभौम प्रणाली। किन्तु हिन्दू दार्शनिकों ने इन एकच्छत्र राज्यों की निन्दा की है।

डा० जायसवाल के मतानुसार 'समराज्य प्रणाली' भी साम्राज्यीय प्रणाली का ही प्रकार था और सम्भवतः सार्वभौम प्रणाली से भी पहले प्रचलित था। इस प्रकार की प्रणाली में अनेक राज्य एक उत्तम राज्य के नेतृत्व में संगठित हो जाते थे। आजकल जिसे 'हम 'संघ-प्रणाली' कहते हैं यह लगभग उसी प्रकार का संगठन था। इसमें राजतंत्र के दोष नहीं होते थे। महाभारत में यह प्रसंग है कि जरासंध ने 'समरत' की उपाधि प्राप्त की थी और शिशुपाल इसी संघराज्य का मुख्य सेनापति था।३ उस समय संघ-प्रणाली प्रचलित हो चुकी थी। अनेक शासक एकत्रित होकर निर्वाचन करते थे और उसे सम्राट के पद पर आसीन करते थे। यह प्रणाली शासक स्वयं अपने हित के लिए, राज्य की सुरक्षा के लिए अपनाते थे। कभी कभी कोई सम्राट अपनी सत्ता का दुरुपयोग कर अन्य शासकों का शोषण या उन्हें पीड़ित भी करने लगता था, जरासन्ध ऐसे ही शासकों में से एक उदाहरण है। इस पद का निर्वाचन यह सिद्ध करता है कि सुयोग्य व्यक्ति की खोज होती थी तथा शासक वर्ग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मत का प्रयोग करते थे। इसीलिए विदेह का शासक जनक 'समरत' का पद प्राप्त कर सका था। प्रभावशाली व्यक्तित्व, चरित्र एवं ख्याति आदि के आधार पर अध्यक्ष चुना जाता था।

उक्त प्रणाली का विकास बाद में "सार्वभौम" राज्यों के रूप में हुआ। ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व यह प्रथा प्रारम्भ हुई थी। जब राष्ट्रीय राज्य, नृपतन्त्र तथा पौराणिक राज्य अस्त होने लगे, तब इस प्रथा का विकास आरम्भ हुआ। मगध, कौशल और अवन्ति ऐसे ही राज्यों में से थे। इसी समय राजनैतिक क्षेत्र में यह सिद्धान्त भी प्रचारित हुआ कि पतित राजवंशों से सत्ता छीन लेनी चाहिए। जो शासक अपने उचित कर्त्तव्यों का पालन

---

१ आत्रेय ब्राह्मण—As quoted by Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page 359.

२ Dr. Jayaswal—Hindu Polity-Page 360.

३ उपरोक्त—Page 361.

न करे तथा केवल उपभोग में व्यस्त हो जायं—ऐसे लोगों को पदच्युत करना, नागरिकों का अधिकार ही नहीं कर्तव्य भी माना जाने लगा। यह व्यवहार 'कुटिल-नीति' के नाम से विख्यात हुआ। इसी व्यवस्था को "चक्रवर्त्ती-पद्धति" भी कहा जाता था। इसका तात्पर्य उस राज्य से होता था जिसके सम्पूर्ण क्षेत्र में सम्राज्ञीय चक्र-निर्बाध गति से प्रचलित होता रहे। महात्मा बुद्ध ने राजनीति की शब्दावली से ही 'चक्र' शब्द लेकर 'धर्मचक्र' द्वारा धार्मिक साम्राज्य की धारणा व्यक्त की थी। उसके पश्चात् शताब्दियों तक राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में साम्राज्य स्थापित करने की परिपाटी चलती रही। इस परिपाटी का मुख्य उद्देश्य केवल एकता स्थापन था। प्रारम्भ में अत्यधिक उत्साह के कारण यह प्रथा बहुत लोकप्रिय रही; किन्तु बाद में लुप्त सी होने लगी। यहाँ तक कि राज्यों के मान्यताप्राप्त स्वरूप में गिना जाना भी रुक गया। पुनः संघात्मक राज्य की परम्परा विकसित होने लगी। यह विश्वास दृढ़ हुआ कि प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रतापूर्वक रहने का मौलिक अधिकार है।

तत्कालीन साम्राज्यों में शासन की प्रचलित प्रथाओं में अनेकरूपता होते हुए भी कुछ सामान्य विशेषताएं थीं। **सत्ता का केन्द्रीयकरण** सबसे प्रमुख विशेषता मानी जा सकती है। नियम एवं न्याय व्यवस्था शासनानुकूल होने लगी थी, राज्य के कर्मचारी सम्राट की आज्ञा ही सब कुछ समझने लगे तथा ग्रामों की व्यवस्था भी ऊपर से नियंत्रित होने लगी। समुद्री तथा स्थलीय व्यापार, उद्योग आदि राज्य के अधीन हो गए। गुणों के विकास के साथ कुछ अवगुण भी विकसित हुए। वेश्यावृत्ति, जुआ, विश्रान्तिगृह, मधुशालाएं (मदिरालय) आदि के विभाग भी राज्य ने संगठित किये। खानों आदि पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण हुआ। इस प्रकार राज्य ने (एकमुख) सारा काम केन्द्रित कर दिया था। जहाँ अधिक केन्द्रित शासन हुआ, असफलता रही, जैसे मगध में अन्यथा उदारवृत्तिमय साम्राज्य केन्द्रित होते हुए भी, सफल रहे, जैसे बौद्धसंघ आदि।

उपर्युक्त विभिन्न पद्धतियों का समय बीत जाने पर प्राचीन भारत में साम्राज्ञीय प्रणाली का नवीन रूप विकसित हुआ, जिसे संतुलन पद्धति (Compromise) कह सकते हैं। यह ऐसा तन्त्र था जिसमें नृपतन्त्र, संघतंत्र तथा आधिपत्य का थोड़ा थोड़ा अंश सम्मिलित था। उत्तर वैदिक काल में ऐसे राज्य अवश्य सफल रहे थे। इस प्रकार ये साम्राज्य संक्षेप में राजतंत्र के ही बृहद् रूप थे। वैधानिक दृष्टि से ये शक्तियाँ, शांति और युद्धकाल में विभिन्न रूप से प्रकट होती थीं।

सम्राट का स्थान एवं महत्व—राज्यों की शासन व्यवस्था में अन्तर होते हुए भी सम्राट का स्थान तथा उसके साथ सम्बन्धित कर्त्तव्यभावना प्राचीन काल में सदैव ही प्रधान रही। वास्तव में सर्वेसर्वा रहते हुए भी संवैधानिक दृष्टि से सम्राट सदैव ही प्रजा का सेवक रहता था। डा० जायसवाल ने लिखा है कि सम्राट "संवैधानिक दास" की स्थिति में रहता था।[१] कौटिल्य ने, जिसे डा० जायसवाल ने हिन्दू हाब्स और नृपतन्त्र का समर्थक कहा है, लिखा है कि सम्राट को सदैव प्रजा की इच्छानुसार व्यवहार करके ही आनन्दित होना

---

१ "Constitutional Slave"—Dr. Jayaswal-Hindu Polity-Page 353.

चाहिए।[१] इसी त्याग एवं सेवाभाव के कारण सम्राट का स्थान अत्यन्त प्रतिष्ठित बन जाता था। नैतिक बल उसका आधार था। महाभारत में सम्राट का जन्म ही दूसरों की सेवा के लिए (परहितार्थ) बताया गया है। जैसे अश्व अथवा अन्य समाजोपयोगी जीवधारी परोपकार के लिए ही जीवन व्यतीत करते हैं। इसी प्रकार सम्राट का जीवन भी दूसरों के लिए ही होता था। इसी दृष्टि से वह सम्पूर्ण साम्राज्य की व्यवस्था करता था, जिसमें व्यक्तिगत भावनाएं प्रधान न रहकर, 'जनहित', सामान्य-हित आदि के उच्च आदर्शों से प्रेरणा मिलती थी। अन्य मन्त्रिगण तथा प्रशासकीय अधिकारी परिवर्तित होते रहते थे, किन्तु सम्राट सदैव दीर्घ काल तक समस्त उत्तरदायित्व का केन्द्र रहता था। वह निर्बल होते हुए भी राज्य का प्रतीक माना जाता था।[२] शुक्रनीति के अनुसार राज्य रूपी वृक्ष का मूल सम्राट ही होता था। तदनुसार मन्त्रिपरिषद् स्कन्ध (Trunk), सेनाध्यक्ष शाखाएं, सेना पल्लव, प्रजा कुसुम, फल जन-समृद्धि, तथा बीज समस्त भूमि ही था।[३] महाभारत-काल में भी सम्राट का पद तथा कार्य सर्वश्रेष्ठ आदर्श माना जाता था और इसे सब धर्मों से श्रेष्ठ समझने की भावना व्याप्त थी।[४] जीवन के समस्त कर्मों में प्रशासकीय कार्य उत्कृष्ट समझा जाता था। इस प्रकार प्राचीन भारतवर्ष में सम्राट का स्थान समाज में सर्वोच्च एवं राज्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

प्रश्न

1. Is it true that the social organization in ancient India.' Was based secularism ? Discuss.
2. Discuss that there was a welfare state in ancient Hindu India.

---

१ प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ अर्थशास्त्र भाग १, अनुच्छेद १९ (१६)।

२ ध्वजमात्रोऽयम्। अर्थशास्त्र-भाग ५, अनु० ६।९५।

३ राज्यवृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मन्त्रिणः।
शाखाः सेनाधिपाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च।
प्रजाः फलानि भूभागा बीजं भूमिः प्रकल्पिता। शुक्रनीतिसार/५।१२॥

४ सर्व-धर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम्। (Of all dharmas rulership is the highest Society, for all times) Dr. Jayaswal—Hindu Polity-Page 354.

उन्नीसवाँ अध्याय

प्राचीन भारत में समाजवा

(Socialism in Ancient India)

प्रस्तावना—समाज की प्रत्येक संस्था वहाँ की भूमि के अनुसार स्वयं उत्पन्न होती है और उसके पश्चात् स्थानीय परिस्थिति विशेष एवं वातावरण के द्वारा विकसित होती रहती है। साधारणतया दूसरे स्थानों की व्यवस्था का अनुकरण समाज में प्रचलित है, किन्तु अनुकरण के पश्चात् भी वे संस्थाएं उस समय तक सफल नहीं हो सकतीं; जब तक वे स्थानीय वातावरण के अनुकूल नहीं हो पातीं। प्राचीन भारत में विभिन्न संस्थाओं एवं प्रणालियों का इतिहास अत्यधिक गौरवमय रहा है। शताब्दियों का इतिहास यह सिद्ध करता है कि विदेशी आक्रमण एवं आंतरिक संघर्षों द्वारा सामाजिक एवं राजनीतिक विकास-क्रम कभी अवरुद्ध और कभी दिशा परिवर्त्तन की कठिनाइयों का सामना करता रहा है। किन्तु भारतीय जीवन का गुप्त स्रोत सदैव शक्तिशाली रहा है। उसी का फल है कि अनेक विदेशी प्रभाव एवं संस्थाओं के सम्पर्क में रहकर, विदेशी जीवन की भौतिक वृत्तियों को निकट से देखकर तथा जीवन को सुखमय बनाने के साधनों की उपलब्धि होने पर भी भारतवर्ष सामाजिक जीवन के मूल्यों को वास्तविक, एवं न्यायिक दृष्टि से ही समझता रहा है। वास्तव में सच यह है कि प्राचीन भारत के समस्त संगठन की पृष्ठभूमि हमारे ग्राम थे। उनका सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन इस प्रकार संगठित था कि साम्राज्य का उत्थान-पतन, युद्धों में विजय-पराजय, आक्रामकों का आवागमन आदि उन्हें प्रभावित नहीं कर सकते थे। सब प्रकार की आपत्तियों के समय भी भारतीय ग्राम चट्टान की भाँति अविचल तथा समुद्र की भांति शांत रहते थे। ग्रामों की इस स्थिति का मुख्य कारण था तत्कालीन समाजवाद। राज्य का इस ओर कितना योग था, यह हमें देखना है।

प्राचीन भारत में समाजवाद—वर्त्तमान युग में समाजवाद का मूल अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति व्यक्तिगत न होकर समाज या समुदाय के अधिकार में रहे, जिससे सभी को आवश्यकतानुसार उसके उपयोग की समान सुविधा रहे और धनी-निर्धन की विषम समस्या उत्पन्न न हो। साथ ही समाज के उत्पादन के साधन आदि भी किसी एक अथवा कुछ व्यक्तियों के आधिपत्य में न होकर समाज द्वारा नियंत्रित हों, जिससे उत्पादन, वितरण, उपभोग आदि में अन्याय न हो। इस दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में भारत में भी समाजवादी व्यवस्था थी। प्राचीन भारत की राजनैतिक व्यवस्था के संबंध में

कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ के विख्यात टीकाकार श्री भट्टस्वामी का मत है कि प्राचीन काल में जल और स्थल का स्वामी सम्राट ही होता था; इन दो के अतिरिक्त अन्य सब चीजों के स्वामी प्रजा के लोग हो सकते थे। यद्यपि कौटिल्य ने स्वयं यह कहीं स्पष्ट नहीं किया है कि भूमि का स्वामित्व व्यक्तिगत भी हो सकता है अथवा नहीं; तथापि इस बात का समर्थन किया है कि राज्य को अपने नागरिकों का बाहर जाना तथा विदेशियों का अपने यहां आना प्रोत्साहित करना चाहिए, नवीन नगरों की स्थापना करनी चाहिए। राजकीय भूमि (Crown Lands) जीवन भर के लिए कृषकों को दे देनी चाहिए; किन्तु यदि वे उचित रूप से कृषि करने में असमर्थ हों तो भूमि अन्य लोगों को दे देनी चाहिए। इस प्रकार भूमि का स्वामित्व, व्यक्तिगत न होकर, राज्य अथवा समाज का होना सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त कौटिल्य के अनुसार राज्य के अन्य बहुत से कार्यों का नियंत्रण एव निर्देशन भी अधीक्षकों (Supeirntendents) के अधीन होना चाहिए था। तदनुसार देश के **वनों का स्वामित्व** तथा प्रशासन भी राज्य का होना चाहिए और वन की समस्त उपयोगी वस्तुएं; जैसे ईंधन, घास, लकड़ी आदि पर भी राज्य का आधिपत्य रहना चाहिए। इसी प्रकार कौटिल्य ने खानों तथा खनिज वस्तुओं पर राज्य के एकाधिकार का समर्थन किया है। राज्य के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति केवल विशेष आज्ञानुसार ही खानों आदि का उपयोग कर सकते थे। कौटिल्य ने तो यह भी लिखा है कि अन्य उद्योग-धन्धों: जैसे तेल, आटा, शक्कर आदि पर भी राज्य का नियन्त्रण अनिवार्य है। सम्राट को मत्स्य क्षेत्र (Fisheries), नौकाविहार तथा पुष्करिणी एवं झीलों आदि में शाक आदि वस्तुओं के व्यापार पर भी स्वामित्व के अधिकार का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार जल और स्थल की समस्त महत्वपूर्ण वस्तुओं और उनके उत्पादन पर राज्य का स्वामित्व होता था, व्यक्ति का नहीं। यही प्राचीन समाजवाद का शुद्ध रूप है।

इसके अतिरिक्त राजकीय व्यवस्था भी पूंजीपति रूप में न होकर लोककल्याणकारी राज्य की भाँति थी। यह निम्नलिखित वर्णन से सिद्ध हो जायगा:—कौटिल्य का मत है "जल-यान एवं नौकाएं राज्य की ही होनी चाहिए तथा निश्चित मूल्यों पर उनका प्रयोग संभव रखना चाहिए। खनिज वस्तुओं का व्यापार राज्य द्वारा केन्द्रित किया जाय और इन वस्तुओं को निश्चित क्षेत्र से बाहर उत्पन्न करने, क्रय एवं विक्रय करने वालों के लिए दण्ड विधान भी करना चाहिए। राज्य के हित के लिए तथा अनुचित लाभ रोकने के लिए मूल्य एवं लाभ भी निर्धारित किये जाने चाहिए। साधारणतया गृह उत्पादन की वस्तुओं पर ५ प्रतिशत तथा आयात वस्तुओं पर १० प्रतिशत का लाभ उचित मानना चाहिए। विशेष परिस्थितियों में (जैसे वस्तुएं न बिकें, हानि हो जाय आदि) मूल्य बढ़ाये भी जा सकते थे। परन्तु मिश्रण (Adulteration) आदि करने के अपराध में पूंजीपतियों के लिए कठिन दण्ड की व्यवस्था भी होनी चाहिए। श्रमिकों के हितों की रक्षा का भार भी राज्य पर स्वीकार किया गया था। यदि बिना पारिश्रमिक निश्चय किये कोई व्यक्ति श्रम करता था तो

कृषक या ग्वाले को कमशः उपज या घी का १/१० वाँ भाग मिलना चाहिए। दास प्रथा नियंत्रित एवं नियमित बनानी चाहिए थी और मुर्दे घसीटना, मल-मूत्र अथवा जूठन साफ करना आदि कार्य लेकर अथवा अन्य प्रकार से दासों के साथ दुर्व्यवहार करना चाहिए।"

समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार तथा जन-हित की दृष्टि से राज्य पर यह दायित्व भी रखा गया था कि निर्धन, गर्भवती स्त्रियाँ तथा उनके नवजात शिशु, अथवा बालक, वृद्ध पुरुष, पागल, अपंग तथा निस्सहाय आदि लोगों की सहायता की जाय। बेकारों को काम दिलाना तथा विधवाओं, क्षीण अंग स्त्रियों, कन्याओं, भिक्षुणियों आदि को कताई केन्द्र में सूत कातने के कार्य पर लगाना भी राज्य का ही उत्तरदायित्व होता था। महामारी के समय उपचार की व्यवस्था तथा अन्य आपत्तियों के समय जनता की सहायता करना भी सम्राट का कर्त्तव्य था। बाढ़पीड़ितों के लिए सहायता कार्य का विधान तथा अग्नि के प्रकोप से बचाने के लिए जलयुक्त घट, कुल्हाड़े, सीढ़ी (Ladder) आदि की व्यवस्था भी राज्य करता था। इन व्यवस्थाओं के लिए व्यावहारिक तथा दैविक सब प्रकार के साधन काम में लिये जाते थे। अभी जागीर पुनर्ग्रहण के नियम से पहले तक भी राजस्थान में ऐसी अनेक जागीरें थीं जो अनेक प्रकार की आपत्तियों को दैवी सहायता से दूर करने के लिए प्रदान की गई थीं।[१] संकट-काल में सम्राट हर प्रकार की सहायता का प्रयत्न करता था, चाहे स्वयं के साधनों से, मित्र शासकों की सहायता से, सम्पत्तिशालियों के सहयोग से, किसी भी तरह व्यवस्था करना उसका धर्म माना गया था।

इस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में समाजवाद का चित्र दृष्टिगत होता है। जहाँ उत्पादन के साधन समाज के अधिकार में थे, श्रमिकों का हित, राज्य की परिस्थितियों का नियंत्रण, संकटकाल में सब प्रकार की व्यवस्था आदि के कार्य राज्य के ही अधीन थे। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्त्तमान समय में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत समाजवादी व्यवस्था संबंधी नीति न नई है और न विदेशों से ली हुई, वरन् हमारे स्वयं के अतीत की अटूट निधि का एक अमूल्य एवं अनुभूत योग है। डा० पणिक्कर के मतानुसार भारत ने राजनैतिक विचार-परम्पराएं उत्तराधिकार में प्राप्त की हैं और वे इतनी मौलिक, जितनी यूरोप की कोई भी अन्य संस्थाएं। राजनैतिक, प्रशासकीय तथा आर्थिक समस्याओं का राज्य से कैसा और क्या संबंध है, ऐसे गम्भीर प्रश्नों का विवेचन जिस स्वतंत्रता से किया जाता था, वह स्तर कम से कम १६वीं शताब्दी तक तो यूरोप में प्रचलित नहीं था। इस प्रकार प्राचीन भारत का समाजवाद बहुत सुन्दर, संगठित एवं संवैधानिक सा प्रतीत होता है।

---

१ उदाहरणार्थ, 'टिड्डीटाल' की जागीर इसलिए दी जाती थी कि जब कभी उस भाग में टिड्डी दल का प्रकोप हो, तो वह व्यक्ति (अधिकांश नाथ, भारती, गोसाईं वैरागी लोग होते थे) जो उस क्षेत्र की टिड्डी दल से रक्षा करने के लिए जागीर का उपभोग करता था, अपनी मंत्र अथवा तंत्र शक्ति से उस टिड्डी दल को बिना नुकसान पहुंचाये क्षेत्र से बाहर निकाल देता था। यह कहावत है कि वह घट का केवल मुंह लेकर खड़ा हो जाता था और फिर ऐसा योग करता था कि सारी टिड्डियाँ उस घट-मुख में होकर कहीं दूर निकल जाती थीं। इस कथन में कोई सत्य नहीं प्रतीत होता, परंतु 'टिड्डी-टाल' की जागीरें होती थी—यह सत्य है।

सामाजिक सेवाएँ (Social Services):—जैसा ऊपर समाजवाद के संबंध में में कहा गया है। लगभग उसी प्रकार यह भी सच है कि प्राचीन भारत में सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था थी। यह तो स्वीकृत मत है कि भारत में सदा से धर्म का प्राधान्य रहा है। इसलिए प्रत्येक कार्य का महत्व धर्म की भाषा में समझाया गया है। सम्राट के अधिकार, प्रजा के कर्त्तव्य तथा परिवार आदि इकाइयों में भी पिता-पुत्र के परस्पर कर्त्तव्यों आदि की व्याख्या धर्म द्वारा ही हुई है। इसी प्रथा के अनुसार प्राचीन हिन्दू शासकों के द्वारा अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए समय-समय पर अनेक सामाजिक कार्य किये जाते थे। वास्तव में इन कार्यों को व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य जनता के सुख एवं कल्याण की वृद्धि करना होता था। सड़कें बनाना, विश्रामगृह बनाना, कुएँ खुदवाना, मार्गों पर वृक्ष लगवाना, परोपकारी कार्य करना आदि सेवाएँ लगभग प्रत्येक शासक द्वारा की जाती थीं। उस समय इन कार्यों में राज्य ही अग्रणी होता था, जनता का भाग नहीं के बराबर था। इसलिए विभिन्न शासकों पर निर्भर होने के कारण सामाजिक सेवाओं का प्रारम्भ या स्थगन समय तथा शासक के अनुसार चलता रहा। परन्तु सम्राट अशोक के समय में तो सामाजिक सेवाओं का कार्य राज्य का प्रधान कर्त्तव्य माना जाने लगा। उसके प्रस्तर-लेख, स्तम्भ-लेख आदि इस स्थिति को बहुत स्पष्ट करते हैं। इन्हीं प्रमाणों से यह भी प्रकट होता है कि सामाजिक सेवाओं का श्रीगणेश करने वाला प्रथम शासक अशोक नहीं है। एक लेख में अशोक ने लिखा है कि "मैं वही कार्य कर रहा हूं, जो मेरे पूर्वज कर चुके हैं।" अतः यह सिद्ध होता है कि सामाजिक सेवा का प्रचलन भारतवर्ष में बहुत प्राचीन है।

तत्कालीन सामाजिक सेवाओं का उद्देश्य मानवमात्र की उन्नति करना होता था, इसलिए धर्म का उपयोग किया जाता था। धर्म के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति, अधिकारी तथा संबंधित नागरिकों को कर्त्तव्यपरायणता की शिक्षा दी जाती थी और दूसरी ओर राज्य द्वारा लोक-सेवाओं की व्यवस्था की जाती थी। इस दृष्टि से प्राचीन और अर्वाचीन सेवाओं में बड़ा भेद मालूम होता है। उदाहरण के रूप में आजकल सेवाओं का उद्देश्य सामाजिक शिक्षा का प्रसार एवं ग्राम विकास योजनाओं को सफल बनाना तथा जनता को संगठित कर उन्नति के मार्ग पर उन्मुख करना होता है; परन्तु प्राचीन समय में जनता में ऐसी जागरूकता पैदा करने की ओर ध्यान न देकर उनकी सामूहिक उन्नति की व्यवस्था की जाती थी। सामाजिक सेवा से अन्य दूरस्थ संबंध नहीं से थे। केवल धर्म अर्थात् कर्त्तव्यपरायणता जागृत की जाती थी, भौतिक वैभव और समृद्धि की ओर सीधा लक्ष्य नहीं किया जाता था। वास्तव में तो कर्त्तव्यपरायणता से समृद्धि उत्पन्न होती ही थी और यह अधिक श्रेयस्कर होती थी। गीता में 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का नाद इसी ओर इंगित करता है। परन्तु वर्त्तमान समय में समृद्धि और वैभव का आकर्षण दिखाकर कर्त्तव्य भावना को प्रेरित करने का प्रयास किया जाता है, जिसमें सफलता नहीं मिलती।

प्राचीन समय के राज्य प्राणिमात्र का हित करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। सम्राट अशोक ने मानव के लिए ही सड़कें, विश्रान्तिगृह, कुएँ, वृक्षारोपण आदि नहीं किया परन्तु

पशु-पक्षियों के सुख के लिए भी व्यवस्था की थी। मेगास्थनीज की डायरी में ऐसी अनेक आकर्षक बातें हैं जो इस पक्ष पर प्रकाश डालती हैं। हाथी और घोड़े केवल राज्य ही रख सकता था; क्योंकि इन उच्चजातीय पशुओं का पालन साधारण व्यक्ति की क्षमता के बाहर था। बन्दर, श्वान, तोते, केला, केरकियाँ (ये दोनों प्रकार के पक्षी अब शायद नहीं मिलते), मछलियां, कश्यप आदि की भी व्यवस्था की जाती थी। मेगास्थनीज का मत है कि उस समय पंख वाले बिच्छू, पंख वाले सर्प तथा समुद्री सर्प भी भारतवर्ष में होते थे। एक ऐसे जानवर का भी वर्णन है जो आकार में घोड़े से दुगुना बड़ा और गहरे बालों वाली पूँछदार होता था; परन्तु किसी की दृष्टि में नहीं आना चाहता था इसलिए संकोचशील वृत्ति के कारण पलायनवादी प्राणी था। इस प्रकार अनेक प्रकार के पशु उस समय थे। राज्य की ओर से पशु-चिकित्सालयों की स्थापना की जाती थी।

सम्राट अशोक के राज्यकाल में मानवी मूल्य अपने प्रतिष्ठित स्थान पर थे। वयोवृद्ध नागरिकों का सम्मान तथा अंगहीन लोगों के प्रति दया-भाव रखना वह आवश्यक समझता था और यह केवल उपदेश की दृष्टि से नहीं, किंतु स्वयं भी ऐसे आदर्शों का पालन करता था। वह स्वयं कहता था कि मैं चाहे स्वयं भोजनालय में होऊँ, चाहे शयन गृह अथवा अश्वपीठ पर, चर एवं दूतों को चाहिए कि जनता का विग्रह, कष्ट आदि की सूचना मुझे तत्काल दें। सामाजिक कल्याण की दृष्टि से ही अशोक ने **"धर्ममहामात्र"** की संस्था स्थापित की। इन लोगों का कर्त्तव्य था कि वे जनता की भौतिक समृद्धि एवं आध्यात्मिक उन्नति के हेतु हर सम्भव सहायता करें। इस प्रकार ये लोग शरीर, ज्ञान और विज्ञान, (दैहिक, भौतिक एवं दैविक) आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए ही नियुक्त किये गये थे।

दूसरी श्रेणी के कर्मचारी **"राजुक"** कहे जाते थे। इसका मुख्य कार्य अन्य राज्य कर्मचारियों को पुरस्कृत एवं दण्डित करने के लिए जानकारी प्राप्त करना। इससे कर्मचारी विश्वास एवं दृढ़तापूर्वक अपने कार्य में संलग्न रहते थे। 'राजुक' लोगों को जन-सम्पर्क द्वारा जनता के हित एवं सुख का पूर्ण ज्ञान होता था। अशोक के शासन-काल में तो अपराधियों तक को पर्याप्त स्वतंत्रता मिलती थी। उदाहरण के रूप में मृत्युदण्ड पाने वाले अपराधी को दण्ड से पूर्व तीन दिन का समय दिया जाता था, जिसमें वह अपनी भौतिक (सांसारिक) व्यवस्था कर सके तथा दूसरे लोक में जाने की दृष्टि से प्रार्थना या उपवास आदि द्वारा तैयारी कर सके। यह अपराधियों का मूल अधिकार स्वीकार किया गया था। इस प्रकार उस समय राज्य प्रशासन द्वारा अनेक सिद्धान्त स्वीकार किये गए थे। विशेष रूप में नागरिकों द्वारा राज्य की सेवा प्राप्त करने तथा नियम के समक्ष पूर्ण रूपेण समानता के अधिकार अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थे।

उपर्युक्त सम्पूर्ण वर्णन का अध्ययन करने के पश्चात् यह एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्राचीन भारतवर्ष की व्यवस्था क्या लोककल्याणकारी राज्य की थी? बहुत अधिक मात्रा में इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त वर्णन के आधार पर स्वीकारात्मक रूप में मिल जाता है; परन्तु वर्त्तमान समय का यह एक महत्वपूर्ण विषय होने के कारण हम पुनः इस दृष्टि से संक्षिप्त वर्णन करना अच्छा समझते हैं।

प्राचीन भारत में लोककल्याणकारी राज्य (Welfare State Ancient India):—आधुनिक समय में राज्य को एक कल्याणकारी समुदाय के रूप समझा जाने लगा है प्राचीन समय की व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार केवल सुरक्षा, शांति एवं न्याय के कार्य सम्पादित कर, वाणिज्य, शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी आदि की समस्याओं को छोड़कर वर्त्तमान राज्य संतुष्ट नहीं रह सकता और न समाजवादी की भाँति अत्यधिक नियंत्रण ही संभव हो सकता है। इसलिए वर्त्तमान समय में राज्य को सेवा-राज्य स्वीकार किया जाने लगा है। वास्तव में लोकतन्त्रात्मक राज्य का मुख्य उद्देश्य लोक-सेवा ही है। अतः राज्य अशिक्षा, बेकारी, निर्धनता, अस्वास्थ्य, शराबखोरी इत्यादि बुराइयों को दूर करना भी अपना कर्त्तव्य समझता है। यही नहीं, राज्य प्रत्येक क्षेत्र का नियमन (Regulation) करता है अर्थात् व्यापार एवं वाणिज्य के नियम बनाना, नए कर निर्धारित करना, उत्पादन एवं वितरण आदि पर नियंत्रण रखता है। विवाह, छूआछूत, जायदाद इत्यादि के संबंध में भी राज्य कानून बनाता है। यह लोककल्याणकारी राज्य का चित्र है। इस दृष्टि से देखने पर प्राचीन भारतवर्ष के राज्य पूर्ण रूप से कल्याणकारी राज्य की परिसीमा में सम्मिलित होते हैं। तत्कालीन राज्य सामाजिक, आर्थिक, परोपकार, स्वास्थ्य तथा औद्योगिक एवं विकास के क्षेत्र में भली प्रकार नियंत्रण करते थे। इन सब क्षेत्रों में राज्य की कार्य प्रणाली का वर्णन हम क्रमशः करेंगे।

सामाजिक कार्य:—साधारणतया प्राचीन भारत के राज्य स्वयं को जनता के संरक्षक समझते थे। इसलिए जनता के विरोधी स्वार्थों का समन्वय करना, शांति स्थापित रखना, दास एवं स्वामी के मध्य मधुर संबंधों की स्थापना करना आदि कार्य किये जाते थे। इन कार्यों से संबंधित नियम बनाये जाते थे और उनका पालन दृढ़तापूर्वक किया जाता था। स्वामी और सेवक के संबंध में सम्राट अशोक के समय में यह नियम था कि यदि सेवक का अपराध न होते हुए कार्य बन्द रहता है तो भी स्वामी द्वारा वेतन देना अनिवार्य था। साथ ही यदि सेवक कर्त्तव्यच्युत होता, चोरी करता अथवा सम्पत्ति आदि को क्षति पहुँचाता तो उसे दण्डित किये जाने की व्यवस्था भी थी। इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में संतुलित व्यवस्था की जाती थी।

आर्थिक कार्य:—इस क्षेत्र में उपभोक्ताओं की रक्षा का दायित्व राज्य पर था। साधारण अनिवार्यताओं की वस्तुओं का मूल्य सामान्य स्तर पर रहना आवश्यक था। राज्य यह ध्यान रखता था कि व्यापारिक लोग ऐसी वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर ऊँचा न कर दें जो जनता के लिए अनिवार्य हैं, आवश्यकतानुसार मूल्यों का निर्धारण भी जनहित की दृष्टि से राज्य द्वारा कर दिया जाता था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि उत्पादकों अथवा व्यापारी वर्ग के हितों का ध्यान नहीं रहता था। उत्पादन की आवश्यक सामग्री, श्रमिकों का वेतन, कर-शुल्क आदि, यातायात व्यय आदि को ध्यान में रखकर ही मूल्य निर्धारित किये जाते थे। इसके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में राज्य सदैव क्रियाशील तथा जागरूक रहता था। तौल के लिए सर्वत्र एक से बाट प्रयोग में लाये जाते थे। जिन पर राज्यांक होता था, वे ही बाट काम

में लाये जा सकते थे, इसके विरुद्ध व्यवहार करने वाले दण्डित होते थे खाद्य तथा अन्य वस्तुओं में मिश्रण करने वाले तथा अन्य किसी भी प्रकार का धोखा या छल करने वाले व्यापारी दण्ड के भागी होते थे। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में राज्य का पर्याप्त नियन्त्रण था।

परोपकारी कार्य:—जनता का कष्ट-निवारण करना राज्य का धर्म समझा जाता था। इसलिए अपाहिज, अस्वस्थ एवं निस्सहाय व्यक्तियों की सहायता के लिए व्यवस्था की जाती थी। अनाथों के लिए, वृद्ध एवं विचलित मस्तिष्क वाले पुरुष एवं स्त्रियों के लिए सदाव्रत की व्यवस्था की जाती थी। जैसा ऊपर कहा गया है—निर्धन गर्भवती स्त्रियों के लिए सहायता का प्रबन्ध होता था। बेकारी के कारण कष्ट में होने वाले परिवारों के लिए कताई विभाग में कार्य दिया जाता था। समाज में साधु अथवा सन्यासी बनना भी राज्य द्वारा नियंत्रित था। अपने ऊपर निर्भर रहने वाले परिवार के सदस्यों की व्यवस्था किये बिना कोई व्यक्ति साधु नहीं बन सकता था। इसी प्रकार समर्थ नागरिकों का यह उत्तरदायित्व स्वीकार किया गया था कि वे अपने अल्पवयस्क भाई-बहिन तथा अपनी संतान का पोषण करें। इस कार्य में त्रुटि होने पर ऐसे नागरिक दण्ड के भागी होते थे। इस प्रकार परोपकार के क्षेत्र में राज्य बहुत सावधान एवं कर्त्तव्यारूढ़ था।

स्वास्थ्य संबंधी कार्य:—जन-स्वास्थ्य प्राचीन काल में राज्य द्वारा महत्वपूर्ण विषय समझा जाता था। अशोक के समय में जिस प्रकार स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य किये जाते थे, उनसे यह सिद्ध होता है कि राज्य इस क्षेत्र में बहुत क्रियाशील था। प्रत्येक परिवार के निवासस्थान में नालियों की व्यवस्था होती थी और कूड़ा-करकट आदि गन्दगी एक निश्चित स्थान पर फैंकने का विधान था। इस नियम का उल्लंघन करने वाले दण्ड पाते थे। स्वास्थ्य की दृष्टि से अनाज, तेल, घृत, औषधि आदि में किसी भी प्रकार का मिश्रण वर्जित था एवं मिश्रण करने वाले के लिए कठिन दण्ड की व्यवस्था थी। बीमारी, महामारी आदि आपत्तियों के समय राज्य द्वारा स्वास्थ्य की सुरक्षा तथा बीमारियों को रोकने के लिए अथक परिश्रम किया जाता था। अकाल के समय राज्य के अन्न-भण्डारों को उपयोग करते हुए जनता की सहायता की जाती थी। निर्धन नागरिकों का भार कम करने के लिए सम्पत्तिशालियों से अधिक कर संग्रह किया जाता था। इसी प्रकार अन्य आपत्तियों (बाढ़, अग्नि आदि) के समय भी राज्य जनता की सहायता के लिए प्रत्येक संभव प्रयत्न करता था। इस प्रकार स्वास्थ्य एवं जन-कल्याण के विभिन्न कार्य राज्य द्वारा सम्पन्न किये जाते थे।

औद्योगिक कार्य:—प्राचीन भारत में राज्य के सात प्रमुख अंग माने गये थे और कोष उनमें से एक प्रमुख तत्व था। कोष की पूर्णता पर राज्य की सफलता और समृद्धि निर्भर करती थी। वर्त्तमान समय की भाँति उस समय भी राज्य उद्योग के क्षेत्र में क्रियाशील रहता था। खनिज आदि साधनों का विकास करना राज्य का ही कर्त्तव्य था। बंजर भूमि को उपजाऊ बनाना, वनों का विकास करना, विभिन्न प्रकार के उद्योगों की स्थापना करना आदि राज्य के ही कार्य होते थे। धातु की खानों का पता लगाना तथा उन्हें विकसित करना केवल राज्य द्वारा ही संभव होता था, किन्तु अन्य उद्योग-धन्धों में राज्य का एकाधिकार नहीं था।

राज्य के नागरिक भी औद्योगीकरण में सहायता देते थे। केवल यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक क्षेत्र में न तो राज्य का ही एकाधिकार था, न केवल पूँजीपति। नागरिकों का वर्त्तमान भारतीय अर्थनीति की भाँति प्राचीन भारतवर्ष में भी अधिकांश संयुक्त अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) अपनाई जाती थी। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में राज्य विभिन्न प्रकार के विधि-विधानों द्वारा जनहित के लिए व्यवस्था करता था।

विकास कार्य:—प्राचीन समय में जन्-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का विकास करना राज्य का कर्त्तव्य माना गया था। आवागमन के साधनों की सुविधा देकर व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को व्यापार के विकास में सहायता देना, यात्रियों तथा व्यापारियों के लिए मार्ग की सुरक्षा का प्रबन्ध कर उन्हें पर्यटन के लिए प्रोत्साहित करना तथा व्यापार केन्द्रों को स्थापना द्वारा व्यापार का विकास करना राज्य के मुख्य कार्य थे। सम्राट अशोक के समय में तो राज्य का व्यापार की ओर बहुत ध्यान था। यदि व्यापारियों को मार्ग में किसी भी प्रकार की हानि होती तो यह राज्य द्वारा पूरी की जाती थी। भारत सदैव से कृषिप्रधान देश रहा है, इसलिए कृषि का विकास सिंचाई के साधनों का विकास आदि कार्य राज्यों द्वारा निरन्तर किये जाते थे। स्थान-स्थान पर सिंचाई के लिए कुए, बाँध तथा उनसे नहरें आदि बनाने के लिये राज्य संभवतः प्रत्येक संभव प्रयत्न करता था : कृषकों को भी इन कार्यों के लिये प्रोत्साहन दिया जाता था। वर्त्तमान समय के विकास खण्डा की भाँति उस समय भी जनहित के लिए जनता के सहयोग से महत्वपूर्ण कार्य किये जाते थे और उनमें राज्य का पूर्ण सहयोग होता था। मार्ग एवं सड़कें बनाना, छोटे पुल बनाना, तालाब बनाना आदि कार्य इसी ढंग से पूरे किये जाते थे।

भौतिक जीवन को समृद्ध बनाकर ही राज्य संतुष्ट नहीं होता था। नागरिकों के नैतिक जीवन का विकास भी राज्य से संबंधित रहता था। इसलिए शराब पीना, जुआ खेलना तथा वेश्यावृत्ति आदि व्यवसाय पर राज्य का कठोर नियंत्रण होता था। शिक्षा, साहित्य एवं ज्ञान के साधनों को प्रोत्साहित किया जाता था। देवगृह, यज्ञ तथा अन्य नागरिक जीवन को सुखी बनाने के कार्य में जो सामग्रियाँ आवश्यक होती थीं, वे राज्य की ओर से कर-शुल्क आदि से मुक्त होती थीं। इस प्रकार सांसारिक समृद्धि एवं विकास के साथ नागरिकों के चारित्रिक एवं नैतिक विकास का दायित्व भी राज्य द्वारा सफलतापूर्वक वहन किया जाता था।

उपर्युक्त वर्णन से यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय शासन प्रणाली शुद्ध रूप से लोककल्याणकारी व्यवस्था थी। यह तो सच है कि प्राचीन भारतवर्ष में सदैव ऐसी व्यवस्था नहीं रही और न रह सकना संभव था, परन्तु अधिकांश समय में राज्य के कर्त्तव्य संबंधी सिद्धान्त इसी रूप में रहे और ऐसे विधान पर आचरण करने के लिए राज्य तत्पर बने रहे—यह सच है। उस समय राज्य अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होता था। किन्तु धर्म के ऐसे प्रतिबन्ध कर्त्तव्यनिष्ठा में बंध जाते थे, जिनका संबंध केवल इसी क्षणिक सांसारिक जीवन से न होकर अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक तथा दूसरे लोकों तक सुधारने और बिगाड़ने का प्रश्न संबंधित था। इसलिए वर्त्तमान समय के

वैधानिक शासकों की अपेक्षा प्राचीन समय के शासक अधिक कर्त्तव्यपरायण एवं जागरूक होते थे और जनता की सेवा करना व लोककल्याणकारी दृष्टि से शासन संचालित करना लोक और परलोक को सुधारने का सर्वोत्तम साधन समझते थे। वैसे तो प्राचीन भारत की सभी संस्थाओं की पृष्ठभूमि धर्म पर आधारित है, किंतु दण्ड-नीति उन सबका भी आधार है। इसलिए प्राचीन भारत में राज्य एवं राजा दोनों में कोई भेद नहीं समझा गया था और इसी प्रकार राजा और प्रजा का संबंध पिता-पुत्र की भांति दैहिक, दैविक एवं भौतिक रूप में स्वीकार किया गया था। इसलिए लोककल्याण सम्राट का कल्याण था और लोकहित की उपेक्षा सम्राट के लोक एवं परलोक की उपेक्षा था। इसलिए प्राचीन भारत में लगभग सदैव ही प्रशासन का आधार लोककल्याणकारी वृत्तियाँ बनी रहीं।

प्रश्न

1. Discuss the principles of Imperialism in Ancient India.
2. "Even Imperialistic system in Ancient India was highly efficient and advantageous to all." Explain this statement fully.

बीसवाँ अध्याय

प्राचीन भारत के राजनैतिक सिद्धान्तों का मूल्यांकन

(An Estimate of the Ancient Indian Political Thought)

प्राचीन भारतवर्ष में प्रचलित राजनैतिक सिद्धान्त एवं संस्थाओं का पर्याप्त अध्ययन कर लेने के पश्चात् यह लगभग आवश्यक जान पड़ता है कि भारतवासी होते हुए भी निष्पक्ष दृष्टि से उसका उचित मूल्यांकन किया जाय । उपर्युक्त समस्त वर्णन के आधार पर अब यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सामान्यतः पाश्चात्य विद्वानों की धारणाएँ, जो प्राचीन भारत की राजनैतिक स्थिति एवं संस्थाओं के संबंध में बनी हुई थीं अथवा कुछ लोगों को अब भी हैं पूर्ण रूप से भ्रमात्मक हैं । पहले तो वे लोग राजनीति जैसी चीज भारत में थी—इसे ही नहीं मानते थे; परन्तु प्राचीन राजनीति से संबंधित कुछ शास्त्र आदि के प्रकाश में आने पर वे दूसरी शंकाएँ करने लगे थे । वे भी असत्य सिद्ध हो रही हैं । पाश्चात्य दार्शनिक प्राचीन भारतीय धर्म को अन्धविश्वास तथा राजनीति को शासकों की निरंकुश इच्छा मानते हैं । वे तत्कालीन धर्म और राजनीति में निहित मानवीयता, लोककल्याणकारी सिद्धान्त तथा चेतनता को पहचानने में असमर्थ रहते हैं । इसीलिए समस्त पश्चिमी विद्वान प्राचीन भारत को राजनीतिक ज्ञान से शून्य मानते रहे हैं । दुर्भाग्य यह है कि कुछ भारतीय विद्वानों ने भी इस धारणा को मान लेने का अपराध किया है । वास्तव में एक ओर प्राचीन भारत की सभ्यता को श्रेष्ठ एवं अद्वितीय स्वीकार करना और दूसरी ओर राजनैतिक क्षेत्र में नितान्त अविकसित समझना, अत्यधिक असंगत हो जाता है; क्योंकि किसी भी राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति की उच्चता देश की राजनैतिक प्रगति बिना सम्भव ही नहीं हो सकती । इसलिए समस्त भारतीय एवं अभारतीय विद्वानों की यह विरोधी धारणा स्वयं सिद्ध करती है कि प्राचीन भारत में राजनैतिक प्रगति भी सर्वोच्च सीमा पर पहुँची हुई थी । 'सर्वभूत-हिते रताः' तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के सिद्धान्त यह प्रकट करते हैं कि राजनीति में स्वतन्त्रता, समानता एवं बंधुत्व के सिद्धान्त से लेकर विश्वबन्धुत्व तक के आदर्श निहित थे जो आज भी केवल भारत का नहीं, विश्व का मार्ग-दर्शन करने में समर्थ हो सकते हैं । गांधीजी का सत्य और अहिंसा, पं० नेहरू का पंचशील और सह-अस्तित्व तथा संत विनोबा की शांति-क्रांति और जय-जगत् इसी प्राचीन दृढ़ पृष्ठभूमि पर आधारित है ।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है—भारत का लगभग प्रत्येक सिद्धान्त एवं संस्था धर्म की आधारभूमि पर स्थापित है; परन्तु उस धर्म का स्वरूप क्या था, यह जानना अनिवार्य है

लगता है। वर्तमान समय की भाँति धर्म का तात्पर्य सम्प्रदाय विशेष से नहीं था और न व्यर्थ के आडम्बर अथवा अन्धविश्वास से था। तत्कालीन धर्म अपने विशुद्ध रूप में मानवता, जनहित तथा विश्वकल्याण की वृत्तियों से परिपूर्ण था। व्यक्ति, समुदाय, समाज एवं प्राणि-मात्र के हित के लिए व्यवस्था करना धर्म का मुख्य उद्देश्य था। यही धर्म तत्कालीन राजनीति का आधार था। परन्तु पाश्चात्य देशों में धर्म का अर्थ अधिकांश सम्प्रदाय से लिया गया और इसीलिए वहाँ ऐसे संघर्ष भी बहुत हुए। भारतवर्ष में धर्म के साथ सहिष्णुता का बहुत शक्तिशाली तत्व सदैव विद्यमान रहा है। प्राचीन काल के अतिरिक्त, सत्तरहवीं शताब्दी में भी हम देखें तो स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म ने मानवमात्र की समानता घोषित की और शूद्र तथा ब्राह्मण एक साथ मिलकर आगे बढ़े। मुस्लिम भक्त-कवि रसखान के सवैयों द्वारा हिन्दुओं के भगवान की पूजा आरम्भ हुई और गालिब ने यह कल्पना की कि वह हिन्दू को काबा में दफनाना तथा मुसलमान की काशी में अन्त्येष्टि क्रिया करना चाहता है।[१] परन्तु पाश्चात्य देशों में यह दुर्लभ था। वहाँ सम्प्रदायों के संघर्ष रक्तरंजित रहे हैं। इसीलिए भारतीय धर्म का शुद्ध अर्थ वे नहीं समझ सके। वास्तव में धर्म का सम्प्रदाय के रूप में व्यक्तिगत सम्बन्ध ही होता था। शासक के राज्य सम्बन्धी क्षेत्र में यह धर्म कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। इसीलिए प्राचीन भारत में धर्म-निरपेक्ष राजनीति रही।

प्राचीन भारत के राजनैतिक सिद्धान्तों का समय-निर्धारण करना आवश्यक भी है और समस्या भी, परन्तु वर्तमान समय में कुछ साधनों के उपलब्ध हो जाने के कारण काल-निर्धारण कुछ सुगम अवश्य हो गया है। डा० जायसवाल का मत है कि प्राचीन भारत की राजनीति न्यूनतम तीस शताब्दी पूर्व से चली आ रही है। यह विश्व के किसी भी इतिहास पर आधारित राजनीति के इतिहास से अधिक लम्बा समय है।[२] उदाहरणार्थ, कुछ ऐसी मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जिनको हिन्दू मुद्राशास्त्र के प्रमुख विद्वान् सर कनिंघम ने १००० वर्ष ईसा से पूर्व की होना घोषित किया है। पुराण तथा खारवेल का लेख महाभारत का समय १४२५ वर्ष ईसा से पूर्व सिद्ध करते हैं तथा मेगास्थनीज, जो ३१० वर्ष ईसा से पूर्व आया था; चन्द्रगुप्त मौर्य को प्रथम सम्राट से १५४ वां सम्राट वर्णित करता है।[३] इस प्रकार यह निर्विवाद सत्य है कि प्राचीन भारत पश्चिम से बहुत पहले ही अपनी राजनीति का विकास कर चुका था। उस समय तक जब यूनान में सुकरात तथा प्लेटो का जन्म हुआ, भारत शासन-पद्धतियों के अनेक प्रयोग कर विकसित एवं प्रगतिशील शासन व्यवस्था जमा चुका था और यहां प्रजातंत्र राज्य स्थापित हो गये थे। कुछ विचारकों का यह विश्वास है कि भारतीय राज-नीति का प्रारम्भ ही प्रजातन्त्र राज्यों की स्थापना के साथ हुआ है। प्रारंभिक वैदिक काल से ही स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व के आधार पर समाज की सत्ता शासन चलाती थी और राजा प्रजा का शुभचिंतक-सेवकमात्र था, राजा शब्द का साधारण अर्थ यही होता है। धीरे-धीरे

१ Dr. Jayaswal—Hindu Polity-Page 366.

२ उपरोक्त।

३ उपरोक्त (Foot Note).

धीरे यही आधारभूत तत्व दृढ़ परम्पराओं द्वारा स्थायी बन गये, जिनका विरोध या उल्लंघन असम्भव होता था एवं अपराधी शासक को समाज दण्डित भी कर सकता था। जनता सदैव शक्तिशाली बनी रही। राजा का निर्वाचन, निष्कासन एवं नियंत्रण जनता के हाथ में रहा। अधिनायक तत्व के लिए राजनीति में स्थान नहीं था। दैवी सिद्धान्त एवं सामाजिक समझौते के सिद्धान्त भी प्रचलित हो चुके थे, किन्तु प्रजातंत्रात्मक परम्पराओं के समक्ष, वे सफल न हो सके। फलस्वरूप भारतीय राजनीति लोकतन्त्रात्मक ही बनी रही।

प्रायः शासन शास्त्र की परीक्षा इस बात से होती है कि उसमें अपना अस्तित्व बनाये रखने एवं विकास करने की क्षमता किस मात्रा में है तथा मानव की संस्कृति एवं प्रसन्नता की वृद्धि में कितना योगदान देने की सामर्थ्य है। इस दृष्टि से भारतीय राजनीति-शास्त्र पूर्ण रूप से सफल होता है। तुलनात्मक दृष्टि से संभवतः बेबीलोन की सभ्यता व व्यवस्था और भी अधिक प्राचीन सिद्ध हो; किन्तु दुर्भाग्य से अब वह लुप्त ही हो चुकी है। दूसरी सभ्यता और व्यवस्था चीन की है जो लगभग भारतवर्ष के समान है। भारत का शासन-शास्त्र, जो प्राचीन काल से अब तक अनेक उत्थान-पतन, आरोह-अवरोह देखकर भी जीवित रहा, यह अद्भुत विशेषता रखता है। सिद्धान्त रूप में यह सत्य है कि किसी भी राष्ट्र की राजनीतिक एवं वैधानिक प्रगति कुछ निश्चित परिस्थितियों तथा मानवीय तत्वों द्वारा संयोजित होती है। यही कारण है प्राचीन भारत का राजनीति-शास्त्र विकसित हुआ और समाज की सब प्रकार से उन्नति संभव हो सकी।

व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से भी प्राचीन भारतवर्ष बहुत आगे बढ़ा हुआ था। शासन-तंत्र के अनेक प्रकार अनुभव के आधार पर प्रचलित थे। गणराज्य, नृपतंत्र, एकराज, द्विराज, सार्वभौम, चक्रवर्ती आदि अनेक प्रकार के तंत्र समाज में प्रचलित थे। तत्कालीन गणराज्यों की उन्नति अवस्था, संवैधानिक प्रक्रिया तथा प्रजातांत्रिक व्यवस्था आज के उन्नत युग में भी आश्चर्यान्वित करने में समर्थ है। साथ ही उनमें परस्पर संघर्ष की भावना का विकास तथा भेदनीति द्वारा राष्ट्रों के भीतर वैमनस्य के बीज का वपन करवाया, जाना कूट-नीति के द्वारा उनका नाश करवाना आज भी शीत-युद्ध से पीड़ित विश्व के राष्ट्रों को मार्ग-दर्शन की क्षमता रखता है। यद्यपि राजतन्त्र अत्यन्त लोकप्रिय प्रचलित अवस्था थी तथापि जनता का नियंत्रण पूर्णरूपेण प्रभावशाली बना रहा। संवैधानिक दृष्टि से राजा स्वयं अपनी प्रतिज्ञाओं आदि द्वारा जनता की सेवा के लिए कटिबद्ध रहने की चेष्टा करते थे और यदि फिर भी कुछ लोग निरकुश बनने का प्रयत्न करते थे तो केवल असफलता ही निश्चित परिणाम होता था। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में राज्य की शक्तियाँ ऐसे नियमों द्वारा मर्यादित थीं जिन पर उसका कोई अधिकार नहीं था। वैदिक काल से ही हमें अनेक सभा, समिति, विदथ, सेना, पूग, श्रेणी, गण आदि लोकसभाओं का प्रसंग मिलता है। बाद में पौर, जनपद, ग्रामसभा आदि दृष्टिगत होती हैं। इसका तात्पर्य है कि प्राचीन भारत का राज-नैतिक जीवन निरन्तर प्रजातांत्रिक आधार पर चलता रहा है और उसका यह फल है कि वर्षों तक विदेशी सत्ता के अधीन रहने पर भी भारत निष्प्राण नहीं हुआ; वरन् इस दृढ़ पृष्ठभूमि के बल पर संघर्ष कर पुनः स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उठ खड़ा हुआ।

वर्तमान युग में चरम उन्नति के प्रतीक कहे जाने वाले साधन; जैसे निर्वाचन, मतदान, गणपूरक, मतपत्र, नियम संबंधी प्रक्रिया, भाषण का अधिकार, स्वतंत्रता आदि प्राचीन भारत के गणराज्यों में पूर्ण रूप से विद्यमान थे। अनेक छोटे राज्यों द्वारा समानता के आधार पर संघों की स्थापना भी प्रचलित थी। आज जिसे बीसवीं सदी की विकसित राजनीति का अथवा प्रजातंत्र का युग कहा जाता है, वह युग यही भारतवर्ष सैकड़ों वर्ष पूर्व अनुभव कर चुका है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 'मण्डल सिद्धान्त' आज भी सच है। कूटनीति के शाश्वत सिद्धान्त आज भी महत्वपूर्ण हैं। जिस लोककल्याणकारी राज्य की धारणा वर्त्तमान युग में अत्यन्त लोकप्रिय बनी हुई है, महान् सम्राट अशोक ऐसी व्यवस्था पहले ही स्थापित कर चुका था। इसलिए कुछ-कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजी की कहावत "इतिहास की पुनरावृत्ति होती है" सत्य सिद्ध होने जा रही है। वे ही पुराने अनुभूत योग पुनः प्रयोग में लाये जा रहे हैं। पहले केवल भारत में प्रयुक्त हुए, अब समस्त विश्व में उनका अनुभव किया जा रहा है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता की धारणा प्राचीन राजनीति में किस प्रकार थी, इस संबंध में विचारकों में मतभेद है। जहाँ तक स्वतंत्रता का प्रश्न है, प्राचीन समय में भी मर्यादित स्वतंत्रता का सिद्धान्त ही माना गया था और व्यक्तिगत प्रारंभ (Personal Initiation) को पर्याप्त स्थान प्राप्त था। परंतु व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सीमा के संबंध में मतैक्य नहीं है। श्री गोखले के मतानुसार प्राचीन भारतीय राज्य पूर्ण शक्तिशाली संस्था थे और अपनी जनता के जीवन का पूर्ण नियंत्रण उनके हाथ में होता था। राज्य के विरुद्ध नागरिकों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। परन्तु सम्राट फिर भी धर्मशास्त्र के नियमों द्वारा बंधा हुआ था। उसे कुछ विशेष अधिकार होते थे परंतु ये धर्मशास्त्रों के नियमों का उल्लंघन करने योग्य नहीं बना सकते।[१] दूसरे लेखक का मत है कि व्यक्ति, राज्य का स्वतंत्र अंग समझा जाता था और अपने विकास के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र था। जीवन की रक्षा, सम्पत्ति का उपार्जन, परिवार का अधिकार, तथा बौद्धिकविकास आदि के अधिकार नागरिकों को प्राप्त होते थे। व्यक्ति के ऊपर लगाये गए सामाजिक अथवा बौद्धिक प्रतिबन्धों का वर्णन "पुरुषार्थ" अथवा "चतुर्वर्ग" में किया गया है। इसका तात्पर्य है कि कुछ मर्यादाओं एवं प्रतिबन्धों के साथ व्यक्ति को पर्याप्त स्वतंत्रता थी, जिसके द्वारा वह अपना भाग्यसुधार अथवा मुक्तिप्राप्ति के प्रयत्न कर सकता था।[२] डा० अल्टेकर का मत है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कोई बन्धन नहीं था। प्राचीन भारतवासियों ने राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक बनाया था, किन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं था कि वे व्यक्ति का मूल्य नहीं समझते थे, वरन् इसलिए कि उनके संघर्षात्मक हितों का श्रेष्ठ संतुलन एवं संगठन करने के लिए राज्य को उपयुक्त समझा गया था।[३] सचमुच प्राचीन

१ B. G. Gokhale – Ancient India-Page 100.

२ N. C. Bandyopadhyay—Development of Hindu Polity and Political Theories. Page 403-4.

३ Dr. Altekar—Page 60.

समय में व्यक्तिगत स्वतंत्रता सुरक्षित रही और उसके दो प्रमुख कारण थे—पहला, राज्य स्वायत्त संस्थाओं के साथ सहयोग से कार्य करता था और इन संस्थाओं में नागरिकों की प्रधानता थी। दूसरा, राज्य की शक्तियों के विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था, जिसके द्वारा स्थानीय संस्थाओं को व्यापक एवं विस्तृत अधिकार दिये जाते थे। इसलिए यह सत्य है कि प्राचीन भारत में व्यक्तिगत स्वतंत्रता अक्षुण्ण रूप में व्यवस्थित थी। उस पर किसी प्रकार का अनुचित प्रतिबन्ध या अंकुश नहीं था।

प्रत्येक प्रजातंत्र की सफलता का आधार वहाँ की स्वायत्त संस्थाएं मानी जाती हैं। तदनुसार प्राचीन भारतवर्ष में भी पंचायतें तथा ग्राम सभाएं पूर्ण रूप से प्रभावशाली एवं सफल रही हैं। न्याय संबंधी अधिकार, कर संग्रह के कार्य, विवादों का निर्णय, जनहित के कार्य, चिकित्सालयों की स्थापना, शिक्षालय तथा अनाथाश्रमों की व्यवस्था आदि अनेक कार्य इन स्थानीय संस्थाओं द्वारा किये जाते थे। इस प्रकार वर्त्तमान समय में अपनाये जाने वाले आदर्श प्राचीन भारतवर्ष में साकार रूप में उपस्थित थे।

कर-संग्रह के संबंध में प्राचीन राज्य केवल कोषवर्द्धक इकाई के रूप में ही नहीं थे, वरन् राष्ट्र के निर्माता और जनता के संरक्षक भी थे। न तो वे स्वेच्छा से कर लगा सकते थे और न उनमें वृद्धि कर सकते थे। न स्वेच्छापूर्वक संग्रह कर सकते थे और न स्वेच्छापूर्वक उनका व्यय कर सकते थे। ऐसी स्थिति में केवल धर्मशास्त्रों द्वारा स्वीकृत नियम ही उनके लिए एकमात्र पथप्रदर्शक थे। इसलिए जनता बहुत प्रसन्न तथा कर-भार से दबी हुई नहीं रहती थी। इस दृष्टि से आज का समाज किसी भी रूप में स्वस्थ नहीं दिखाई देता। हर क्षेत्र में अनेक प्रकार के कर एवं शुल्कों का भार इतना अधिक होता जा रहा है कि मानव की कमर ही तोड़ देता है। इस क्षेत्र में प्राचीन भारत का राजनैतिक स्वरूप बहुत सुन्दर, व्यवस्थित एवं आकर्षक रहा है।

अतः यह निष्कर्ष निकलना उचित प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत के राजनैतिक सिद्धान्त और संस्थाएं उन्नति की ऐसी सीमा पर पहुंची हुई थीं, जिन्हें वर्त्तमान समय (बीसवीं शताब्दी) की विश्व की राजनैतिक प्रगति के समक्ष तुलना के हेतु प्रस्तुत की जा सकती है। यद्यपि यह निस्संकोच स्वीकार किया जाना चाहिए कि कुछ क्षेत्रों में उस समय अधिक विकास नहीं हुआ था तथापि यह भी सत्य है कि कुछ क्षेत्र में यह विकास बहुत अधिक हो गया था। इस प्रकार प्राचीन भारत का राजनैतिक दर्शन बहुत गौरवपूर्ण, वैज्ञानिक तथा पर्याप्त रूप से विस्तृत आकार में उपलब्ध है तथा वर्त्तमान भारत को अपने नव-निर्माण के लिए कई क्षेत्रों में पथप्रदर्शन के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। राजस्थान में २ अक्टूबर, सन् १९५९ से अपनाया गया लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण प्राचीन भारत की स्वायत्त संस्थाओं के संगठन के अनुरूप ही है। यदि हमारी सरकार इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी शोधकार्य द्वारा विकास की योजना बना सके तो यह संभव है कि पुनः इस विशाल एवं विस्तृत देश में प्राचीन सफल प्रजातंत्र का और अधिक वैज्ञानिक रूप मुखरित होने में

सहायता मिल सकती है और विश्वशांति के उपासक, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जागरूक एवं तटस्थ राष्ट्र तथा पंचशील के प्रधान योग देने वाले भारत का स्थान और भी अधिक ऊँचा एवं प्रतिष्ठित बनाया जा सकता है।

प्रश्न

1. Is it true to say that Hindu religion and ethics supplied the fundamental prniciples of ancient Indian polity ? Give your own views.
2. "Hindu political ideas are a be-product of the Hindu view of life." Elucidate.
3. How far and in what directions can the ancient Hindu Polity be said to provide a basis for the reconstruction of our Political institutions today ?

प्रथम चार अध्यायों पर
अभ्यास के लिए प्रश्न

1. What are the various sources of the Ancient Hindu Political Thought? Explain fully.

2. Describe the scope and sources of the Hindu Political Thought in ancient times and analyse them.

3. What were the elements of State in ancient times ? Describe the ancient Hindu Conception of State & compare it with the conception of a modern State.

4. What were the various types of states found in ancient India ? Also add possible classifications of them ?

5. What were the different theories about the origin of State in Ancient India ? Describe fully.

6. Describe the Bhishma's theory about the origin of State in ancient India and compare it with the modern theory of Social Contract by Hoffis & Locke.

ग्रन्थ–सूची

हिन्दी एवं संस्कृत (प्राचीन)

१. कौटिल्य––अर्थशास्त्र (Shastri)
२. महाभारत––सभापर्व
––शांतिपर्व
––वनपर्व
३. मनुस्मृति
४. शुक्रनीतिसार
५. जातक ग्रंथ (Cowell)
६. कामन्दकीय नीतिसार
७. वशिष्ठसूत्र
८. गौतमसूत्र
९. बृहस्पतिसूत्र
१०. कल्पसूत्र
११. अछरंग सूत्र
१२. बोधायन
१३. अपस्तम्भ
१४. ऋग्वेद
१५. अथर्ववेद
१६. ऐतरेय ब्राह्मण
१७. शतपथ ब्राह्मण
१८. याज्ञवल्क्य स्मृति
१९. नारदस्मृति
२०. विष्णुपुराण
२१. मत्स्यपुराण
२२. बृहदारण्यकोपनिषद्
२३. कठोपनिषद्
२४. शिवतत्त्वरत्नाकर
२५. रामायण
२६. समराङ्गण सूत्रधार
२७. चुल्लवग्ग
२८. महावग्ग
२९. वीरमित्रोदय
३०. नीतिवाक्यामृत
३१. दिव्यावधान
३२. पाणिनि पर पतञ्जलि का भाष्य
३३. मुद्राराक्षस
३४. राजतरंगिणी (कल्हण)
३५. दशकुमारचरित
३६. सांख्य तत्त्वकौमुदी
३७. मृच्छकटिक

आधुनिक ग्रन्थ-सूची

1. Dr. Jayaswal —Hindu Polity.
2. Mc Crindle —Megasthnes.
3. ,, —Alexander The Great.
4. ,, —Ancient India as described in Classical Literature.
5. ,, —Invasion of India by Alexander the Great.
6. Rockhill --Life of Buddha.
7. Fick —Social Organisation (Trans. by S. K. Maitra).
8. Fleet —Gupta Inscriptions.
9. Conninghum —Coins of Ancient India.
10. Cowell —Jatakas.
11. Fansball —Jatakas.
12. V. A. Smith —Early History of India.
13. Jacobi —Kalpasutra.
14. Rhys Davids —Buddhist India.
15. Cambridge History of India —Vol-I
16. Digha Nikaya —
17. Dr. Altekar —State & Govt. in Ancient India,
18. Dr. Altekar —Village Communities.
19. Ghosal —Hindu Political Theories.
20. Sir Subrahmnya Aiyar or 1914 — Some Aspects of Ancient Indian Polity.
21. D. R. Bhandarker (BHU,1929)—Some Aspects of Ancient Indian Polity.
22. B. R. Sarkar —Political Institutions Theories of Hindus.
23. Yadunandan Kapoor —Dharma Nirpeksha Prachin Bharat Ki Praja. Tantratmak Paramparayen.
24. Strabo —
25. Curtius --Book IX
26. Dr. Beni Prasad —State in Ancient India.
27. ,, ,, —Theory of Govt. in Ancient India.
28. K. M. Panikkar —Theories About the Origin of State in Ancient India.
29. R. C. Majumdar --Corporate life.

30. N. C. Bandyopadhyaya —Development of Hindu Polity & Political Theories.
31. Dr. Dhawan —The Political Philosophy of M. Gandhi.
32. Dr. R. K. Mukherjee —Chandra Gupta Maurya & his Times.
33. ,, ,, ,, --Studies in Ancient Hindu Polity.
34. N. N. Law —Studies in Ancient Hindu Polity.
35. Dr. V. P. Varma --Hindu Political Thought.
36. Hopkins —India Old & New.
37. Banerjee —Public Administration In Ancient India.
38. Dikshitar --Hindu Administrative institutions.
39. Dikshitar --War in Ancient India.
40. B. G. Gokhle --Ancient India.
41. S. K. Vidyalankar --Prachin Bhartiya Shasan Vyavastha aur Rajshastra.
42. S. R. Sharma --Ancient Hindu Political Thought.
43. C. P. Bhambhari —Substance of Hindu Polity.
44. Vishwanath —International Law In Ancient India.
45. Ghosal —Hindu Public Life.

JOURNALS,

1. Epigraphica Indica--Vol. III & VIII
2. A Journal of R. A. S. 1916 (Dr. A. B. Keith)
3. A Journal of the Bengal Asiatic Society Vol. 52 (1883)
4. Some Indian Epigraphic Reports-1900.